ॐ

श्रीमन्महामुनि गौतमप्रणीत

न्यायसूत्र

और

श्रीमन्महामुनि वात्स्यायनप्रणीत

न्याय-भाष्य

का भाषानुवाद

अनुवादक

राजाराम प्रोफैसर

डी० ए० वी० कालेज लाहौर ।

ने
बाम्बे मैशीन प्रैस लाहौर में मैनेजर हरभगवान शर्मा
के प्रबन्ध से छपवाया ।

सम्वत् १९७८ वि० । सन् १९२१ ई०

प्रथमवार १०००] [मूल्य ४)

न्याय भाष्य का सूचीपत्र ।

प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक

द्वितीय अध्याय द्वितीय आह्निक।

तृतीय अध्याय-प्रथम आह्निक ।

तृतीय अध्याय, द्वितीय आह्निक ।

चतुर्थ अध्याय-प्रथम आह्निक

चतुर्थ अध्याय, द्वितीय आह्निक।

पञ्चम अध्याय, प्रथम आह्निक

पञ्चम अध्याय द्वितीय आह्निक

न्याय सूत्रों की अकारादि सूची ।

इति ।

शुद्धि पत्र ।

मुद्रादोष वा दृष्टिदोष से सूत्रों में जो अशुद्धियां हुई हैं, उनके लिए यह शुद्धिपत्र दे दिया है । इस के अनुसार पाठ शोध लेवें ।

२३३से२६८ पृष्ठ तक २२से६९तक सूत्रांक २१ से ६८ तक पढ़ो ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
स्त्वक	स्त्वक्	४२
२८	३८	६९
४	४१	७६
व्यवसाद	व्यवसायाद	१०२
प्रमाणा	प्रमाण	११४
मनस	मनसः	१२८
पतेः	पत्तेः	१५०
प्रत्यक्षण	प्रत्यक्षेण	१५४
विशेप	विशेषः	१५५
६०	६७	१६६
संभावा	संभवा	१७०
संभावा	संभवा	१७२
भावाद्प्रति	भावाद्यप्रति	१७२
पत्यभि	पत्यभि	१७३
ध्या	ध्या	१८९
सिद्धिः	सिद्धेः	१९१
३३	३४	१९२
श्च	श्चा	२०५
विकाणाम	विकाराणाम	२०६
श्च प्रतिषेधः	श्चा प्रतिषेधः	२०७
पत्युप	पत्युप	२०७
भावत्	भावात्	२३४
त्पतिः	त्पत्तिः	२३५
कृष्णासारे	कृष्णसारे	२४०
रभिव्यक्ति	रनभिव्याक्ति	२४६
घात्	घातात्	२४८
कृतिपञ्च	कृतिजातिपञ्च	२५८
रम	रस	२६०
अप्तेतेजो	अप्तेजो	२६०
समव	समवे	२८४
विशेषण	विशेषण	२८८
द्वेषयाः	द्वेषयोः	२९३
व्ययधान	व्यवधान	३०१
चक्ररीस्य	चक्रीरस्य	३११
तरगुणवै	तर वै	३१२
पृब्धेः	पलब्धेः	३१४
मतापित्रोः	मातापित्रोः	३१७
बहिरन्तश्च	अन्तर्बहिश्च	३८२
२२	२१	३८३
२३	२२	३८३
भावाना	भावानां	३८६
ध्यावसाय	व्यवसाय	३९८
न चा	च ना	४०७
सिद्ध	सिद्धे	४१०
भाव भाव	भावाभाव	४१८

इति ।

न्यायदर्शन भूमिका ।

न्यायदर्शन के सूत्रकार मुनिवर अक्षपाद हैं, जिनका प्रसिद्ध नाम गौतममुनि है। और भाष्यकार मुनिवर पक्षिलस्वामी हैं, जिनका प्रसिद्ध नाम वात्स्यायन मुनि है। भाष्य पर उच्च कोटि का वार्तिक श्री उद्द्योतकराचार्य विरचित है, जो न्याय वार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। वार्तिक पर वैसी ही उच्च कोटि की एक टीका श्रीवाचस्पतिमिश्र कृत है,जो न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका पर भी वैसी ही उच्च कोटि की टीका श्री उदयनाचार्य प्रणीत हैं, जो न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि नाम से प्रसिद्ध है।

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि न्याय के गुर और उनका प्रयोग बतलाने के लिए यदि सूत्र और भाष्य पर्याप्त थे, तो फिर भाष्य पर वार्तिक, वार्तिक पर टीका, और टीका पर फिर और टीका की क्या आवश्यकता थी, और यदि अपर्याप्त थे,तो फिर इनको अपने लेख का आधार बनाने की आवश्यकता न थी ? इस का उत्तर यह है, कि ये उपर्युपरि टीकाएं भाष्य की त्रुटियों को दूर करने के लिए नहीं रची गईं, किन्तु इन के रचे जाने का कारण एक ऐतिहासिक घटना है। वह यह है, कि भारत में जब बौद्ध धर्म बड़े जोरों पर था, उस समय बौद्ध उत्साही विद्वान् न केवल धार्मिक विषयों में, किन्तु विद्यासम्बन्धी हर एक विषय में ब्राह्मणों को नीचा दिखलाना चाहते थे। अतएव वे हर एक विषय में ब्राह्मणों की कृतियों पर आक्षेप करते थे, इधर ब्राह्मण उनके आक्षेपों का प्रतिक्षेप करते थे, और विद्या के क्षेत्र में उनसे आगे ही रहना चाहते थे*। इस प्रतिस्पर्धा के समय में बौद्धों के धुरन्धर विद्वान् दिङ्नाग आदि ने वात्स्यायन भाष्य का खण्डन लिखा†।

---

* स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतो दङ् मुखःखं दिङ्नागानां पथि परि हरन् स्थूलहस्तावलेपान् [मेघदूत १९]

कालिदास के इस श्लोक की व्याख्या में मल्लिनाथ ने ध्वनि से जो अर्थ निकाला है, उसका आशय यह है. कि बौद्ध दिङ्नाग ने कालिदास के प्रबन्धों में दूषण दिखलाए थे, और निचुल कवि ने (जो कालिदास का सहाध्यायी था) उनका परिहार किया था।

† न्याय भाष्य के खण्डन में दिङ्नाग ने जो ग्रन्थ लिखा है, उसका नाम प्रमाण समुच्चय कहा जाता है।

तब भाष्य का उद्धार करने के लिए उद्द्योतकराचार्य ने न्यायवार्तिक लिखा, जिसमें बौद्धों के दोषों का परिहार करके भाष्य को निर्दोष सिद्ध कर दिखलाया। उद्द्योतकराचार्य के पीछे बौद्धों ने न्याय वार्तिक पर दूषण लगाए, तब वाचस्पतिमिश्र ने वार्तिक पर 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' लिख कर उन दूषणों का परिहार करके न्यायवार्तिक को निर्दोष सिद्ध किया और यह देख कर कि निर्दोष भाष्य और वार्तिक पर, केवल स्पर्धा के कारण वादियों ने दोष आरोप किये हैं, अन्त में, यह अभ्यर्थना आवश्यक समझी—

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः कायो मया प्रहरताऽत्र यथाभिलाषम्। अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षैर्माऽऽविली कुरुत कीर्तिनदी परेषाम्।

हे क्रूरो! तुम्हारे आगे मैंने यह हाथ बांधे हैं, यह शरीर मैंने बलि दिया, इस पर यथेष्ट प्रहार करो, किन्तु यह अभ्यर्थना है, कि व्यर्थ दोष रूपी धूल बरसा २ कर दूसरों की कीर्ति रूपी नदी को मत मत मैला करो॥

पर बौद्ध भी पीछे नहीं हटे, तीसरी बार तात्पर्य का भी खण्डन लिख डाला। तब उदयनाचार्य ने तात्पर्य पर न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि लिख कर वाचस्पति की कीर्तिनदी को परिशुद्ध कर दिखलाया। यहां पहुंच कर संग्राम समाप्त हुआ। और इस से सूत्र तथा भाष्य बहुत अच्छी तरह मंझ गए॥

ऐसे प्रतिष्ठित सूत्र भाष्य से सर्व साधारण लाभ उठा सकें इस लिए यह भाषानुवाद लिखा जाता है। और सब प्रकार के आवश्यक विचार ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखे जाएंगें।

अनुवाद का ढंग यह रक्खा है मूल सूत्र संस्कृत में लिख दिये हैं, और उनका भावार्थ भी कर दिया है। भाष्य का केवल भाषा अनुवाद ही लिखा है। भाष्य में जो ग्रहणक वाक्य हैं, उनको अन्योक्ति चिन्ह के अन्दर दे दिया है। किसी क्लिष्ट विषय को समझाने के लिए अपनी ओर से जो कुछ लिखा है, वह टिप्पणी में दे दिया है। यदि अत्यल्प शब्दों से आशय खुलता प्रतीत हुआ है, तो वे शब्द साथ ही कोष्ठक में दे दिये हैं। इति शम्॥

राजाराम

न्याय भाष्य ।

प्रकरण १, विषय अभिधेय सम्बन्ध और प्रयोजन । सूत्र १-२

"प्रमाण से अर्थ की प्रतीति होने पर प्रवृत्ति की सफलता होती है, इस लिए प्रमाण बड़े प्रयोजन वाला है"* ॥

प्रमाण के बिना अर्थ की (यथार्थ) प्रतीति नहीं होती अर्थ की प्रतीति के बिना प्रवृत्ति की सफलता नहीं होती प्रमाण से ही यह ज्ञाता अर्थ को प्रतीत करके उस अर्थ को पाना वा त्यागना चाहता है। पाने वा त्यागने की इच्छा से प्रेरे हुए उस (ज्ञाता) की जो (उस वस्तु को पाने वा त्यागने की) चेष्टा है, वह प्रवृत्ति कहलाती है। और सफलता इस की यह है, जो कि फल के साथ सम्बन्ध है। अर्थात् चेष्टा करता हुआ, उस अर्थ को पाना वा त्यागना चाहता हुआ, उस अर्थ को पा लेता वा त्याग देता है। और अर्थ (जिसके पाने वा त्यागने की इच्छा होती है वह) या तो सुख, या सुख का हेतु, या दुःख या दुःख का हेतु होता है। यह पूर्व कहा (चार प्रकार का) प्रमाण का अर्थ गिनती से परे है (अमुक अर्थ तो सुख का हेतु है, और अमुक दुःख का हेतु है, ऐसी गिनती हो नहीं सकती है) क्योंकि प्राणधारियों के भेद अनगिनत हैं †। सो प्रमाण जब

---

*यह अभिप्राय है-प्रमाण से भी वस्तु की प्रतीति होती है, प्रमाणाभास से भी। पर प्रमाण से प्रतीति सच्ची होती है और प्रमाणाभास से झूठी, अतएव प्रमाण से हुई प्रतीति के अनन्तर जो प्रवृत्ति होती है, वही सफल होती है, दूसरी फलहीन रहती है, इस लिए प्रमाण बड़े प्रयोजन वाला है, अतएव उद्देश सूत्र में सब से पहले रक्खा है।

† सुख वा दुःख का हेतु होना वस्तु का स्वाभाविक धर्म नहीं। यदि स्वाभाविक होता, तब तो कोई वस्तु सब के लिए सुख जनक और कोई सब के लिए दुःखजनक होती। पर ऐसा

कि प्रयोजन वाला हुआ, तो प्रमाता प्रमेय और प्रमा यह भी प्रयोजन वाले ठहरते हैं, क्योंकि इनमें से किसी एक के भी न रहने से विषय की सिद्धि नहीं होती ! इन में से प्रमाता वह है जिस की (उस ज्ञात) वस्तु को पाने वा त्यागने की इच्छा से प्रवृत्ति होती है ॥

वह (प्रमाता) जिस (साधन) से अर्थ का सच्चा अनुभव करता है, वह प्रमाण है। (उस से) अर्थ. जो अनुभव होता है, वह प्रमेय है, और जो उस अर्थ का यथार्थ अनुभव है, वह प्रमा (वा प्रमिति) है। इन चार भेदों (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा) में अर्थ का तत्व समाप्ति पर पहुंच जाता है* (अर्थ की यथार्थता पूरी ज्ञात हो जाती है)

प्रश्न–अच्छा तो तत्व क्या है ? उत्तर–"सत् का सत् होना असत् का असत् होना" †।

'सत्' सत् (है) करके जाना हुआ, अर्थात् ज्यों का त्यों, न उलटा (जाना हुआ) तत्त्व होता है, और 'असत्' असत् (नहीं

नहीं होता, आक के पत्ते जो बकरी के लिए सुखजनक हैं हमारे लिए दुःख जनक हैं, बबूल के हरे कांटे ऊंट के लिए सुख का हेतु, हमारे लिए दुःख का हेतु हैं। एक के लिए भी नियम नहीं, जो धूप हेमन्त में सुखदायी है, वही ग्रीष्म में दुःखदायी, केसर का लेप हेमन्त में और चन्दन का ग्रीष्म में सुखदायी और इससे उलट हो तो दुःखदायी ॥

*अर्थात् उस अर्थ में हानबुद्धि वा उपादानबुद्धि वा उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, यही तत्व की परि समाप्ति है (उद्द्योतकराचार्य्य)।

† तस्य भावः तत्वम, उसका होना, 'उस' से अभिप्रेत हर एक पदार्थ है, चाहे सद्रूप हो, वा असद्रूप हो। जो है, उसका होना, जो नहीं है, उसका न होना तत्त्व है। तत्त्व के जानने का नाम तत्त्व ज्ञान है। विपरीत जानने का नाम मिथ्या ज्ञान ॥

करके जाना हुआ अर्थात् ज्यों का त्यों न उलटा (जाना हुआ) तत्त्व होता है ॥

प्रश्न—कैसे परले (अर्थात् असत्) की प्रमाण से प्रतीति होती है ?

उत्तर—"(प्रमाण से) सत् के प्रतीत होते हुए उस (असत्) की प्रतीति न होने से, जैसे प्रदीप से"।

जैसे दीप जो कि दिखलाने वाला है उस से जब दर्शन के योग्य वस्तु जानी जाती है, तब उस की नाईं जो नहीं जानी जाती, वह (वहां) नहीं है। क्योंकि यदि होती, तो इस (दृश्यमान) की नाईं प्रतीत हो जाती, प्रतीत न होने से नहीं है (यह सब जानते हैं)। इसी प्रकार प्रमाण से सत् (भाव पदार्थ) के ज्ञात होते हुए जो वस्तु विज्ञात नहीं होती, वह नहीं है, यदि होती, तो इस की नाईं विज्ञात हो जाती, विज्ञात न होने से नहीं है (यह निश्चित होता है)। सो इस प्रकार सत् (भाव पदार्थों) का प्रकाशक प्रमाण असत् (अभाव) को भी प्रकाशित कर देता है । अब जो सत् है, वह सोलह प्रकार का शृंखलाबद्ध करके उपदेश करेंगे । सूत्रावतरणिका—ये जो सत् के भेद हैं। इन—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन दृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन (पदार्थों) के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (परम कल्याण=मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

भाष्य-निर्देश* में जो वचन है, उस के अनुसार (प्रमाण

---

* नाम मात्र से पदार्थ का कथन उद्देश कहलाता है, जैसे इस सूत्र में प्रमाण आदि १६ पदार्थों का उद्देश है। उद्दिष्ट के भेद दिख-

निग्रह स्थानानां का) विग्रह करना 'च' के अर्थ में द्वन्द्व समास है* 'प्रमाण...निग्रह स्थानानां तत्त्वं' यह शेष (सम्बन्ध) में षष्ठी है,† 'तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयसस्याधिगमः' ये दोनों षष्ठियें कर्म में हैं‡।

ये इतने (=१६) सत् पदार्थ हैं। इन सब के अविपरीत (न उलटे=यथार्थ) ज्ञान के लिए यहां इनका उपदेश है। सो यह पूर्ण रूप में शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय उद्दिष्ट हो चुका जानना चाहिये। (इन में से) आत्मादि जो प्रमेय है (९ में) उस के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह बात इस से अगले सूत्र (२)

लाना निर्देश कहलाता है, जैसे सूत्र ३ में प्रमाणों का और सूत्र ९ में प्रमेयों का निर्देश है। निर्देश का प्रसिद्ध नाम विभाग है (विशेष देखो सूत्र ३ का अवतरण भाष्य)

*चार्थेद्वन्द्वः (अष्टा० २।२।२९) से इतरेतर योगद्वन्द्व है। द्वन्द्व में सारे पदार्थ प्रधान होते हैं, इस से प्रमाण आदि सारे ही पदार्थों का तत्त्वज्ञान मोक्ष का हेतु है, यह अभिप्रेत है। आत्मादि १२ प्रमेयों का तत्वज्ञान तो साक्षात् मोक्ष का हेतु है। और प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान प्रमेयों के तत्त्वज्ञान का साधक है, इस लिए परम्परा से मोक्ष का हेतु है।

'प्रमाण...निग्रहस्थानानां' इस सूत्र का विग्रह करने में विभक्ति तो सब में द्वन्द्व होने से प्रथमा ही होगी। पर वचन निर्देश सूत्रों के अनुसार देना चाहिये। जैसे प्रमाण के निर्देश (३) में 'प्रमाणानि' बहु वचन दिया है, और प्रमय के निर्देश (९) में 'प्रमेयं' एक वचन दिया है। वही वचन इन के विग्रह में देना। इस प्रकार विग्रह ऐसा होगा। 'प्रमाणानि च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनं च दृष्टान्तश्च सिद्धान्तश्च अवयवाश्च तर्कश्च निर्णयश्च वादश्च जल्पश्च वितण्डा च हेत्वाभासाश्च छलं च जातयश्च निग्रहस्थानानि च तानि, तथा, तेषाम्। बहु वचन वा एक वचन देने का प्रयोजन जो निर्देश में है, वही यहां उद्देश में जानना

† षष्ठी शेषे (अ० २।३।५०) ‡ कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५)

द्वारा अनुवाद की गई है*। अर्थात् (१) हेय (२) हेय हेतु (३) अत्यन्त हान (४) हान का उपाय, जो प्राप्त किया जा सके†, ये चार जो शास्त्रप्रतिपाद्य विषय हैं, इन को यथार्थ जान कर मोक्ष को पा लेता है।

प्रश्न—इन (प्रमाण आदि) में संशय आदि का (प्रमाण प्रमेय से) अलग कथन निष्प्रयोजन है, जब कि संशय आदि यथा सम्भव प्रमाणों और प्रमेयों के अन्तर्भूत हुए अलग (पदार्थ] नहीं रहते‡।

---

* इस सूत्र में जो तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति कही है, उस का 'जिस प्रकार आत्मादि के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है' यह अगले सूत्र में अनुवाद है।

† हेय, हेय हेतु, हान, हानोपाय, ये चार हरएक अध्यात्म शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय हैं। हेय=त्याग के योग्य दुःख है, जो कि प्रतिकूल लगता है। हेयहेतु अर्थात् दुःख का हेतु मिथ्या ज्ञान है, हान=त्याग, अर्थात् दुःख का त्याग, यह लक्ष्य है। पर यहां ऐसा हान अभिप्रेत नहीं, जो थोड़ी देर के लिए हो, जैसा कि संसारी जीवों को भी कभी दुःख और कभी दुःख का हान होता रहता है। किन्तु ऐसा हान अभिप्रेत है, जिस से पीछे फिर दुःख हो ही नहीं, इस लिए हान आत्यन्तिक=सदा का कहा है। हान का उपाय तत्त्वज्ञान है। मनुष्य का काम उपाय का अनुष्ठान है, फल आप ही उत्पन्न हो जाता है। पर उपाय ऐसा चाहिये, जो मनुष्य की पहुंच के अन्दर हो, इस लिए कहा है-उपाय, जो प्राप्त किया जा सके।

‡ प्रमेय का तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है, और प्रमेय का तत्त्वज्ञान प्रमाण के तत्त्वज्ञान के अधीन है, इस लिए प्रमाण और प्रमेय का अलग कथन तो सप्रयोजन है। पर संशय आदि का अलग कहना निष्प्रयोजन है, क्योंकि वे प्रमाण वा पमेय के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

उत्तर—यह सत्य है। पर ये चार विद्याएं अलग २ प्रस्थानों वाली प्राणधारियों की भलाई के लिए उपदेश की गई हैं,* जिन में से चौथी जो आन्वीक्षिकी है, वह यह न्यायविद्या है। इस के अलग प्रस्थान संशय आदि पदार्थ हैं। सो इन के अलग कथन के बिना यह अध्यात्मविद्या मात्र हो जाय, जैसा कि उपनिषदें हैं। इस कारण संशय आदि पदार्थों द्वारा यह (न्यायविद्या, अध्यात्म विद्या से) अलग चलाई जाती है†।

(इस प्रकार सांझा उत्तर देकर अब एक २ करके संशय आदि का न्याय में उपयोग दिखलाते हैं)। वहां (दूसरे को समझाने के लिए) न्याय (अनुमान का प्रयोग) न तो अज्ञात अर्थ में होता है, और न निर्णीत अर्थ में होता है, किन्तु संदिग्ध अर्थ में होता है। जैसा कि कहा है-' संशय उठा कर पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण निर्णय (कहलाता) है (१ । १ । ४१) (इस सूत्र में विमृश्य का अर्थ है विमर्श उठाकर) विमर्श=संशय। पक्ष प्रतिपक्ष का होना न्याय की प्रवृत्ति है (=दोनों वादी अपने पक्ष

---

* चार विद्याएं-त्रयी, वार्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी। इन में से धर्म और आत्मादि के स्वरूप का उपदेश त्रयी का विषय है। खेती व्यापार आदि जीविका के उपदेश वार्ता का, राज्यशासन दण्डनीति का, और प्रमाणों से परीक्षण आन्वीक्षिकी का विषय है।

† अर्थात् त्रयी का काम आत्मा के स्वरूप आदि का वर्णन है। आन्वीक्षिकी का काम उन पर होने वाले संशय और आक्षेप मिटाना है। सो युक्तियुक्त विचार में अपना सिद्धान्त वादी के मन में बिठा दे, और स्वयं किसी के धोखे में न आए, इस बात की शिक्षा देना आन्वीक्षिकी का काम है। और यह बात संशय प्रयोजन दृष्टान्त आदि के तत्त्वज्ञान के बिना नहीं हो सकती, इस लिए संशय आदि इस का अलग प्रस्थान (प्रतिपाद्य विषय) हैं।

के साधन और प्रतिपक्ष के खण्डन के लिए अनुमान का प्रयोग करते हैं)। अर्थ का अवधारण निर्णय है, वही (उस अर्थ का) तत्त्वज्ञान है (यह सूत्रार्थ हुआ)। अब यह जो, 'यह क्या है ?' इस प्रकार वस्तु का विचारमात्र अनिश्चितज्ञान रूप संशय है, यह ज्ञान विशेष होने से (बुद्धि रूप) प्रमेय के अन्तर्गत होता हुआ इस प्रयोजन के लिए* अलग कहा है।

प्रयोजन-अब प्रयोजन (कहते हैं) जिस से प्रेरा हुआ प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है, अर्थात् जिस अर्थ को पाना वा त्यागना चाहता हुआ कर्म का आरम्भ करता है, (वह प्रयोजन है)। इस पूर्वोक्त प्रयोजन से सारे प्राणी सारे कर्म और सारी विद्याएं व्याप्त हैं (सब की प्रवृत्ति किसी प्रयोजन से ही होती है)। प्रयोजन के सहारे ही न्याय की प्रवृत्ति होती है।

प्रश्न-अच्छा तो यह न्याय क्या है ?

उत्तर-प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण न्याय है†। अर्थात् प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान (न्याय) है। वही अन्वीक्षा है। प्रत्यक्ष और आगम से देखे हुए का फिर (अनुमान द्वारा) सिद्ध करना

---

* न्याय की प्रवृत्ति के लिए। क्योंकि असंदिग्ध अर्थ में न्याय की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। हाथी जब साक्षात् सामने खड़ा हो, तो बुद्धिमान् पुरुष चिंघाड़ से उस का अनुमान नहीं करते (वाचस्पति)

† न्याय अनुमान का नाम है। अनुमान में परीक्षा करके अर्थ की सिद्धि की जाती है। परीक्षा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है, जैसे अग्नि की सिद्धि में, जब यह प्रतिज्ञा की, कि पर्वत में अग्नि है, तो यह शब्द प्रमाण हुआ, जब रसोई का उदाहरण दिया, तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ, जब 'जैसे रसोई धूम वाली है, वैसे यह पर्वत धूम वाला है,' ऐसा उपनय कहा, तो यह उपमान हुआ। सो प्रत्यक्ष उपमान और शब्द इन सब प्रमाणों से परीक्षा करके अग्नि की सिद्धि की गई। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के व्यापार से अर्थ का निश्चय करना न्याय है।

अन्वीक्षा है। अन्वीक्षा से जो प्रवृत्त होती है, वह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्र है। और जो अनुमान प्रत्यक्ष वा आगम के विरुद्ध हो, वह न्यायाभास* है।

उस में† वाद और जल्प सप्रयोजन हैं। वितण्डा की परीक्षा की जाती है‡ (कि सप्रयोजन है, वा निष्प्रयोजन)§ वितण्डा से

---

* प्रत्यक्ष विरुद्ध अनुमान, जैसे-अग्नि उष्ण नहीं, । क्योंकि उत्पत्ति वाली है। जो २ वस्तु उत्पत्ति वाली है वह २ उष्ण नहीं जैसे घड़ा । वैसी ही यह अग्नि है । इस लिए यह उष्ण नहीं। यह न्यायाभास है, क्योंकि प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, स्पर्श से अग्नि उष्ण प्रत्यक्षसिद्ध है। आगम विरुद्ध, जैसे कापालिकों का अनुमान । मनुष्य की खोपड़ी शुद्ध है, क्योंकि हड्डी है, जो २ हड्डी होती है, वह २ शुद्ध होती है, जैसे शंख। खोपड़ी भी हड्डी है, इस लिए यह शुद्ध है। यह इस लिए न्यायाभास है, कि 'यह शुद्ध है, और वह अशुद्ध है,' इस बात का निश्चय ही जब मन्वादि आगम से हुआ, तब उस के विरुद्ध अनुमान खड़ा नहीं हो सकता।

† उस में=न्याय में, दूसरे से वाद विवाद करने में जो न्याय का प्रयोग किया जाता है, उस न्याय में, चाहे वह शुद्ध न्याय हो, वा न्यायाभास हो।

‡ प्रयोजन को न्याय की प्रवृत्ति का आश्रय बतलाया है। इस पर यह आशंका उत्पन्न होती है, कि विवाद तो वितण्डा से भी प्रवृत्त होता है, और वितण्डा होता निष्प्रयोजन ही है, क्योंकि उस से वैतण्डिक किसी सिद्धान्त की सिद्धि का प्रयोजन नहीं रखता। क्योंकि वह कोई अपना सिद्धान्त स्थापन ही नहीं करता। इस आशंका के उत्तर में वितण्डा की परीक्षा आरम्भ करते हैं।

§ परीक्षा करते हुए भाष्यकार वह मार्ग बतलाते हैं, जिस से वैतण्डिक से बातचीत निष्प्रयोजन न रहे, और यदि वह उन्मत्त की तरह किसी भी कुल पर न आए, तो उन्मत्त की नाईं ही उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये।

प्रवृत्त पुरुष वैतण्डिक कहलाता है। उस से (दूसरे के पक्षखण्डन का) प्रयोजन पूछो, यदि वह स्वीकार करे, (कि इस से मैं यह सिद्ध किया चाहता हूं,) तब वह उस का पक्ष है, वह उस का सिद्धान्त है, इस प्रकार वह वैतण्डिकपन को त्याग देता है। और यदि नहीं स्वीकार करता है, तब न यह लौकिक न परीक्षक ठहरता है (अतएव उन्मत्त की तरह उपेक्षा कर देने के योग्य है) और* यदि परपक्ष का प्रतिषेध जितलाना ही अपना प्रयोजन बतलाता है,तो यह भी वैसी ही बात है। जितलाने वाला, जानने वाला, ज्ञान का साधन और ज्ञेय इस (चतुर्वर्ग) को यदि स्वीकार करता है, तब वैतण्डिकपन को त्याग देता है, यदि नहीं स्वीकार करता है, तो 'पर पक्ष का प्रतिषेध जितलाना मेरा प्रयोजन है' यह उस का कथन अनर्थक ठहरता है। †वाक्य समुदाय (जो पक्ष की)

---

* अब वह वैतण्डिक दल, जो यह मानता था, कि प्रमेय पदार्थ परीक्षा में न सत, न असत्, न सदसत् सिद्ध हो सकते हैं। अतएव वे अपने ऊपर किसी भी पक्ष की सिद्धि का भार न लेकर परपक्ष का खण्डन ही अपना प्रयोजन बतलाते हैं, उन से भी यह स्वीकार करवाओ, कि तुम जो यह बतलाते हो, कि सब वस्तुएं असिद्ध हैं, यह बात तुम कह ही नहीं सकते, जब तक इन चार को सिद्ध न मानो, एक तो अपने आप को, क्योंकि 'स्वयमसिद्धः कथमन्यान् साधयेत्' जो आप ही असिद्ध है, वह दूसरे की क्या सिद्धि करेगा। दूसरा जिस को तुम जितलाना चाहते हो, क्योंकि यदि वह भी असिद्ध है, तो फिर बतलाते किस को हो। तीसरा, वह प्रमाण, जिस से सब पदार्थों को असिद्ध सिद्ध करते हो, चौथा वह साध्य, जो सिद्ध करते हो। यह चारों सिद्ध माने, तब वह बात करने के योग्य ठहरता है, पर इस का पक्ष खण्डित हो जाता है, न माने तो उन्मत्त वत् उपेक्षणीय है।

† अब यह सीधा उपाय बतलाते हैं, कि पक्ष स्थापना से हीन वाक्य समुदाय वितण्डा है। उस वाक्य समुदाय का जो तात्पर्य है, वह उस से मनवालो, यदि मान ले, तो वही उस का पक्ष ठहर गया, उस की सिद्धि का भार उस पर डालो, न माने, तो उन्मत्त वत् उपेक्षणीय है।

स्थापना से हीन हो, वह वितण्डा कहलाता है । उस (वाक्य समुदाय) के प्रतिपाद्य अर्थ को यदि वह स्वीकार कर लेता है, तब वही उस का पक्ष स्थापन करना चाहिये, और यदि नहीं स्वीकार करता है, तब वह (वाक्य समुदाय) प्रलाप मात्र (निरा बकवास) निष्प्रयोजन है, वितण्डापन निवृत्त हो जाता है (अर्थात् तब उस को त्याग ही देना चाहिये) ।

दृष्टान्त-अब दृष्टान्त (कहते हैं) । प्रत्यक्ष का विषय पदार्थ दृष्टान्त होता है,* अर्थात् जिस में लौकिक और परीक्षकों का अनुभव रुक नहीं जाता । वह प्रमेय है (दृष्टान्त प्रमेय ही होता है, क्योंकि प्रमाण से निश्चित ही दृष्टान्त दिया जाता है) उस का अलग कथन (इस लिए है, कि) उस के सहारे पर हैं अनुमान और आगम । दृष्टान्त के होते हुए अनुमान और आगम होते हैं, न होते हुए नहीं होते । दृष्टान्त के आश्रय पर न्याय (पक्ष प्रतिपक्ष) की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् दृष्टान्त के विरोध से पर पक्ष का प्रतिषेध कहा जा सकता है और दृष्टान्त के मेल से स्वपक्ष सिद्ध किया जा सकता है । नास्तिक भी दृष्टान्त को स्वीकार करता हुआ नास्ति-

---

* दृष्ट का अर्थ है देखा हुआ । सो दृष्टान्त पद की व्याख्या हुई प्रत्यक्ष का विषय पदार्थ । प्रायः दृष्टान्त होता भी ऐसा ही है । पर यह नियम नहीं, अनुमानगम्य और आगमगम्य पदार्थ भी दृष्टान्त रूप से कहे जाते हैं । सूत्र कार भी २ । १।६८ में आगमगम्य मन्त्रायुर्वेद के प्रामाण्य को, और ३।२।७६ में अनुमान गम्य अणुश्यामता को, दृष्टान्त रूप से कहेंगे । इस लिए अभिप्राय यह है, कि दृष्टान्त ऐसा होना चाहिये, जिस में वादी प्रतिवादी का मतभेद न हो । चाहे फिर प्रत्यक्ष दृष्ट हो, वा अनुमानगम्य हो वा आगमगम्य हो । इस अभिप्राय को लेकर कहा है, जिस में लौकिक परीक्षकों का अनुभव परस्पर विरुद्ध नहीं अर्थात् विचार में जो भाग ले रहे हैं, चाहे निरे लौकिक, चाहे निरे परीक्षक, चाहे मिले जुले लौकिक, परीक्षक इन का मतभेद नहीं ।

कत्व को त्यागता है, और यदि स्वीकार नहीं करता, तो किस साधन को लेकर दूसरे का खण्डन कर सकेगा। सो खोल कर बतलाए गए दृष्टान्त के सहारे पर कहा जा सकता है कि 'साध्य के सदृश होने से साध्य के धर्मों वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है। और उस के उलट होने से प्रत्युदाहरण होता है (१।१।३६--३७)।

सिद्धान्त—'है यह' इस प्रकार स्वीकार किया अर्थ सिद्धान्त है। वह प्रमेय है। उस का अलग कथन (इस लिए है, कि आपसमें) सिद्धान्त भेदों के होते हुए ही वाद जल्प वितण्डा प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। अवयव–साध्य अर्थ की जितने शब्द समुदाय में सिद्धि समाप्त होती है (=जितने शब्दों के कहने से वस्तुतत्त्व का निश्चय होता है) उस के पांच अवयव हैं–प्रतिज्ञा आदि। (वाक्य-) समूह की अपेक्षा करके अवयव कहे जाते हैं*। उन में से, प्रमाणों को मिलाने वाला आगम प्रतिज्ञा है † अनुमान का साधन हेतु है। प्रत्यक्ष उदाहरण है ‡ उपमान उपनय है। सब का एक अर्थ के मेल में सामर्थ्य दिखलाना निगमन है। सो यह परम न्याय § है। इस से वाद जल्प वितण्डा प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इन के आश्रय है तत्त्व की व्यवस्था (तत्त्व का पता लगाना पांच अवयवों वाले वाक्य के अधीन है) सो ये अवयव शब्द विशेष होने से (अर्थरूप) प्रमेय के अन्तर्भूत हुए उक्त प्रयोजन के लिए अलग कहे हैं।

---

* अवयव द्रव्य के होते हैं, और न्यायवाक्य शब्द होने से गुण हैं, तथापि अवयव समुदाय का एक देश होता है, इस लिए वाक्य के एकदेश होने से प्रतिज्ञा आदि भी अवयव कहे जाते हैं।

† आगम प्रतिपाद्य अर्थ ही हेतु से सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा में रक्खा जाता है, इसलिए 'आगम प्रतिज्ञा है' कहा। उसी प्रतिज्ञात अर्थ को हेतु (अनुमान) और दृष्टान्त (प्रत्यक्ष) द्वारा सिद्ध करते हैं, इसलिए आगम प्रमाणों को मिलाने वाला कहा।

‡ प्रत्यक्ष उपलक्षण है, अर्थात् दृष्ट अनुभूत।

§ प्रतिवादी को जितलाने का पूरा साधन है।

तर्क-तर्क न (कहे) प्रमाणोंके अन्दर है, न उन से अलग प्रमाण है, किन्तु प्रमाणों का सहायक हुआ तत्त्वज्ञान के लिए समर्थ होता है* । उस का उदाहरण (जैसे) । क्या यह जो जन्म है, यह किसी ऐसे कारण से हुआ है, जो उत्पत्ति वाला है, वा (ऐसे कारण से (हुआ है) जो उत्पत्ति वाला नहीं है । इस प्रकार एक अज्ञात विषय में कारण की संभावना से फुरना फुरता है, कि जन्म यदि किसी ऐसे कारण होता है, जो उत्पत्ति वाला है, तब तो उस कारण के उखाड़ने से जन्म का अभाव (होकर मोक्ष) हो सकता है । पर यदि वह (जन्म का कारण) उत्पत्ति वाला नहीं, तब (वह नित्य हुआ, ऐसे) कारण का उखाड़ना अशक्य होने से जन्म का उच्छेद असंभव है । और यदि अकस्मात् (बिना कारण) ही (जन्म) हुआ है, तब जो अकस्मात् होगया है, वह कभी निवृत्त ही नहीं होगा, क्योंकि उसकी निवृत्ति का कारण कोई नहीं बन सकता, तब भी जन्मका उच्छेद नहीं बनेगा, इस तर्क विषय में (अर्थात् जब तर्क ने यह सिद्ध कर दिया, जन्म का कोई कारण अवश्य हो, और हो भी उत्पत्ति वाला, तभी जन्माभाव रूप मोक्ष संभव है, अन्य था नहीं, तब) 'कर्म जन्म का निमित्त है' इस बात की सिद्धि के लिए प्रवृत्त हुए प्रमाणों को तर्क सहायता देता है । तत्त्वज्ञान का जो विषय है, उस को (मिथ्याज्ञान के विषय से) अलग करदेता है, इस लिए तर्क तत्त्वज्ञान के उत्पन्न करने में समर्थ होता है । सो यह ऐसा (प्रमाणों का सहायक) तर्क वाद में प्रमाणों के साथ मिल कर किसी अर्थ के साधन वा खण्डन के लिए कहा है, यद्यपि प्रमेय के अन्तर्भूत है (तर्क बुद्धिविशेष होने से प्रमेय है)

निर्णय-निर्णय तत्त्वज्ञान है, जो कि प्रमाणों का फल है इस के साथ वाद का अन्त होता है (तत्त्व का निर्णय हो जाने पर

---

* प्रमाण सचाई का फैसला कर देता है, तर्क उसी का संभव होना बतलाता है, इसी लिए प्रमाण से अलग है ।

वाद मिट जाता है)। इस की रक्षा के लिए होते हैं, जल्प और वितण्डा (देखो ४।२।५०)। तर्क और निर्णय ये दोनों लोक व्यवहार को चलाते हैं (सब कोई अपने २ व्यवहार में इन्हीं की सहायता से किसी को त्यागता और किसी को ग्रहण करता है)।

वाद-वाद ऐसा वाक्य समूह है, जिस में वादी नाना (दो वा अधिक) हों, हरएक साध्य के लिए साधन हो, और अन्त में दोनों (वा बहुतों) में से एक साध्य का निर्णय हो। (यह वाक्य समूह होने से शब्द प्रमेय के अन्तर्गत हुआ) जल्प वितण्डा से अलग करके) पहचानने के लिए अलग बतलाया है। अलग पहचाने हुए से जब व्यवहार होता है, तो वह तत्त्वज्ञान के लिए होता है। वादविशेष जो जल्प और वितण्डा हैं* वे दोनों तत्त्व का जो निश्चय है, उस की रक्षा के लिए होते हैं (४।२।५०) यह कहा है।

हेत्वाभास छल जाति और निग्रह स्थान—हेत्वाभासों का निग्रह स्थानों से अलग इस लिए उद्देश किया है, कि वाद में हेत्वाभासों (के बोलने) की अनुज्ञा होगी† । और जल्प तथा वितण्डा में निग्रह स्थानों (के बतलाने) की (अनुज्ञा होगी)। छल, जाति और निग्रहस्थानों का (शब्द प्रमेय के अन्तर्भूत होते हुए भी) अलग उपदेश पहचानने के लिए है। पहचाने गए छल जाति निग्रह स्थानों का अपने वाक्य में त्याग, और दूसरे के वाक्य में पर्यनुयोग (ऐसा क्यों किया यह प्रश्न) हो सकेगा। जब दूसरा जाति का

---

* ऐसा वाद, जिस में छल जाति निग्रह स्थान का प्रयोग हो, वह जल्प है, और जो प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन हो, वह वितण्डा है।

† वाद तत्त्व की जिज्ञासा से प्रवृत्त होता है, इस लिए उस में छल जाति निग्रह स्थानों का प्रयोग नहीं होता, पर हेतु बुद्धि से (न कि धोखा देने की नियत से) हेत्वाभासों का प्रयोग होता है। क्योंकि दोनों में एक का हेतु असद्धेतु होता है, तभी वाद चलता है।

प्रयोग करेगा, तो अपने लिए उस का समाधान सुलभ होगा, और स्वयं उस का प्रयोग करना आसान होगा* ।

ऐसी यह आन्वीक्षिकी विद्या प्रमाण आदि पदार्थों द्वारा विभक्त हुई—"(चारों) विद्याओं का उद्देश बतलाने में (अन्य) सारी विद्याओं का प्रदीप, सारे कर्मों का उपाय और सारे धर्मों का आश्रय कही गई है†,

ऐसा यह तत्त्वज्ञान परम कल्याण की प्राप्ति के लिए (चारों विद्याओं में) उस २ विद्या के अनुकूल जानना चाहिए‡ । यहां (आन्वीक्षिकी में) तो अध्यात्मविद्या प्रकरण में जो) आत्मा आदि का तत्त्वज्ञान (कहा है, वह तत्त्वज्ञान अभिमत) है, परम कल्याण की प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति अभिप्रेत है ।

(प्रश्न) अवतरणिका-अच्छा तो वह निःश्रेयस क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर ही हो जाता है ? 'नहीं' यह उत्तर है (प्रश्न) तो फिर क्या होता है (उत्तर) तत्त्वज्ञान से—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा भावादपवर्गः ॥ २ ॥

---

*दूसरे से प्रयोग की हुइ जाति के पकड़ने पर जब प्राश्निक पूछे कि कैसे जाति है, और कौन सी जाति है, तब जाति का जानने वाला कह सकता है, कि इस प्रकार जाति है और अमुक जाति है, इस प्रकार कहना आसान होगा (उद्द्योतकराचार्य) ।

† न्याय से परीक्षित प्रमाणों के आश्रय ही हरएक विद्या अपने २ प्रमेय विषय का निर्धारण कराती है, इस लिए न्याय सब विद्याओं का प्रदीप है । कर्म करने में न्याय यथार्थ उपाय का निर्धारण कराता है, और धर्म के निर्णय में भी न्याय ही मिथ्याभिनिवेश से बचाता है । मिलाओ कौटिलीय अर्थशास्त्र १ प्रकण अध्याय २

‡ जैसे वार्ता में तत्त्वज्ञान से खेती व्यापार आदि का तत्त्वज्ञान और परम कल्याण से उत्तम उपज और लाभ अभिमत है ।

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान, इन में से परले के नाश होने पर उस २ से पूर्वले का अभाव होने से (अन्त में दुःखाभाव से) मोक्ष होता है*।

भाष्य—यहां आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त जो प्रमेय है (९सू०) उस के विषय में मिथ्या ज्ञान कई प्रकार का होता है। जैसे पहले आत्मा के विषय में 'नहीं है' ऐसी बुद्धि।† तथा अनात्मा (शरीर आदि) में आत्म बुद्धि, दुःख में सुख बुद्धि, अनित्य में नित्य बुद्धि, न बचाने वाले में बचाने वाला है यह बुद्धि, सभय में निर्भय बुद्धि, घृणित में अभिमत बुद्धि, और हेय में अहेय बुद्धि। प्रवृत्ति (धर्म अधर्म) के विषय में (मिथ्या ज्ञान इस प्रकार होता है कि) कर्म (=धर्म अधर्म) कोई नहीं, न कोई कर्म का फल है। दोषों (रागद्वेष) के विषय में (मिथ्या ज्ञान इस प्रकार होता है। इस संसार (जन्म मरण के प्रवाह) का निमित्त दोष (रागद्वेष) नहीं। प्रेत्यभाव के विषय में (मिथ्या ज्ञान यह होता है, कि) कोई जीव, वा जन्तु वा सत्त्व वा आत्मा नहीं है, जो मरे और मर कर फिर होवे। जन्म बिना निमित्त के हुआ है, और जन्म का उपरम (बंद होना) बिना निमित्त होगा। यह प्रेत्यभाव (मर कर फिर जन्म लेना) आदि वाला है (इस का आरम्भ अवश्य किसी समय हुआ है) पर अन्त नहीं होगा। प्रेत्यभाव का कोई निमित्त भी है, तो वह निमित्त कर्म नहीं। प्रेत्यभाव बिना आत्मा के, निरा देह इन्द्रिय बुद्धि और वेदना का

---

* यहां परले २ के नाश होने पर पूर्वले का अभाव कहने से पर पूर्व में कार्य कारण भाव बोधन किया है। आत्मा के मिथ्या ज्ञान से (अलग आत्मा को न जानने और शरीर को आत्मा मानने से) शरीर के अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूलों में द्वेष उत्पन्न होता है। रागद्वेष दोष हैं। रागद्वेष से प्रवृत्त हुआ पुरुष धर्म अधर्म का संचय करता है। यही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का फल जन्म है। जन्म का फल दुःख है।

† आत्म भिन्न प्रमेयों के विषय में मिथ्या ज्ञान दिखलाते हैं।

सिलसिला कुछ देर टिका रह कर फिर उच्छिन्न हो जाने से होता है। अपवर्ग के विषय में (मिथ्याज्ञान यह होता है) यह तो एक डरावना दृश्य है, जो सारे कार्यों का बन्द हो जाना, यह जो सब का वियोग रूप अपवर्ग है, इस में बहुतसा भद्र लुप्त हो जाता है, इस लिए कैसे कोई बुद्धिमान् सब सुखों के उच्छेद रूप, चैतन्य-शून्य उस अपवर्ग को पसन्द करे (यह है संसार में बांधने वाला मिथ्याज्ञान) इस मिथ्याज्ञान से अनुकूलों में राग और प्रतिकूलों में द्वेष उत्पन्न होता है। रागद्वेष के प्रभाव से असूया, ईर्ष्या, माया, लोभ आदि दोष उत्पन्न होते हैं। दोषों से प्रेरा हुआ, शरीर से प्रवृत्त हुआ हिंसा, चोरी और प्रतिषिद्ध मैथुन का (शरीर से) आचरण करता है, वाणी से, झूठ, कठोर, चुगली और असम्बद्ध (वचन बोलता है)। मन से, परद्रोह, दूसरे के धन की लालसा, और नास्तिकपन (चिन्तन करता है) यह पाप रूप प्रवृत्ति अधर्म के लिए होती है। अब शुभ (प्रवृत्ति कहते हैं) शरीर से दान, (आर्त-) परित्राण और (पूज्यों की) सेवा। वाणी से सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय। मन से दया, अस्पृहा और श्रद्धा। यह (पुण्यमयी प्रवृत्ति) धर्म के लिए होती है। यहां (सूत्रस्थ) प्रवृत्ति शब्द से प्रवृत्ति जिन का साधन है, वे धर्म अधर्म कहे हैं, जैसे अन्न जिन का साधन है, ऐसे प्राण 'अन्न प्राणी का प्राण हैं' (कहे हैं) यह पूर्वोक्त प्रवृत्ति निन्दित और प्रशस्त जन्म का कारण है। और जन्म है शरीर इन्द्रिय और बुद्धि का संघात सहित प्रादुर्भाव। उस के होते हुए दुःख होता है, और वह (दुःख) प्रतिकूलवेदनीय है, अर्थात् बाधना वा पीडा वा ताप। सो ये मिथ्याज्ञान से लेकर दुःख पर्यन्त धर्म (जन्म जन्मान्तर में) लगातार चलते हुए संसार कहलाता है। पर जब तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान दूर होता है, तब मिथ्या ज्ञान के दूर होने पर दोष (रागद्वेष) दूर हो जाते हैं, दोषों के दूर होने पर प्रवृत्ति (धर्म अधर्म) दूर हो जाते हैं (जब रागद्वेष नहीं रहते, तब अगली प्रवृत्ति से आत्मा पर धर्म अधर्म रूपी संस्कार नहीं पड़ते) प्रवृत्ति के दूर होने पर

जन्म मिट जाता है, जन्म के मिट जाने पर दुःख मिट जाता है, दुःख के मिट जाने पर सदा के लिए मोक्ष=पूरा कल्याण, होजाता है।

तत्त्वज्ञान मिथ्या ज्ञान के उलट बतलाया गया है। आत्मा के विषय में (तत्त्वज्ञान यह है) 'वह है' ऐसी बुद्धि, अनात्मा के विषय में अनात्मा है ऐसी बुद्धि। इसी प्रकार दुःख नित्य, बचाने वाले, सभय, निन्दित और त्यागने योग्य के विषय में विषय के अनुसार (जानना चाहिये अर्थात् दुःख में दुःख बुद्धि आदि तत्त्व ज्ञान है,) प्रवृत्ति के विषय में (तत्त्वज्ञान यह है, कि) है कर्म, और है कर्म का फल। दोषों के विषय में-दोषों के कारण से है यह संसार। पुनर्जन्म के विषय में--है (शरीर भिन्न) जीव, सत्त्व, आत्मा, जो मर कर फिर हो। निमित्त वाला है जन्म, और निमित्तवान् है जन्म का उपरम। यह प्रेत्यभाव अनादि से चला आरहा है, और अपवर्ग तक बना रहेगा। यह प्रेत्यभाव नैमित्तिक है, इस का निमित्त प्रवृत्ति है। सात्मक हो कर यह प्रेत्यभाव देह इन्द्रिय बुद्धि और (सुख दुःख की) वेदना का सिलसिला है, जो उस के टूटने और बनने से चलता रहता है (आत्मा का शरीर आदि से मेल और वियोग से जन्म मरण होता रहता है)। अपवर्ग के विषय में (तत्त्वज्ञान यह है) शान्त है यह सब बखेड़ों से अलग होना सब का उपरम रूप अपवर्ग। इस में बहुत कष्ट दायक घोर पाप (बुराई) लुप्त हो जाता है, इस लिए कैसे कोई बुद्धिमान् सारे दुःखों के उखाड़ने वाले, किसी भी दुःख को अनुभव न होने देने वाले, अपवर्ग को पसन्द न करे। सो जैसे मधुविष से मिला अन्न अग्राह्य होता है, इसी प्रकार दुःख से मिला हुआ सुख अग्राह्य है।

प्रकरण २-विषय प्रमाण लक्षण। सूत्र ३-८ (६ सूत्र)

अवतरणिका-इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है, उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उन में से, नाम लेकर पदार्थमात्र का जो कथन है, वह उद्देश है। उद्दिष्ट के स्वरूप का व्यवच्छेदक धर्म (दूसरों से अलग करने वाला धर्म) लक्षण होता है (जैसे आगे ४ में प्रत्यक्ष का लक्षण है) लक्षित का उक्त लक्षण घट सकता है,

वा नहीं, यह प्रमाणों से निर्णय करना परीक्षा है। इन में से (कहीं) तो पहले उद्देश कहा, फिर (उद्दिष्ट का) विभाग किया (फिर) विभक्त का लक्षण कहा है। जैसे प्रमाणों का और प्रमेय का। (और कहीं पहले उद्देश कहा, फिर) उद्दिष्ट का (लक्षण किया, फिर) लक्षित का विभाग कहा है। जैसे छल का 'अर्थ का विकल्प बन सकने से वचन का विघात छल है। (२।१०) वह तीन प्रकार का है (११)। अब (प्रथम सूत्र में) उद्दिष्ट (प्रमाण का) विभाग कहते हैं—

प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि ।३।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—इन्द्रिय २ की जो अपने २ विषय में वृत्ति है, वह प्रत्यक्ष (प्रमाण) है। वृत्ति (से अभिप्राय यहां) (इन्द्रिय और विषय का) सन्निकर्ष वा (विषय का) ज्ञान है। जब सन्निकर्ष (प्रमाण) है तब (विषय का) ज्ञान प्रमा है। जब (विषय का) ज्ञान (प्रमाण) है, तब हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि (प्रमाण का) फल है* (अर्थात् प्रमा है)।

अनुमान—पहले जो लिङ्ग ज्ञान लिया गया है, उस लिङ्ग द्वारा पीछे जो साध्य के ज्ञान का साधन है, वह अनुमान है।

उपमान—समीपता का ज्ञान है (जैसा कि) जैसे गौ है, वैसे गवय होता है, (ऐसा ज्ञान)। समीपता (से अभिप्राय) सादृश्य सम्बन्ध है अर्थात् दोनों का एक जैसा होना)।

शब्द—जिस से अर्थ कहा जाता है, अर्थात् (दूसरे को) जितलाया जाता है।

प्रमाण वे हैं, जो प्रमा (यथार्थ अनुभव) के साधन हों। यह

---

* जब अर्थ ज्ञात हो जाता है, तो तीन प्रकार की बुद्धि होती है, कि यह वस्तु हेय (त्याग के योग्य) है, अथवा उपादेय (ग्रहण के योग्य) है, अथवा उपेक्षणीय (उपेक्षा के योग्य) है।

बात (प्रमाण इस) यौगिक शब्द के निर्वचन के बल से जाननी चाहिये। 'प्रमीयतेऽनेन'=ठीक जाना जाता है इस से, इस प्रकार करणार्थ वाची है प्रमाण शब्द। उस के (प्रत्यक्ष आदि) विशेष नामों का भी वैसा ही व्याख्यान है (प्रत्यक्ष आदि शब्द भी करण के ही बोधक हैं*)।

प्रश्न—अच्छा तो क्या ये प्रमाण साथी हो कर प्रमेय को साधते हैं वा अलग २ साधते हैं।

उत्तर—दोनों प्रकार से देखा जाता है। (जैसे) 'है आत्मा' यह आप्तोपदेश से प्रतीत होता है। उस में यह अनुमान होता है, कि 'इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा का लिङ्ग हैं' (१।१।१०) और जब योग में प्रवृत्त हुए को योग समाधिजन्य प्रत्यक्ष होता है, तब आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा

---

* करणाधिकरणयोश्च (अष्टा ३।३।११७) करके करण में ल्युट् होने से निर्वचन होगा 'प्रमीयतेऽनेन' यथार्थ अनुभव होता है जिस से। जिस से यथार्थ अनुभव होता है, वह तो हुआ प्रमाण, और उस का फल जो प्रमा है, वह है यथार्थानुभव। पर यह स्मरण रखना चाहिये, कि जो एक दृष्टि से प्रमा है, वह दूसरी दृष्टि से प्रमाण भी कहा जाता है। जैसे नेत्र से वस्तु देखी, यहां नेत्र वा नेत्र और वस्तु का सन्निकर्ष प्रमाण है, और वस्तु का दर्शन प्रमा है। पीछे जो उस वस्तु को उठा लेने की बुद्धि हुई, उस में वस्तु का ज्ञान प्रमाण और उपादान बुद्धि प्रमा है। इसी प्रकार पर्वत में धूम (लिङ्ग) के दर्शन से जो अग्नि का ज्ञान हुआ, वहां धूम दर्शन अनुमान प्रमाण और अग्नि ज्ञान प्रमा है। आगे जो अग्नि में उपादान बुद्धि हुई, उस में अग्नि ज्ञान प्रमाण और उपादान बुद्धि प्रमा है। यह आशय है सूत्रकार और भाष्यकार का। पर नवीनों ने अनुभव को केवल प्रमा ही माना है, प्रमाण नहीं। उन के मत से इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, और लिङ्ग परामर्श ही अनुमान प्रमाण है।

प्रत्यक्ष होता है। (इस प्रकार यहां शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों प्रमाणों ने एक ही विषय को सिद्ध किया)। ऐसे ही अग्नि आप्तोपदेश से प्रतीत होती है, कि यहां अग्नि है। फिर निकट जाते हुए पुरुष को धूम के देखने से अनुमित होती है, और पास पहुंच गए को प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है (यहां भी शब्द अनुमान और प्रत्यक्ष ने मिल कर एक विषय को सिद्ध किया)।

और व्यवस्था यह है कि 'स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र करे'। (इस आप्तोपदिष्ट) स्वर्ग में लौकिक पुरुष के लिए न कोई लिङ्गदर्शन है, न प्रत्यक्ष है (स्वर्ग की सिद्धि केवल शब्द प्रमाणगम्य है)। मेघ का शब्द सुनने पर (घर के अन्दर बैठे हुए को) शब्द के हेतु से (मेघ का) अनुमान होता है। वहां न आगम है, (न किसी ने बताया है) न प्रत्यक्ष है। हाथ जब प्रत्यक्ष से उपलब्ध हो रहा है, तब न अनुमान है, न आगम है (इस प्रकार प्रमेय सिद्धि के लिए एक २ प्रमाण की व्यवस्था भी है)।

सो यह जो (चार प्रकार की) प्रमा है, इस में प्रत्यक्ष सब से उत्कृष्ट है। (जैसा कि लोक में देखा जाता है कि) जिज्ञासित अर्थ को आप्त के उपदेश से जानता हुआ भी पुरुष लिङ्ग दर्शन द्वारा भी जानना चाहता है, लिङ्ग दर्शन से अनुमित हुए को फिर प्रत्यक्ष से देखना चाहता है। जब वह अर्थ प्रत्यक्ष उपलब्ध हो जाता है, तब जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। उदाहरण यहां पूर्वोक्त अग्नि जानो। प्रमेय अर्थ में प्रमाता के प्रमाणों का इकट्ठा होना अभिसंप्लव, और न इकट्ठा होना व्यवस्था कहलाती है।

(यह तीनों सूत्र सारे शास्त्र का सार भूत त्रिसूत्री कहलाती है)
अब विभक्तों का लक्षण कहते हैं—

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान, जो अशाब्द है, अव्यभिचारी है, और निश्चयात्मक है, वह प्रत्यक्ष है।

भाष्य—इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। (प्रश्न) क्या उस समय यह नहीं होता, कि पहले आत्मा मन से जुड़ता है, फिर मन इन्द्रिय से और (तब) इन्द्रिय अर्थ से? (यदि होता है, तो फिर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध की नाईं आत्मा और मन, तथा मन और इन्द्रिय का सम्बन्ध भी कहना चाहिये) (उत्तर) यह कारणों का अवधारण नहीं है कि प्रत्यक्ष में इतने कारण हैं, किन्तु विशिष्ट कारण (असाधारण कारण) का कथन है, अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का जो विशिष्ट कारण है, वह कहा है। और जो अनुमान आदि ज्ञान का सांझा (कारण) है वह उस से हटाया नहीं है*॥

(प्रश्न) तब मन का इन्द्रिय के साथ संयोग तो कहना चाहिये (क्यों कि यह तो प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में ही कारण होता है)

(उत्तर) प्रत्यक्ष ज्ञान (जब अपने अवान्तर भेदों से) भिद्यमान होता है, तब यह (मन इन्द्रिय संयोग) उसका कोई (अवान्तर) भेद नहीं ठहरता है, इस लिए समान होने के कारण नहीं कहा है†।

---

* लक्षण में असाधारण धर्म ही कहा जाता है, साधारण नहीं। इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होना तो प्रत्यक्ष का असाधारण धर्म है, क्योंकि स्मृति अनुमान आदि ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होते। पर आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होना प्रत्यक्ष का असाधारण धर्म नहीं, क्योंकि स्मृति और अनुमान आदि ज्ञान भी आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं। सो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं' का यह अभिप्राय नहीं, कि—"आत्म मनः संयोग कारण नहीं है, किन्तु यह अभिप्राय है, कि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से प्रत्यक्ष ही उत्पन्न होता है।

† प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद ये हैं—चाक्षुष प्रत्यक्ष=नेत्र इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष। श्रावण प्रत्यक्ष=श्रोत्र इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष=रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, घ्राणज प्रत्यक्ष=घ्राण इन्द्रिय

(प्रश्न) जितने अर्थ हैं, उतने ही नाम हैं, उन से अर्थ की प्रतीति होती है(=प्रतीति काल में हर एक अर्थ अपने नाम से प्रतीत होता है, यह गौ है, यह अश्व है इत्यादि)। अर्थ की पतीति से व्यवहार होता है। वहां यह जो इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान है, वह 'यह रूप है, वा, यह रस है,' इस प्रकार का होता है। अब ये रूप रस शब्द विषय के नाम हैं, उस (नाम) से ज्ञान को नाम दिया जाता है। कि 'रूप है' ऐसे जानता है, 'रस है' ऐसे जानता है। नामधेय से नाम दिया हुआ शब्द (ज्ञान) प्रसक्त होता है (अर्थात् इन्द्रियार्थ सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दानुविद्ध होने से शाब्द ठहरता है)।

उत्तर—इस कारण से कहा है 'अव्यपदेश्यम्'=नाम न दिया हुआ। (बच्चे को आरम्भ में) जो यह, शब्दार्थ सम्बन्ध के उपयोग में लाए विना अर्थ का ज्ञान होता है। वह (जो पहले बिना नाम के हुआ है) ज्ञान, शब्द से नाम दिया जाता है। 'शब्दार्थ सम्बन्ध के गृहीत होने पर भी' अर्थात् इस अर्थ का यह शब्द नाम है,इस प्रकार जब वह अर्थ ग्रहण किया जाता है, तब, वह अर्थ ज्ञान (शब्दार्थ सम्बन्ध ग्रहण से) पहले हुए (अर्थ ज्ञान) से कोई भेद नहीं रखता है, वह अर्थज्ञान वैसा ही होता है। किन्तु उस अर्थज्ञान का और कोई (अर्थ का जो नाम है, उस के बिना और कोई) समाख्या शब्द नहीं है, जिस (नाम) से (दूसरे को) प्रतीत होता हुआ वह व्यवहार के लिए समर्थ हो। और (दूसरे को) प्रतीत न होते हुए से व्यवहार नहीं हो सकता, इस लिए इति शब्द से युक्त संज्ञा शब्द (=अर्थ के संज्ञाशब्द के आगे इति लगा कर) बतलाया

जन्य प्रत्यक्ष, त्वाच प्रत्यक्ष=त्वगिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के ये भेद अलग २ इन्द्रियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पर मन इन्द्रिय संयोग के नाम पर प्रत्यक्ष का कोई भेद नहीं है। मन इन्द्रिय संयोग तो सब प्रत्यक्षों में सांझा है, कोई स्वतन्त्र प्रत्यक्ष नहीं, इस लिए नहीं कहा है।

जाता है, कि 'रूपमितिज्ञानं, रस इति ज्ञानम' 'रूप' ऐसा ज्ञान, 'रस' ऐसा ज्ञान। सो इस प्रकार, वस्तु को जानते समय तो वह (=रूप रस आदि) संज्ञाशब्द काम नहीं आता, किन्तु व्यवहार-काल में (=दूसरे को बतलाते समय) काम आता है। इस लिये इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जो अर्थ ज्ञान है, वह शाब्द नहीं है (शुद्ध प्रत्यक्ष है)।

प्रश्न—ग्रीष्म में किरणें (कल्लर वा रेत में) भूमि की भाप से मिल कर हिलती हुई जब किसी दूर खड़े पुरुष के नेत्र से सम्बद्ध होती हैं, तब वहां इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से यह ज्ञान उत्पन्न होता है, कि 'यह जल है' (है तो भ्रम, पर 'इन्द्रि......ज्ञानं' इस लक्षण से) वह भी प्रत्यक्ष ठहरता है?

उत्तर—इस से कहा है 'अव्यभिचारि' (अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रमाण वही है, जो व्यभिचारि न हो) 'जो न उस में वह ज्ञान है' (न चांदी=सीप, में चांदी ज्ञान है। न पीले=श्वेत, शंख में पीला ज्ञान है) वह व्यभिचारि है, और 'जो उस में वह है (सीप में सीप और श्वेत में श्वेत ज्ञान है) वह अव्यभिचारि प्रत्यक्ष है (किरणों में जल ज्ञान व्यभिचारि है, इस लिए प्रमाण नहीं)।

प्रश्न—जब दूर से पुरुष नेत्र से किसी पदार्थ को देखता हुआ निश्चय नहीं करता है, कि यह धूम है वा धूल है, तब वह इन्द्रि-यार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ अनिश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष ठहरता है?

उत्तर—इस से कहा है 'व्यवसात्मकं'=निश्चयात्मक (धूम है वा धूल है, यह संशयात्मक है, निश्चयात्मक नहीं, इस लिए प्रमाण नहीं)। और ऐसा नहीं मानना चाहिये, कि संशयरूप ज्ञान केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है (क्यों नहीं ऐसा मानना चाहिये) क्योंकि नेत्र से अर्थ को देखता हुआ

यह (द्रष्टा) (विशेषरूप से उस का) निश्चय नहीं करता है (कि यह अमुक अर्थ है) । जैसे इन्द्रिय से उपलब्ध अर्थ को मन से उपलब्ध करता है, इसी प्रकार इन्द्रिय से (उस अर्थ को) न निश्चित करता हुआ मन से निश्चित नहीं करता है । अब यह जो इन्द्रिय से निश्चय न होने के कारण मन से अनिश्चय है, वह विशेष-(दर्शन) की अपेक्षा वाला विचारमात्र संशय है, न कि पूर्वोक्त (=आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान)। प्रत्यक्ष के विषय में सर्वत्र ज्ञाता को पहले इन्द्रिय से व्यवसाय (ज्ञान) होता है, पीछे मन से अनुव्यवसाय होता है। अतएव जिन का कोई इन्द्रिय मारा गया है, उन को उस विषय का अनुव्यवसाय नहीं होता। *

प्रश्न—आत्मा आदि और सुख आदि के विषय में प्रत्यक्ष का लक्षण कहना चाहिये, क्योंकि (आत्मा और सुख आदि का प्रत्यक्ष) इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता (मन और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है) † ?

---

* ज्ञान पहले विषय का होता है, जैसे 'अयंघटः=यह घड़ा है'। पीछे उस ज्ञान का ज्ञान होता है, जैसे 'घटमहं जानामि' मैं घड़े को जानता हूं। इन में पहला ज्ञान व्यवसाय, दूसरा अनुव्यवसाय कहलाता है।

† आशय यह है—प्रत्यक्ष का यह लक्षण अव्यापक है। क्योंकि अपने सुख दुःख आदि का सब को प्रत्यक्ष अनुभव होता है। और 'मैं सुखी हूं' इस प्रकार मैं (=आत्मा) का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। पर इन का प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता। मन से होता है। और मन को सूत्रकार ने इन्द्रियों में (सू० १२) नहीं गिना। और प्रत्यक्ष का लक्षण किया है 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न'। इस लिए मानस प्रत्यक्ष के लिए अलग लक्षण कहना चाहिये॥

उत्तर—मन निःसन्देह इन्द्रिय ही है, उस का (बाह्य) इन्द्रियों से अलग उपदेश (९ और १२ में) धर्मभेद से है (वह यह कि) इन्द्रिय भौतिक हैं (देखो १२) और अपने २ नियत विषय वाले हैं (अर्थात् नेत्र रूप को ही ग्रहण करता है, शब्द को नहीं श्रोत्र शब्द को ही ग्रहण करता है, रूप को नहीं । देखो १४) और इन का इन्द्रियत्व सगुणों का है (अर्थात् रूप का ग्राहक इन्द्रिय नेत्र तैजस होने से स्वयं भी रूपगुण वाला है, और श्रोत्र स्वयं भी शब्दगुण वाला है,) पर मन जो है, यह भौतिक नहीं, और सब विषयों वाला है (=रूप का भी ग्राहक है, शब्द का भी, क्योंकि मन के दूसरी ओर लगा होने से न नेत्र देखता है, न श्रोत्र सुनता है) और न ही इस को इन्द्रियत्व सगुण को है (मन जिन सुख दुःख आदि का ग्राहक है, उन में से कोई भी गुण इस में नहीं रहता) । (इस में प्रमाण-) इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर इस की (मन की) सन्निधि और असन्निधि को एक साथ (अनेक) ज्ञानों के न उत्पन्न होने का कारण बतलाएंगे (१६ में) । सो मन के इन्द्रिय होने के कारण (आत्म सुख आदि के प्रत्यक्ष के लिए) लक्षणान्तर करने की आवश्यकता नहीं है । दूसरे शास्त्रों के व्यवहार से भी, यह (मन का इन्द्रिय होना) निश्चित जानना चाहिये । क्योंकि परमत, जो (अपने शास्त्र में) अप्रतिषिद्ध है, वह अनुमत होता है, यह शास्त्रों की युक्ति है । खोल कर बतला दिया है प्रत्यक्ष—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च ॥ ५ ॥

इस के अनन्तर * प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान तीन प्रकार का होता है-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

भाष्य—'प्रत्यक्षपूर्वक' इस कथन से एक तो (सपक्ष में) लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध का दर्शन, और (पक्ष में) लिङ्ग का दर्शन कहा गया है। दूसरा (सपक्ष में) लिङ्ग लिङ्गी जो (व्याप्ति) सम्बन्ध सहित देखे थे, उनके उस दर्शन से हुई (अनुमान से पूर्वकाल में) जो लिङ्ग की स्मृति है, वह कही गई है। इस स्मृति और लिङ्ग दर्शन से अप्रत्यक्ष पदार्थ अनुमान से जाना जाता है †।

---

* प्रत्यक्ष अनुमान का हेतु है। इस लिए पहले पहल हर एक प्राणी को प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। प्रत्यक्ष के संस्कार पड़ २ कर पीछे अनुमान से भी पदार्थों को जानने लगता है।

† इस का आशय समझने के लिए उदाहरण को सामने रक्खो। धूम देख कर अग्नि का अनुमान होता है। धूम अग्नि का लिङ्ग-चिन्ह है। अग्नि लिङ्गी=चिन्ह वाला है। पर्वत में धूम देख कर पुरुष अग्नि का अनुमान करता है। सो पर्वत पक्ष है। यह अनुमान इस लिए हुआ है, कि पहले हम धूम और अग्नि का नियत सम्बन्ध देख चुके हुए हैं। वह सम्बन्ध हमने जहां देखा है, वे सब इस पक्ष के सपक्ष हैं, जैसे रसोई। अनुमान की उत्पत्ति इस प्रकार होती है। कि पहले पुरुष रसोई आदि में धूम और अग्नि को बार २ नियम से इकट्ठा देखता है। इस नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अब जब उसको धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध का निश्चय हो गया, तो इस के पीछे जब वह पर्वत में धूम को देखता है, तब उसको यह स्मृति आजाती है, कि धूम अग्नि का लिङ्ग है। अब धूम अग्नि का लिङ्ग है, इसकी तो स्मृति आगई, और धूम प्रत्यक्ष दीख ही रहा है, इस से वहां अग्नि के होने का अनुमान-

पूर्ववत्—जहां कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे मेघ की उन्नति (मेघ के घुल जाने) से 'होगी वृष्टि' यह अनुमान होता है। *

शेषवत्—जहां कार्य से कारण का अनुमान होता है। जैसे पहले जल (जो कि निर्मल था, उस) से विपरीत (मैला) जल, नदी की पूर्णता और प्रवाह की शीघ्रता देख कर अनुमान होता है, कि '(ऊपर कहीं) वृष्टि हुई है'।

सामान्यतोदृष्ट—जैसे एक स्थान में देखे हुए का अन्यत्र दर्शन गति के कारण हुआ करता है (यह सामान्य व्याप्ति है)। वैसे सूर्य का। इस लिए प्रत्यक्ष दिखलाई न देती हुई भी सूर्य की गति है अवश्य, यह अनुमान होता है॥ †

-हो जाता है। इस प्रकार अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। अर्थात् पहले सपक्ष में लिङ्ग लिङ्गी के सम्बन्ध का दर्शन, फिर पक्ष में लिङ्ग का दर्शन,और उनके नियत सम्बन्ध की स्मृति,तब सम्बन्ध की स्मृति और लिङ्ग का दर्शन यह अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान करा देते हैं।

* इसी प्रकार बहिरा भी मृदङ्ग पर चोट देख कर शब्द का अनुमान करता है इत्यादि और भी कारण से कार्य के अनुमान जानने।

† पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट का व्याख्यान दो प्रकार से किया है। इस प्रथम व्याख्यान में पूर्व का अर्थ कारण, शेष का कार्य है, 'वत्' मत्वर्थक है। इस लिए पूर्ववत् का अर्थ कारण वाला और शेषवत् का कार्य वाला है, और सामान्यतोदृष्ट का-

अथवा, पूर्ववत् (वहां होता है) जहां पूर्वानुसार प्रत्यक्ष हो चुके हुए दोनों (लिङ्ग लिङ्गी) में से एक (लिङ्ग) के प्रत्यक्ष देखने से दूसरे अप्रत्यक्ष का अनुमान होता है, * जैसे धूम से अग्नि (का अनुमान होता है)।

शेषवत—नाम परिशेषानुमान है। यह वहां होता है, जहां जिस २ की प्राप्ति हो, उस २ का निषेध कर देने पर अन्यत्र प्राप्ति न होने से, जो शेष बच रहा है, उस के विषय में प्रतीति हो। (जैसे-) शब्द को सुन कर, उसके विषय में यह प्रतीति होती

-सामान्य रूप से देखा हुआ, न कि विशेषरूप से। जैसे सूर्य की गति तो हमने कभी नहीं देखी, पर अन्य पदार्थों में सामान्य रूप से यह देखते रहते हैं, कि गति वाला हो कर ही कोई पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान में देखा जाता है। यह आशय है। पर सामान्यतोदृष्ट का यह उदाहरण शेषवत् का बन जाता है, क्योंकि गति कारण है, और देशान्तरसंयोग गति का कार्य है। दूसरा यह दोष भी है, कि एकत्र दृष्ट का अन्यत्र दर्शन उस वस्तु की गति से भी हो सकता है, और देखने वाले का स्थान बदल जाने से भी हो सकता है। सूर्य के विषय में भी यही बात है। सो वस्तुतः त्रिविध अनुमान का यह व्याख्यान एक देशिमत से है। अतएव आगे 'अथवा' करके सिद्धान्तिमत से दूसरी व्याख्या की है।

* इस व्याख्यान में 'पूर्ववत्' में वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टा० ५।१।११५) से तुल्य अर्थ में है। पूर्ववत्= पूर्व की नाईं।

है, कि यह पदार्थ) 'सत् (स्वतन्त्र सत्ता वाला) है और अनित्य है', इत्यादि जो द्रव्य गुण कर्म (तीनों) का साधारण धर्म है। इस से शब्द सामान्य, विशेष और समवाय (इन तीन पदार्थों) से तो पहले ही अलग हो गया, (क्योंकि इन में सत्ता नहीं रहती, और ये अनित्य नहीं), अब उस में 'यह द्रव्य है' वा गुण है, वा कर्म है' ऐसा संशय होने पर (परिशेषानुमान से यह निश्चय हुआ, कि) 'यह द्रव्य नहीं, क्योंकि इस का समवायी द्रव्य एक है (अनित्य द्रव्य के समवायी अनेक होते हैं, और नित्य का समवायी होता ही नहीं)। कर्म भी नहीं, क्योंकि शब्दान्तर का हेतु होता है* (इस प्रकार द्रव्य और कर्म का निषेध करने पर) अब जो शेष रह गया (अर्थात्-कर्म) वह है यह (=शब्द)। इस प्रकार शब्द का गुण होना सिद्ध हुआ।

सामान्यतोदृष्ट—(वहां होता है) जहां लिंग और लिंगी का सम्बन्ध (पहले कहीं) प्रत्यक्ष न हुआ हो, तौ भी किसी (अन्य प्रत्यक्ष) अर्थ के साथ लिङ्ग की समानता होने से अप्रत्यक्ष लिंगी जाना जाता है। जैसे इच्छा आदि (लिंग) से आत्मा (जाना जाता है)। इच्छा आदि हैं गुण, और गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं, सो जो इन (इच्छादि गुणों) का आश्रय है, वह आत्मा है†।

---

* शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् सजातीय का आरम्भक होता है, कर्म सजातीय का आरम्भक होता नहीं।

† जैसे अग्नि के अनुमान में धूम और अग्नि का सम्बन्ध पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ था, वैसे आत्मा के अनुमान में इच्छा आदि—

(अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन) विभाग कहने से ही (अनुमान) तीन प्रकार का है, यह सिद्ध है, फिर भी (सूत्र में) त्रिविध पद का कथन (इस बात का ज्ञापक है कि) बड़े (अर्थात् तीन प्रकार के) और बड़े विषय वाले (=भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालों में होने वाले विषयों के ज्ञापक) अनुमान का एक बहुत छोटे से सूत्र द्वारा

–और आत्मा का सम्बन्ध पहले कहीं प्रत्यक्ष देखा हुआ नहीं। और अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, इस लिए यहां अनुमान की प्रवृत्ति उसी रूप को ले कर होगी, जिस रूप में सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हो चुका हुआ है। प्रत्यक्ष द्रव्य (पृथिवी आदि) और प्रत्यक्ष गुण (रूपादि) के सम्बन्ध में यह नियम तो प्रत्यक्ष हो चुका है, कि गुण द्रव्य के आश्रित ही होता है। अब इच्छा आदि भी गुण हैं, इसलिए ये भी किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहियें। सो अनुमान इस प्रकार होगा। इच्छादि किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहियें, क्योंकि ये गुण हैं। जो २ गुण होता है, वह २ किसी द्रव्य के आश्रित होता है, जैसे रूप पृथिवी जल तेज के आश्रित है। इच्छादि भी गुण हैं, इस लिए ये भी किसी द्रव्य के आश्रित हैं। इस प्रकार सामान्यतो दृष्ट से इच्छादि का आश्रय कोई द्रव्य सिद्ध हुआ। अब वह द्रव्य आत्मा है, यह बात परिशेष अनुमान से सिद्ध होती है, क्योंकि गुण आदि तो गुणों का आश्रय हो ही नहीं सकते, इस लिए गुण आदि तो पहले ही अलग हो गए, रहे पृथिवी आदि द्रव्य, सो उन में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा और मन, ये आठ इच्छादि का आश्रय नहीं बन सकते, परिशेष से आत्मा ही इच्छादि का आश्रय सिद्ध हुआ।

उपदेश कर देने से (आचार्य) बहुत बड़ा वाक्य लाघव मानता है, अतएव वह और वाक्य लाघव की परवाह नहीं करता। ऐसे ही यह इस प्रकार की वाक्य रचना से प्रवृत्त हुआ व्यवहार इस शास्त्र में सिद्धान्त छल और शब्द आदि (के विभाग) में बहुत हुआ है। *

प्रत्यक्ष उसी विषय का होता है, जो सत् है, अनुमान सत् असत् दोनों का होता है। क्योंकि (अनुमान) तीनों कालों में होने वाले विषयों को ग्रहण करता है। तीनों कालों से युक्त अर्थ अनुमान से जाने जाते हैं। (वृष्टि) होगी यह भी अनुमान किया जाता है, हो रही है, यह भी। और हो चुकी है, यह भी। असत् उस को कहते हैं, जो हो चुका है, वा होने वाला है।

अवतरण—अब उपमान (का लक्षण कहते हैं)—

---

* सूत्रकार वाक्य लाघव को बड़ा गुण मानते हैं, इस लिए वे ऐसे वाक्य बनाते हैं, कि जिन में बात तो पूरी आ जाय, पर वाक्य जितना छोटे से छोटा हो सकता है, उतना हो जाय। अत-एव कोई ऐसा पद नहीं रखते, जिस के बिना निर्वाह हो जाय। पर यहां गौतमाचार्य ने जो त्रिविध पद रक्खा है, उस के बिना निर्वाह हो सकता था, क्योंकि तीन विभाग करने से तीन प्रकार का सिद्ध ही है। इस का उत्तर भाष्यकार ने यह दिया है, कि गौतमाचार्य बहुत बड़े विषय को अत्यन्त छोटे से, पर स्पष्टार्थ वाक्य में समझा देते हैं, और वे इसी को वाक्य लाघव मानते हैं। उन की दृष्टि में यह कोई बड़ी बात नहीं है, कि 'त्रिविध' इत्यादि स्पष्ट न किया जाय॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।६।

प्रसिद्ध के साथ समान धर्म वाला होने से जो साध्य(संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध) का साधन है, वह उपमान है ।

भाष्य—जाने हुए (गौ आदि) के सदृश होने से जितलाने योग्य (=संज्ञा संज्ञि के सम्बन्ध) का जो जितलाने वाला (वाक्य) है, वह उपमान है। (उदारण-) जैसे गौ है, वैसे गवय है। (प्रश्न)यहां उपमान क्या काम करता है । क्योंकि जब यह (द्रष्टा) गौ के समान धर्म को जानता है, तब प्रत्यक्ष से उस अर्थ (गवय) को जान लेता है (सो गवय का ज्ञान तो प्रत्यक्ष का विषय हुआ, उपमान का विषय क्या रहा) (उत्तर) संज्ञा शब्द के सम्बन्ध की प्रतीति उपमान का फल है, यह उत्तर है । 'जैसे गौ है, वैसे गवय है' इस उपमान (वाक्य) के बोले जाने पर, गौ के समान धर्म वाली व्यक्ति को, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अनुभव करता हुआ (द्रष्टा) इस (अर्थ) की गवय संज्ञा है, इस प्रकार संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध को जान लेता है (यही उपमान का फल है)। (अन्य उदाहरण) जैसे मूंग है, वैसे मूंगपत्ती होती है । जैसे माष है, वैसे माषपत्ती होती है । इस उपमान के बोले जाने पर, उपमान से संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध को जान कर उस ओषधि को इलाज के लिए ले आता है । इस प्रकार और भी उपमान का विषय लोक (-व्यवहार) में जानना चाहिये ।

अवतरण-अब शब्द (का लक्षण कहते हैं)

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

आप्त का उपदेश शब्द है ।

भाष्य--(वस्तु के) धर्मों को साक्षात् करके, जैसा अर्थ को देखा है, वैसा बतलाने की इच्छा से प्रवृत्त हुआ जो उपदेष्टा है, वह आप्त है । अर्थ का साक्षात् करना आप्ति है । आप्ति से जो प्रवृत्त हो, वह आप्त है । ऋषि आर्य और म्लेच्छों का समान लक्षण है । वैसे सब के व्यवहार प्रवृत्त होते हैं (सब में वही आप्त माने जाते हैं, जो यथादृष्ट अर्थ के उपदेशक हैं) । इस प्रकार इन प्रमाणों से देवता, मनुष्य और तिर्यग् योनियों (मनुष्य भिन्न प्राणियों) के व्यवहार सिद्ध होते हैं,* इस से अन्यथा नहीं।

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

वह दो प्रकार का है दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से ।

भाष्य—जिस आप्तोपदेश का अर्थ यहां (लोक में) देखा जाता है, वह दृष्टार्थ है । जिस का (अर्थ=स्वर्ग आदि) वहां (परलोक में) प्रतीत होता है, वह अदृष्टार्थ है । इस प्रकार ऋषि वाक्य और लौकिक वाक्यों का विभाग है (ऋषि दृष्टार्थ का ही उपदेश करते हैं, लौकिक आप्त पुरुष अदृष्टार्थ का भी, क्योंकि अलौकिक विषयों में उन का अनुमान ही होता है, दर्शन नहीं)

प्रश्न—किस लिए यह कहा है ?

उत्तर—वह (शिष्य) ऐसा न मान ले, कि दृष्टार्थ ही आप्तोपदेश प्रमाण है, क्योंकि अर्थ का (इन्द्रियों से) अवधारण (निश्चय)

---

* पशु भी नेत्र आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । अनुमान से भी जानते हैं, हाथ में हरा घास लिए उन की ओर कोई आता हो, तो उधर प्रवृत्त होते हैं । डंडा हाथ में लिये हो, तो उस से हट जाते हैं । कुछ एक शब्दों के संकेत भी समझते हैं ।

हो चुका है, किन्तु अदृष्टार्थ भी प्रमाण है, क्योंकि (उस में) अर्थ का अनुमान है॥

प्रमाण भाष्य समाप्त हुआ।

३—प्रमेय लक्षण प्रकरण (९-२२ सू० १४)—

अवतरण—अच्छा तो वह अर्थसमुदाय क्या है, जो इस (पूर्वोक्त) प्रमाण से जानने योग्य है—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष प्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्॥ ९॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ही प्रमेय हैं*।

(१) इन में से आत्मा वह है, जो हर एक विषय का द्रष्टा और हर एक विषय का भोक्ता, सब (विषयों का) जानने वाला, सब का अनुभव करने वाला है। (२)उसके भोगायतन (भोग का घर=जिस में बैठ कर वह भोग भोगता है, शरीर है।(३) भोग के साधन इन्द्रिय हैं। (४)भोगने योग्य इन्द्रियों के अर्थ (रूपादि विषय) हैं। ५) भोग (सुख दुःख का अनुभव) बुद्धि है।(६) सारे अर्थों की उपलब्धि में (बाह्य) इन्द्रिय समर्थ नहीं हैं, इस लिए एक अन्तरिन्द्रिय अवश्य ऐसा है,

---

* यहां प्रमेय से अभिप्राय प्रमेयमात्र से नहीं, किन्तु ऐसे प्रमेय से है, जिस का तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है, और वह आत्मादि ही है, इस लिए 'ही' पद दिया है। अथवा ये प्रमेय ही हैं अर्थात् मुमुक्षु को अवश्यमेव जानने योग्य हैं।

जिस का सभी (अर्थ) विषय हैं, वह मन है। (७) शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, सुखदुःखानुभव, इन की उत्पत्ति का कारण प्रवृत्ति है (८) और दोष (राग द्वेष मोह) हैं। (९) इसका (आत्मा का) यह शरीर ऐसा नहीं, जिस से पहले (शरीर) न हुआ हो, और ऐसा भी नहीं, जिससे आगे न हो। पूर्व शरीरों का तो कोई आदि नहीं है, अगलों का अन्त मोक्ष है। यह (अनादि काल से लेकर मोक्ष पर्यन्त जन्म प्रवाह) प्रेत्य भाव है। (१०) (सुख दुःख के) साधन और सुख दुःख का उपभोग फल है।(११) (आगे केवल) दुःख ऐसा कहने से सुख की प्रतीति का खण्डन न समझना चाहिये, क्योंकि सुख अनुकूलवेदनीय है। इस अनुभवसिद्ध सुख का खण्डन कोई कैसे कर सकता है। तो फिर क्या (अभिप्राय) है? कि जन्म से ही लेकर सुख के साधनों वाले फल का दुःख के साथ मेल रहता है, दुःख से विछोड़ा नहीं होता, किन्तु भांति २ की बाधनाओं से मेल बना रहता है, इस कारण (सुख को भी दुःख के पक्ष में डालकर) 'दुःख ही है यह,' इस प्रकार मन देकर चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है। एकाग्रचित्त हो कर जब ऐसा चिन्तन करता है, तो (विषयों में सुख से) निराश हो जाता है, निराश हुए को (विषयों से) वैराग्य उत्पन्न होता है, विरक्त हुए का अपवर्ग (मोक्ष) होता है* । (१२) अपवर्ग है जन्म मरण की परम्परा का टूटना, सारे दुःखों का समूल नाश होना।

* अर्थात् सूत्र में जो सुख नहीं कहा, उस का अभिप्राय यह नहीं, कि सुख कोई वस्तु नहीं, किन्तु सुख में दुःख की भावना करने से वैराग्य की सिद्धि के लिए दुःख ही कहा है।

प्रश्न—(क्या ये ही बारह प्रमेय हैं, और कोई प्रमेय नहीं, और यदि हैं, तो फिर सूत्रकार ने वे क्यों नहीं कहे, इस का उत्तर देते हैं) है और भी प्रमेय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय । और वह अवान्तरभेद से अपरिसंख्येय है । किन्तु इस (सूत्रोक्त द्वादशविध प्रमेय) के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है और मिथ्याज्ञान से संसार होता है, इस कारण इस का विशेष रूप से उपदेश किया है ।

अवतरण-(प्रश्न)-उन में से आत्मा प्रत्यक्ष से तो जाना नहीं जाता, तब क्या उसे आप्त के उपदेश मात्र से ही जानना चाहिये। 'उत्तर' यह है, कि ' नहीं '। अनुमान से भी जाना जाता है । (प्रश्न) कैसे ?

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति ॥ १० ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है ।

भाष्य—जिस जाति के अर्थ के सम्बन्ध से आत्मा पहले सुख अनुभव कर चुका है, उस ही जाति के अर्थ को देखता हुआ ग्रहण करना चाहता है, यह ग्रहण करने की इच्छा जो कि अनेक अर्थों के देखने वाले एक के (उन अनेक) दर्शनों के जोड़ने से उत्पन्न हुई है, यह आत्मा का लिङ्ग है। क्योंकि एक नियत विषय वाले निरे ज्ञान विशेष में यह इच्छा नहीं हो सकती, जैसे कि दूसरे शरीर में * ।

---

* गूढ अभिप्राय यह है, कि जिस ने पहले सेव (आदि इष्ट वस्तु) भोग कर सुख अनुभव किया है, वह फिर वैसे सेव

(२) इसी प्रकार एक जो अनेक अर्थों का अनुभविता है, उस के अपने (पूर्वले और नए) अनुभवों को मिलाने से दुःख के हेतु में द्वेष उत्पन्न होता है, (३) जिस जाति का अर्थ इस (प्राणधारी) के सुख का हेतु प्रतीत हो चुका है, उस जाति के अर्थ को देखता हुआ (प्राणधारी) उस को लेने का प्रयत्न करता है। सो यह प्रयत्न भी, एक जो अनेक अर्थों का अनुभविता है, उस, अपने (पूर्वले और वर्तमान) अनुभवों को मिलाने वाले के बिना नहीं हो सकता। एक नियत विषय वाले निरे ज्ञानविशेष में

(आदि) को देख कर (खाने के लिए) उस को लेने की इच्छा करता है। यह इच्छा उस को तब हुई है, जब पूर्वले अनुभव की स्मृति आगई है, कि सेव मधुर आहार है। और फिर यह अनुमान हो गया है, कि यह भी तो सेव ही है, इस लिए यह भी मधुर आहार है। अर्थात् यहां पूर्वले दर्शन (अनुभव) को इस दर्शन (अनुभव) के साथ मिलाने से यह इच्छा उत्पन्न हुई है। इस से यह सिद्ध है, कि अब जिस को सेव के ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हुई है, वह वही है, जिस ने पहले उस से सुख अनुभव किया है, और वह आत्मा है, न कि शरीर, और न ही बुद्धि, क्योंकि शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है, और बुद्धि हर एक अपने नियत विषय को ग्रहण करके लीन हो जाती है। पहला जो सेव का विज्ञान था, वही अब तक नहीं चला आया। क्योंकि उस के पीछे बीच में कई भिन्न २ विषयों के विज्ञान हुए, और अब यह फिर तज्जातीय विषय का नया विज्ञान हुआ है। इस लिए ऐसी इच्छा अनेक अर्थों के अनुभव करने वाले एक द्रव्य को सिद्ध करती हुई अलग आत्मा का लिङ्ग (ज्ञापिका) है। इसी प्रकार द्वेष आदि भी (आत्मा के लिङ्ग हैं)।

यह प्रयत्न नहीं बन सकता, जैसे कि दूसरे शरीर में। इस से (सुख के हेतु में प्रयत्न को आत्मलिङ्ग उपपादन से) दुःख के हेतु में प्रयत्न (भी आत्मा का लिङ्ग) बतलाया गया। (४) सुख दुःख को स्मरण करके उस २ के साधन को ग्रहण करता हुआ यह (प्राणधारी) सुख को उपलब्ध करता है, अर्थात् सुख दुःख को अनुभव करता है। पूर्वोक्त ही हेतु (यहां भी) है। (५) जानना चाहता हुआ यह विचारता है, कि 'यह क्या है' विचारता हुआ जान लेता है, कि 'यह है'। सो यह ज्ञान, जो उस ज्ञाता में उत्पन्न हुआ है, जिस में पहले जिज्ञासा और विचार उत्पन्न हुए हैं:—आत्मा का लिङ्ग है। पूर्वोक्त ही हेतु है।

(पूर्व जो दृष्टान्त दिया है) 'जैसे कि दूसरे शरीर में' अब वह खोल कर बतलाया जाता है। जैसे अनात्मवादी के (मत में यह नियम है) ज्ञान विशेष जो अपने नियत विषय वाले होते हैं दूसरे शरीरों में मेले नहीं जा सकते, वैसे एक शरीर में भी मेले न जाएं, (अनात्मवादी के मत में एक शरीर में) कोई विशेषता नहीं *। सो यह एक सत्त्व (एक सत्ता) का व्यवहार है, जो

---

* अनात्मवादी, जो शरीर वा विज्ञान से भिन्न आत्मा को नहीं मानता, वह भी 'माता के अनुभवों का स्मरण पुत्र को क्यों नहीं होता' इस प्रश्न के उत्तर में यह नियम बतलाता है, कि स्मरण अपने ही देखे का होता है, दूसरे के देखे का स्मरण दूसरे को नहीं होता। इस लिए माता के देखे का स्मरण पुत्र को नहीं होता। यह नियम ठीक है, पर इसी नियम से अनात्मवादी का पक्ष भी खण्डित होता है, और देह से अलग आत्मा सिद्ध होता है। क्योंकि देह को ही आत्मा मानें, तो देह क्षण २ में बदलता रहता

अपने ही देखे का स्मरण होता है, न दूसरे के देखे का और न ही अनदेखे का। ऐसा ही नाना सत्त्वों का व्यवहार बन सकता है, कि दूसरे के देखे को दूसरे नहीं स्मरण करते। अनात्मवादी इन दोनों बातों की कोई व्यवस्था नहीं कर सकता †। अत एव 'है आत्मा' यही मत युक्तियुक्त है।

अवतरण—उस के (आत्मा के) भोगों का अधिष्ठान—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

–है। जिस देह ने अनुभव किया, स्मरण के समय वह नहीं रहा, उस से भिन्न देह हो गया। तब यही बात यहां भी आगई, कि दूसरे के देखे को दूसरा स्मरण नहीं कर सकता। और यही दोष विज्ञान के विषय में है। क्योंकि विज्ञान हर एक अपने विषय को अनुभव करके नष्ट हो जाता है, फिर दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार देह की नाईं विज्ञान भी क्षणिक हुआ, तो अनुभव करने वाले विज्ञान से स्मरण करने वाला विज्ञान भिन्न हो गया, तब उस को स्मरण हो नहीं सकेगा, क्योंकि स्वयंदृष्ट का ही स्मरण होता है, अन्य दृष्ट वा अदृष्ट का नहीं।

† सो शरीर में जब देह और विज्ञान से अलग सत्ता मानें, तब तो यह बात बन जाती है, कि जो अनुभविता है वही स्मर्ता है, यदि नाना सत्ता मानें (जैसा देह वा विज्ञान को द्रष्टा स्मर्ता मानने वाले मानते हैं) तो यह दोनों बातें नहीं घट सकतीं, एक तो यह कि दृष्ट का ही स्मरण हो, अदृष्ट का नहीं, क्योंकि क्षणिक शरीर वा विज्ञान में, जिस को स्मरण माना है, उसने देखा ही नहीं। दूसरा यह, कि अन्य दृष्ट का स्मरण अन्य को न हो, क्योंकि उसके मत में अन्य दृष्ट का ही स्मरण अन्य को माना गया।

चेष्टा का, इन्द्रियों का और अर्थों का आश्रय शरीर है।

भाष्य—(प्रश्न) (शरीर) किस प्रकार चेष्टा का आश्रय है (उत्तर) इष्ट वा अनिष्ट वस्तु को लक्ष्य करके, पाने वा त्यागने की इच्छा से प्रेरे हुए पुरुष की, जो उस (वस्तु के पाने वा त्यागने) के उपाय का अनुष्ठानरूपा क्रिया है, वह चेष्टा है, वह जिस में है, वह शरीर है।

प्रश्न—कैसे वह इन्द्रियों का आश्रय है (उत्तर) इन्द्रिय जिस के सावधान होने पर सावधान हुए और असावधान होने पर असावधान हुए अपने २ इष्ट अनिष्ट बिषयों में प्रवृत्त होते हैं, वह इन का आश्रय है, वह शरीर है।

प्रश्न—कैसे अर्थों (विषयों) का आश्रय है।

उत्तर—जिस आयतन (घर) में, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सुख और दुःख का अनुभव होता है, वह इन का आश्रय है, वह शरीर है।

अवतरण—भोग के साधन—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वकश्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र (ये पांच) इन्द्रिय हैं, जो भूतों से होते हैं।

भाष्य—जिस से सूंघता है अर्थात् गन्ध को ग्रहण करता है=वह घ्राण है। जिस से रस लेता है=रस को ग्रहण करता है, वह रसन है। जिस से देखता है=रूप को देखता है, वह चक्षु (नेत्र) है। त्वचा जिस का स्थान है, वह इन्द्रिय त्वक् है, उस

का प्रयोग स्थान से होता है* । जिस से सुनता है अर्थात् शब्द को ग्रहण करता है, वह श्रोत्र है। इस प्रकार (घ्राण आदि) संज्ञाओं के निर्वचन के बल से यह जानना चाहिये, कि अपने २ विषय को ग्रहण करने के लक्षणों वाले इन्द्रिय हैं† ।

(भूतेभ्यः) भूतों से। (यह इन्द्रियों के उपादान कारण का निर्देश इस लिए है कि.) इन्द्रिय यदि भिन्न २ उपादान कारणों वाले हैं, तभी इन का (एक २) विषय (के ग्रहण करने) का नियम है, एक ही उपादान वालों का विषयनियम नहीं हो सकता। और जब विषय का नियम है, तभी अपने विषय को ग्रहण करना इन का लक्षण बन सकता है‡ ।

---

* त्वचा=शरीर की त्वचा (चमड़ी) का नाम है । किन्तु जैसे ' मञ्चाः क्रोशन्ति ' में मञ्च शब्द का लक्षणा से मञ्चस्थ पुरुषों में प्रयोग हुआ है (देखो २ । २ । ५९) वैसे यहां स्थान से त्वचा शब्द का त्वचा स्थानी (त्वचा में रहने वाले) इन्द्रिय में लक्षणा से प्रयोग हुआ है ।

† त्वक् शब्द से भिन्न शेष शब्द (घ्राण, रसन, चक्षुस् , श्रोत्र) यौगिक हैं । सो घ्राण आदि संज्ञा शब्दों का निर्वचन करने से उन का लक्षण बनता जाता है, कि जो जिस इन्द्रिय का विषय है, उस विषय को ग्रहण करना उस इन्द्रिय का लक्षण है । जैसे जिघ्र-त्यनेन=सूंघता है अर्थात् गन्ध ग्रहण करता है जिस से, वह घ्राण है इत्यादि ।

‡ हर एक इन्द्रिय अपने नियत विषय को ही ग्रहण करता है, जैसे घ्राण गन्ध को ही ग्रहण करता है, रस, रूप, शब्द, स्पर्श को नहीं । और रसन रस को ही ग्रहण करता है, गन्ध, रूप, स्पर्श,

प्रश्न—इन्द्रियों के कारण (भूत) कौन से हैं—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ।१३।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये भूत हैं ।

भाष्य—भूतों का (पृथिवी आदि) संज्ञा शब्दों से अलग उपदेश इस लिए है, कि इन का विभाग करने से (विभागानुसार) इन का कार्य आसानी से कहा जायगा* (कि पूर्वोक्त घ्राणादि यथाक्रम पृथिवी आदि के कार्य हैं) ।

शब्द को नहीं। इसी प्रकार नेत्र श्रोत्र त्वचा भी। इससे अनुमान होता है, कि जो घ्राण की प्रकृति है, वह रसना की नहीं। अन्यथा क्यों न घ्राण की तरह रसना भी गन्ध को ग्रहण करती, और रसना की तरह घ्राण भी रस को ग्रहण करता। इस लिए सांख्य जो यह मानते हैं, कि एक अहंकार से सारे इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं, यह युक्त नहीं। युक्त यही है, कि घ्राण यतः गन्ध को ही ग्रहण करता है, इस लिए गन्ध गुण वाले द्रव्य का कार्य है, और रसना रसप्रधान द्रव्य का।

* इस के सूत्र होने में ये बाधक हेतु हैं (१) प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट प्रमाण प्रमेयादि के क्रम से प्रमाणों के विभाग और लक्षण के अनन्तर प्रमेयों का विभाग और लक्षण प्राप्त है। सो प्रमेय विभागानुसार इन्द्रियों के अनन्तर अर्थ लक्षणीय हैं भूत नहीं (२) वार्तिक और तात्पर्य टीका में इस को सूत्रत्वेन कहीं नहीं लिखा, पर इस से पूर्वले को भी सूत्र और परले को भी सूत्र करके लिखा है (३) वार्तिक और तात्पर्य में इस सूत्र को छुआ तक भी नहीं (४) तात्पर्य टीका में इन्द्रिय सूत्र की व्याख्यानन्तर 'क्रमप्राप्तमर्थ लक्षणमवतारयति भाष्यकारः' कहने से इन्द्रियलक्षण

अवतरण—और ये—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥१४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पृथिवी आदि के गुण हैं और उन के (इन्द्रियों के) अर्थ (विषय) हैं।

भाष्य—पृथिवी आदि के यथायोग्य गुण हैं और इन्द्रियों के यथाक्रम अर्थ अर्थात् विषय हैं *।

अवतरण—(सांख्य जो ऐसा मानते हैं कि) अचेतन बुद्धि जो करण (साधन) है, ज्ञान उस की वृत्ति है, और चेतन

के अनन्तर इसी का सूत्र होना प्रतीत होता है (५) अगले सूत्र में 'तदर्थाः' इस में तत् शब्द भी पूर्वपरामर्शक होने से इन्द्रियों का परामर्शक तभी ठीक होता है, यदि अव्यवहित पूर्व इन्द्रिय-सूत्र हो। तात्पर्य का यह कथन, कि 'यहां 'तत्' शब्द अनन्तर लक्षित इन्द्रियों का परामर्शक है' भी इस आशय का बोधक है। किन्तु विश्वनाथ पञ्चाननने गौतमसूत्र वृत्ति में इस को सूत्र ही माना है। उस के पीछे यह सूत्र रूप से लिखा जाने लगा है।

* ये पृथिवी आदि के गुण तो यथायोग्य हैं यथाक्रम नहीं। इन में से पृथिवी के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श ये चार गुण हैं, जल के रस, रूप, स्पर्श तीन। तेज के रूप, स्पर्श दो, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द। पर ये इन्द्रियों के विषय यथाक्रम हैं। घ्राण का विषय गन्ध, रसना का रस, नेत्र का रूप, त्वचा का स्पर्श और श्रोत्र का शब्द है।

(आत्मा) जो अकर्ता है, उस को उपलब्धि (बोध) होता है* । इस युक्ति विरुद्ध बात का खण्डन † करता हुआ (सूत्रकार) यह कहता है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥१५॥

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान यह अलग वस्तु नहीं है (अर्थात् तीनों पर्याय शब्द हैं)।

भाष्य—बुद्धि जो अचेतन कारण है, उस को ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि (ज्ञानवाली मानने से) वह चेतन हो जायगी। और चेतन (इस शरीर में) एक है, जो देह, इन्द्रियों के संघात से अलग है ‡ ।

---

* सांख्यमत में बुद्धि प्रकृति का कार्य है । उस बुद्धि का अर्थ को ग्रहण करते समय तदाकार होना बुद्धि की वृत्ति है, यही ज्ञान है । और उस वृत्ति का जो चेतन आत्मा को बोध होता है, वह उपलब्धि है । अर्थात् ज्ञान बुद्धि को होता है और उपलब्धि आत्मा को होती है, इस प्रकार ज्ञान और उपलब्धि दो अलग धर्म माने हैं, एक नहीं ।

† इव=सा, कहने का यह अभिप्राय है, कि प्रमेय लक्षण प्रकरण में मुख्य अभिप्राय तो बुद्धि के लक्षण से ही है, किन्तु लक्षण से ही उक्त युक्तिविरुद्ध मन्तव्य का खण्डन भी निकल आता है ।

‡ यह बात अनुभवसिद्ध है, कि ज्ञान और उपलब्धि में कोई भेद नहीं । और ज्ञान तथा उपलब्धि शब्दों के प्रयोग से भी

यह सूत्र वाक्य जो प्रमेय (प्रमेयविशेष बुद्धि) का लक्षण करने के लिए है, इस का एक दूसरी बात को प्रकाश करना युक्ति बल से है * ।

अवतरण—स्मृति, अनुमान, आगम (शास्त्र द्वारा ज्ञान) संशय, प्रतिभा=फुरना, स्वप्न ज्ञान, तर्कना, तथा सुख आदि का प्रत्यक्ष और इच्छा आदि, ये सब मन के लिङ्ग हैं, इनके होते हुए यह भी—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

एक साथ (अनेक) ज्ञानों की अनुत्पत्ति मन का लिङ्ग है ।

भाष्य—(हर एक क्रिया करणजन्या होती है, पूर्वोक्त स्मृति अनुमान आदि भी क्रियाएं हैं पर) स्मृति आदि के निमित्त (बाह्य) इन्द्रिय तो हैं नहीं, सो उन का निमित्त कोई और करण होना चाहिये (वही अन्तः करण मन है)।

दूसरा—घ्राण आदि और गन्ध आदि के एक साथ सम्बन्ध होने पर भी (अर्थात् जिस काल में घ्राण का गन्ध के साथ सम्बन्ध है, उसी काल में नेत्र का रूप के साथ सम्बन्ध होने पर भी) इकट्ठे दोनों ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस से अनुमान होता

यही बात सिद्ध है, कि ये पर्याय शब्द हैं। सो यदि ज्ञान बुद्धि का धर्म मानें, तो इस शरीर में दो चेतन सिद्ध होंगे, एक बुद्धि और दूसरा आत्मा।

* सूत्र का मुख्य अभिप्राय तो बुद्धि का ही लक्षण है, किन्तु युक्ति बल से ज्ञान और उपलब्धि की एकता का प्रकाश कर दिया है।

है, कि उस २ इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने वाला, कोई और भी सहकारि कारण है, जो अव्यापक है। जिस की असन्निधि से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, और सन्निधि से उत्पन्न होता है (वह मन है)। क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग यदि मन के संयोग की परवाह न करता हुआ भी ज्ञान का हेतु हो, तो (भिन्न २ इन्द्रियों के) ज्ञान इकट्ठे उत्पन्न हो जायं।

अवतरण—क्रम से प्राप्त हुई—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥१७॥

प्रवृत्ति है—मन वाणी और शरीर से (कार्य का) आरम्भ।

भाष्य—यहां (सूत्र में) बुद्धि शब्द से मन अभिप्रेत है। बुध्यतेऽनेन=जिस से जाना जाता है, वह बुद्धि है अर्थात् मन। सो यह शरीर वाणी और मन से आरम्भ, दस प्रकार का पुण्यमय और दस ही प्रकार का पापमय है। इस विषय का दूसरे सूत्र पर भाष्य कर दिया गया है।

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥१८॥

प्रवृत्त कराना है लक्षण जिन का वे दोष हैं।

भाष्य—प्रवर्तना का अर्थ प्रवृत्ति का हेतु होना। ज्ञाता (जो आत्मा है, उस) को रागादि (राग द्वेष मोह) पुण्य वा पाप में प्रवृत्त करते हैं (अतएव ये तीनों दोष कहलाते हैं) जहां मिथ्या ज्ञान (मोह) होता है, वहां राग द्वेष होते हैं।

प्रश्न—प्रत्येक जीव के अनुभव सिद्ध हैं ये दोष, तब इनका लक्षण से निर्देश क्यों किया*

---

* आशय यह है, कि राग द्वेष मोह तो अनुभवसिद्ध और

उत्तर—राग वाला द्वेष वाला और मोह वाला पुरुष अपने कर्मों से लखा जाता है। रागवाला उस कर्म को करता है, जिस से सुख वा दुःख पाता है, इसी प्रकार द्वेषवाला और इसी प्रकार मोह वाला। सो (प्रवर्तनालक्षणाः के स्थान) 'रागद्वेषमोहाः' कहने पर बहुत बात न कही जाती। (अर्थात् प्रवृत्ति के हेतु होने से ये ही संसार के कारण हैं, यह बात न कही जाती)।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

फिर उत्पत्ति प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) है।

भाष्य—कहीं किसी प्राणिनिवास में उत्पन्न हुए का मर कर जो फिर उत्पन्न होना है, वह प्रेत्यभाव है। यहां उत्पत्ति से तात्पर्य देह इन्द्रिय मन बुद्धि और वेदना के साथ सम्बन्ध होने से है। फिर उत्पत्ति अर्थात् फिर देहादि के साथ सम्बन्ध। पुनः=फिर, इस से बार २ का कथन है। जहां कहीं किसी प्राणिनिवास में रहता हुआ (आत्मा) पूर्व ग्रहण किये देहादि को त्यागता है, वही मरना है। जो फिर उसी (प्राणिवास) में वा अन्य में नए देहादि को ग्रहण करता है, यह होना है। यही प्रेत्यभाव का अर्थ है मर कर फिर होना=जन्म। सो यह जन्म मरण के सिलसिले का अभ्यास, जो कि अनादि से लेकर मोक्षपर्यन्त बना रहता है यही प्रेत्य भाव जानना चाहिये।

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ अर्थ फल है*

प्रसिद्ध हैं, इन्द्रियों की नाईं उन का नाम ले देना ही पर्याप्त है, परोक्ष अर्थ की नाईं लक्षण से समझाने की आवश्यकता नहीं।

* फल दो प्रकार का है, मुख्य और गौण। मुख्य फल सुख

भाष्य—सुख दुःख का अनुभव करना फल है । कर्म कोई सुख परिणाम वाला और कोई दुःख परिणाम वाला होता है । और वह (सुख दुःख का अनुभव) देह, इन्द्रिय, विषय (भोग्य पदार्थ) और बुद्धि के होते हुए होता है (विना इन के नहीं) इस लिए फल देह आदि समेत माना गया है (अर्थात् देह आदि भी फल हैं)। इसी लिए प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ अर्थ जो फल है, वह यह सब है । सो यह फल (देहादि) ग्रहण कर २ के त्यागा जाता है, और त्याग २ करके ग्रहण किया जाता है । इस त्याग और ग्रहण की समाप्ति-पूरी २ समाप्ति (इस लोक में) नहीं है । यह लोक (दुनिया) फल के त्याग और ग्रहण के प्रवाह में बही चली जाती है ।

अवतरणिका—और यही (देहादि फल ही)—

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

दुःख है, जिस का लक्षण बाधना है ।

भाष्य—बाधना अर्थात् पीडा=ताप । उस से वींधा हुआ= जकड़ा हुआ, अवियुक्त हो कर रहता हुआ (देह आदि फल) दुःख के योग से दुःख कहा है* । सो यह (जिज्ञासु) 'सब (देह इन्द्रिय विषय आदि को) दुःख से वींधा हुआ है ' जब ऐसा देखता है, तो दुःख को त्यागना चाहता हुआ, जन्म को ही दुःखरूप देखता हुआ उदासीन होजाता है। उदासीन हुआ इनसे विरक्त होजाता है, विरक्त हुआ (इन से) छूट जाता है (मुक्त हो जाता है) ।

दुःख का अनुभव है । और सुख दुःखके साधन सारे (शरीर इन्द्रिय विषय आदि) गौण फल हैं । यहां दोनों फलों को ग्रहण करने के लिए 'अर्थ' कहा है । दोष जो राग द्वेष मोह हैं, उन में से मोह राग द्वेष का कारण हैं,और रागद्वेष पुण्य पापमयी प्रवृत्ति के कारण हैं, प्रवृत्ति फल की उत्पादिका है ।

* अभिप्राय यह है, कि यहां दुःख से अभिप्राय गौण मुख्य

अवतरणिका—किन्तु जहां (दुःख की) समाप्ति है, पूरी समाप्ति है, वह यह—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

उस से अत्यन्त छूटना अपवर्ग है।

भाष्य—उस से=दुःख से=जन्म से अत्यन्त छूटना अपवर्ग है। (प्रश्न) कैसे (उत्तर) ग्रहण किये जन्म का त्यागना और दूसरे का न ग्रहण करना। इस अवस्था को, जिस का अन्त नहीं है, मोक्ष-वेत्ता मोक्ष मानते हैं। वह है, अभय अजर अमर पद ब्रह्म* क्षेम की प्राप्ति।

'मोक्ष में (आत्मा के) महत्त्व की नांई आत्मा का नित्य सुख अभिव्यक्त होता है, उसके अभिव्यक्त हुए (दु.ख) से अत्यन्त विमुक्त हुआ (आत्मा) सुखी होता है' ऐसा कई मानते हैं, पर उनका (यह कहना) प्रमाण के न होने से बन नहीं सकता।

'नित्य सुख आत्मा का महत्त्व की नांई मोक्ष में अभिव्यक्त होता है' इसमें प्रमाण न प्रत्यक्ष है; न अनुमान है और न आगम है। 'नित्य की अभिव्यक्ति (उस का) अनुभव है, तो उस का हेतु कहना चाहिये' नित्य की अभिव्यक्ति यदि ज्ञान है, तो उस का हेतु कहना चाहिये जिस से वह उत्पन्न होता है।

दोनों प्रकार के दुःखों से हैं। मुख्य दुःख तो दुःख ही है। गौण दुःख ये हैं, शरीर, क्योंकि वह दुःख का निमित्त है, इन्द्रिय, विषय बुद्धि क्योंकि ये दुःख के साधन हैं, सुख, क्योंकि वह दुःख के बिना नहीं रहता। इस प्रकार इन सब को दुःखरूप मान कर इन से उपरत होता है।

* मोक्षावस्था का नाम ब्रह्म है।

'सुख की नाईं (उस का ज्ञान भी) नित्य है' यदि ऐसा कहो,तो संसारी जीव का मुक्तसे कोई भेद न रहा। जैसे मुक्त पुरुष नित्य सुख और उस के ज्ञान से युक्त है, वैसे संसारी भी ठहरता है, क्योंकि दोनों (सुख और उस का ज्ञान) नित्य हुए ।

और 'मान लेने पर धर्म और अधर्म के फल-(सुख दुःख) के साथ (नित्य सुख) का साहचर्य (इकट्ठा होना) प्रतीत हो' अर्थात् जो यह प्रजाओं में धर्म अधर्म का फल सुख वा दुःख बारी से अनुभव होता है, उस का, और नित्य (सुख) के अनुभव का साथ होना इकट्ठा होना प्रतीत हो, क्योंकि (तुम्हारे मत में) न सुख का अभाव है, न अनभिव्यक्ति (अप्रकाश) है । क्योंकि दोनों (सुख और उस की अभिव्यक्ति) नित्य हैं* ।

'अनित्यत्व में हेतु कहना चाहिये' अर्थात् यदि ऐसा मानो कि मोक्ष में जो नित्य सुख (अभिव्यक्त होता है, उस) की प्रतीति नित्य नहीं है, तो जिस से वह उत्पन्न होती है, वह हेतु बतलाना चाहिये ।

'आत्मा और मन के संयोग को हेतुता तब बन सकती है, जब उस का कोई और निमित्त हो' अर्थात् यदि कहो, कि आत्मा और मन का संयोग उस का हेतु है, तो इस प्रकार भी उस का सहकारि कारण कोई और कहना होगा ।

---

* अभिप्राय यह है, कि जब सुख और उस की प्रतीति दोनों नित्य मान लिये, तो संसार दशा से मोक्ष में कोई विशेषता न हुई,और यदि यह भी मान लो,तो फिर यह दोष हैं,कि धर्म और अधर्म से उत्पन्न हुए जो सुख और दुःख हैं, उन के अनुभवकाल में साथ ही उस नित्य सुख का भी अनुभव हुआ चाहिये, क्योंकि नित्य सुख और उस की प्रतीति दोनों नित्य होने से उस समय भी होने ही चाहियें ।

'धर्म को कारणता कहो' अर्थात् यदि धर्म को सहकारि कारण कहो, तो उस (धर्म) का हेतु कहना होगा, जिस से कि वह उत्पन्न होता है।

'योग समाधिजन्य धर्म तो कार्य होने से नाश वाला होगा, यह विरोध है, इस से ज्यूं ही कि उस (धर्म) नाश होगा, नित्य सुख के) ज्ञान की भी निवृत्ति हो जायगी', 'और यदि ज्ञान न रहा, तो न होने के बराबर हुआ' अर्थात् यदि उस (योगज-) धर्म के नाश होने से (नित्य सुख के) ज्ञान का नाश होता है, (उस समय नित्य सुख) (होता हुआ भी) ज्ञात नहीं होता (ऐसा कहो, तो) क्या होता हुआ भी ज्ञात नहीं होता, वा 'है नहीं' इस लिए ज्ञात नहीं होता, इस प्रकार के एक विशिष्ट रूप में कोई अनुमान नहीं है। और 'धर्म का क्षय न होना अनुमान के विरुद्ध है, क्योंकि उत्पत्ति वाला है' अर्थात् यदि कहो, कि योग समाधि-जन्य धर्म क्षीण नहीं होता, तो यह अनुमान हो नहीं सकता, क्योंकि जो उत्पत्ति धर्म वाला है, वह अनित्य होता है। हां जिस के मत में (नित्य सुख के) ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, उस को ज्ञान का निमित्त कोई नित्य है ऐसा अनुमान करना होगा। और यदि हेतु नित्य मानो, तो मुक्त और संसारी का कोई भेद न रहा, यह उत्तर दे चुके हैं। जैसे मुक्त का सुख नित्य और उस के अनुभव का हेतु भी नित्य, अतएव अनुभव की निवृत्ति कभी नहीं होती, क्योंकि उस का कारण नित्य है, तो यह सब कुछ संसारी पुरुष का भी वैसे ही है। ऐसा होने पर धर्म और अधर्म का फल जो सुख और दुःख का अनुभव है, उस के साथ इस नित्य सुख का साहचर्य अनुभव हो।

'यदि कहो, कि शरीर आदि का सम्बन्ध (संसारी के लिए उस नित्य सुखानुभव के) प्रतिबन्ध का हेतु है, तो नहीं, क्योंकि

शरीर आदि उपभोग के लिए होते हैं, उस से उलट का अनुमान नहीं हो सकता ' अर्थात् यदि ऐसा मानो, कि संसारी को जो शरीर आदि का सम्बन्ध है, वह उस के लिए उस नित्य सुख के ज्ञान के हेतु का प्रतिबन्धक है, इस लिए (मुक्त संसारी के) बराबर नहीं है । तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीर आदि तो उपभोग के लिए हुआ करते हैं, वे भोग के प्रतिबन्धक हों, यह नहीं बन सकता, प्रत्युत ऐसा अनुमान नहीं है, कि शरीर रहित आत्मा को कोई भोग होता है ।

'यदि कहो, कि इष्टकी प्राप्ति के लिए ही तो प्रवृत्ति होती है तो यह भी नहीं, क्योंकि अनिष्ट की निवृत्ति के लिए भी होती है अर्थात् यह अनुमान है, कि मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षुजनों की प्रवृत्ति इष्ट की प्राप्ति के लिए हैं, क्योंकि ये दोनों निष्प्रयोजन नहीं हो सकते । (इसलिए मुक्ति में नित्य सुख मानना चाहिये) यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनिष्ट की निवृत्ति के लिए है मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षुजनों की प्रवृत्ति । क्योंकि इष्ट अनिष्ट से न मिला हुआ तो हो ही नहीं सकता, इस लिए (अनिष्ट से मिला हुआ) इष्ट भी अनिष्ट बन जाता है । सो अनिष्ट के त्याग के लिए चेष्टा करता हुआ (मुमुक्षु) इष्ट को भी त्याग देता है । क्योंकि (इष्ट से निरे अनिष्ट को) अलग करके त्यागना अशक्य है । ' (दूसरा नित्य सुख कल्पने में) इष्ट का उल्लंघन शरीर आदि में भी वैसा ही है अर्थात् जैसे दृष्ट अनित्यसुख को त्याग कर नित्यसुख की कामना होती है, इसी प्रकार शरीर इन्द्रिय और बुद्धि जो कि अनित्य देखे जाते हैं, इन को उलांघ कर मुक्त के नित्य शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि कल्पना करने चाहियें । (तब यह आपने) बहुत अच्छी इस प्रकार मुक्त की एकात्मता कल्पना की ?

'यदि कहो, कि यह युक्तिविरुद्ध है, तो यह (उधर भी) समान है' अर्थात् यदि ऐसा कहो, कि शरीर आदि की नित्यता तो प्रमाणविरुद्ध है, इस लिए नहीं कल्पना की जा सकती, तो प्रमाण विरुद्ध सुख की नित्यता भी कल्पना नहीं की जा सकती। (इस लिए—)

'संसार के दुःख का जो अत्यन्त अभाव है, उस में सुख शब्द का प्रयोग होने से आगम के होते हुए भी विरोध नहीं है' अर्थात् यदि कोई आगम भी हो, कि मुक्त को नित्य सुख होता है, तो सुखशब्द वहां आत्यन्तिक दुःखाभाव में प्रयुक्त हुआ है, यह बन सकता है। क्योंकि लोक में बहुधा दुःखाभाव में सुख शब्द का प्रयोग देखा गया है (जैसे धूप में भार उठाए चलता हुआ वृक्ष की छाया पा भार उतार कर कहता है 'मैं सुखी होगया हूं')

(किञ्च)—'नित्यसुख में राग के बना रहने पर मोक्षकी प्राप्ति का अभाव होगा,क्योंकि राग के बन्धन होने में सबकी एक सम्मति है' अर्थात् यदि यह (मुमुक्षु) 'मोक्ष में नित्यसुख अभिव्यक्त होता है' ऐसा जान नित्यसुख के राग से प्रेरित हुआ मोक्ष के लिए चेष्टा करेगा, तो मोक्ष को नहीं पायगा, पाने के योग्य नहीं होगा, क्योंकि राग को सब ने बन्धन माना है, और बन्धन के होते हुए कोई भी 'मुक्त है' ऐसा नहीं ठहर सकता है।

'नित्यसुख का राग न रहने से वह प्रतिकूल नहीं' अर्थात् अब यदि यह कहो, कि नित्यसुख का राग इस का दूर हो जाता है, उस के दूर हो जाने पर फिर यह नित्य सुख का राग इस के प्रतिकूल नहीं होता। सो यदि ऐसे हैं, तो फिर मुक्त को नित्य सुख होता है, या नहीं होता है, इन दोनों पक्षों में इस की मोक्ष प्राप्ति में कोई

भेद नहीं आता (अर्थात् जिस अर्थ में राग नहीं, उसका होना न होने की अवस्था से कोई भेद नहीं डालता) ।

अवतरणिका—तो अब क्रमप्राप्त जो संशय है, उसी का लक्षण कहना चाहिये, इस लिए वह कहा जाता है—

समानानेकधर्मोपपत्ते र्विप्रतिपत्ते रुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षोविमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

(१) समान धर्म की वा (२) अनेकों के धर्म की प्रतीति से (३) विप्रतिपत्ति (=किसी विषय के विवादग्रस्त होने) से, (४) प्रतीति और (५) अप्रतीति की अव्यवस्था से, विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है *

भाष्य—(१) (अनेक पदार्थों के) समान धर्म की प्रतीति से जो विशेष की आकांक्षा वाला विचार उत्पन्न होता है, वह संशय है । जैसे स्थाणु और पुरुष के समान धर्म-ऊंचाई और फैलाव को देखता हुआ, और पहले देखे हुए उनके भेद को जानना चाहता

---

* 'विशेष की (आकांक्षा) वाला विचार संशय है' इस का हर एक के साथ सम्बन्ध करके इस प्रकार संशय के विशेष रूप कहे हैं (१) समान धर्म की प्रतीति से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है (२) अनेकों के धर्म की प्रतीति से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है (३) विप्रतिपत्ति से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है (४) उपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है (५) अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है । उदाहरण भाष्य में देखो ।

हुआ पुरुष जब 'यह क्या है' इस प्रकार दोनों में से एक का निश्चय नहीं करता है, तब यह अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय है। इन के समान धर्म (ऊंचाई और फैलाव) को तो उपलब्ध कर रहा हूं, पर इन दोनों में से किसी एक का जो विशेष धर्म है, उस को, नहीं उपलब्ध कर रहा,' यह जो बुद्धि है, यह अपेक्षा (जिज्ञासा) है, यह संशय की प्रवर्तिका है। इस लिए विशेष की अपेक्षा वाला विचार संशय है।

(२) अनेकधर्म की प्रतीति से अर्थात् सजातीय और असजातीय है अनेक, उस अनेक के धर्म की प्रतीति से (संशय होता है), क्योंकि जो विशेष (अब प्रतीत हुआ है, उस) को (पहले) दोनों (सजातीयों वा असजातीयों) में देखा हुआ नहीं है।* सभी पदार्थ सजातीयों से वा असजातीयों से (अपने २ विशेष धर्मों से) अलग किये जाते हैं। जैसे गन्ध वाली होने से पृथिवी जल आदि (द्रव्यों सजातीयों) से और गुण कर्मों (असजातीयों) से अलग की जाती है।

अब शब्द में विशेष (दूसरों से भेद) विभागजत्व है (शब्द के विना अन्य कोई पदार्थ विभाग से उत्पन्न नहीं होता)। उस (शब्द) में-'यह द्रव्य है, वा गुण है, वा कर्म है,' ऐसा संशय उत्पन्न होता है। क्योंकि विशेष (जो विभागजत्व है वह) दोनों (सजातीयों वा असजातीयों) में पहले कहीं नहीं देखा है। सो क्या (शब्द द्रव्य है, और) द्रव्य होते हुए का यह गुणों और कर्मों से विशेष है वा गुण होते हुए का (द्रव्यों और कर्मों से) अथवा कर्म होते हुए का (द्रव्यों और गुणों से) है (यह संशय होता है)। यहां '(द्रव्य गुण कर्म इन) तीनों में से एक के निश्चायक धर्म को मैं उपलब्ध नहीं कर रहा हूं' यह जो (द्रष्टा की) बुद्धि है, यही विशेष की आकांक्षा है (जो कि संशय की प्रवर्तिका है)।

---

* यह तो संशय का प्रत्युदाहरण है। प्रत्युदाहरण के पीछे 'अब शब्द में विशेष' यहां से उदाहरण आरम्भ होगा।

३—विप्रतिपत्ति से (संशय होता है)। किसी एक अर्थ के विषय में परस्पर विरुद्ध दर्शन (ज्ञान) विप्रतिपत्ति है अर्थात् परस्पर की चोट, विरोध, एक साथ न होना। जैसे 'है आत्मा' यह एक दर्शन है (आस्तिक मत है,) 'नहीं है' यह दूसरा दर्शन (नास्तिक मत) है, और (किसी वस्तु का) 'सद्भाव और असद्भाव' दो इकट्ठे नहीं हो सकते। और दोनों में से एक का साधक हेतु उपलब्ध नहीं होता है, वहां तत्त्व के निर्णय का न होना संशय है।

४—प्रतीति की अव्यवस्था से (संशय), जैसे विद्यमान जल उपलब्ध होता है तालाब आदि में और मरु भूमि में किरणों में अविद्यमान जल (उपलब्ध होता है), इसकारण से कहीं उपलब्ध होते हुए जल में, तत्त्व के निश्चायक प्रमाण के न मिलने से, यह संशय होता है— क्या यह विद्यमान उपलब्ध हो रहा है वा अविद्यमान।

५—अनुपलब्धि की व्यवस्था से (संशय)-जैसे, विद्यमान भी उपलब्ध नहीं होता है, मूली के कील का जल आदि, और अविद्यमान जो उत्पन्न नहीं हुआ वा नष्ट हो गया है (वह भी उपलब्ध नहीं होता है)। तब कहीं उपलब्ध न होते हुए पदार्थ के विषय में संशय होता है— क्या विद्यमान उपलब्ध नहीं होता है, वा अविद्यमान उपलब्ध नहीं होता है, यह संशय होता है। विशेष की आंकाक्षा पूर्ववत् (यहां भी संशय की प्रवर्तिका जाननी)।

(संशय के जनक—समान धर्म, अनेक धर्म, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था इन पांचों में से) पूर्वला समान और अनेकधर्म ज्ञेय (विषय) में रहता है, और, उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता के धर्म हैं, इतने मात्र भेद से (उपलब्धि और अनुपलब्धि का) अलग कथन है †

---

† विद्यमान और अविद्यमान दोनों की उपलब्धि वा दोनों की अनुपलब्धि, यह भी उन दोनों के समान धर्म हैं, इस लिए

'समान धर्मोपपत्तेः'=समान धर्म के ज्ञान से विशेष स्मृति की अपेक्षा वाला विचार संशय है ।

अवतरणिका—क्रमप्राप्तों का लक्षण (कहा जा रहा है) यह बराबर है—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।२४।

जिस अर्थ* को लक्ष्य में रख प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन है ।

प्रथम लक्षण में ही आ जाते हैं, संशय के अलग कारण नहीं हो सकते, इस अभिप्राय से वार्तिककार आदि ने तो साधारण धर्म, असाधारण धर्म और विप्रतिपत्ति ये तीन ही संशय के कारण माने हैं, और सूत्रस्थ 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षोविमर्शः संशयः' इतने अंश को तीनों का शेष मान कर यह अर्थ किया है (स्थाणु और पुरुष के) समान धर्म (ऊंचाई और फैलाव) की प्रतीति से, और दोनों में से एक के धर्म की उपलब्धि और दूसरे के विशेष धर्म की अनुपलब्धि न होने से विशेष की अपेक्षा वाला विचार संशय होता है । इसी प्रकार दूसरे दोनों लक्षण भी जानने । परन्तु भाष्यकार के मत से सूत्राभिमत संशय पांच प्रकार का है । यद्यपि अन्त्य के दो भेद प्रथम भेद के अन्तर्गत हो सकते हैं, तथापि वहां जो धर्म संशय जनक है ऊंचाई और फैलाव, वह ज्ञेय का धर्म है, और यहां जो धर्म हैं उपलब्धि और अनुपलब्धि, ये ज्ञेयगत नहीं, ज्ञातृगत हैं, इतने मात्रभेद से ये दो भेद अलग किये हैं

* अर्थ दो प्रकार का है, मुख्य और गौण, मुख्य अर्थ तो सुख की प्राप्ति वा दुःख का परिहार है । और गौण इन दोनों के साधन हैं । यहां अर्थ शब्द से दोनों प्रकार के अर्थ अभिप्रेत हैं ।

भाष्य—जिस पाने योग्य वा त्यागने योग्य अर्थ का निश्चय करके पुरुष उस की प्राप्ति वा परिहार का उपाय करता है, उसे प्रयोजन जानो। 'इस अर्थ को मैं प्राप्त करूंगा, वा त्यागूंगा' ऐसा जो निश्चय है, यह प्रवृत्ति का कारण होने से अर्थ का लक्ष्य है, इस प्रकार निश्चय किया अर्थ लक्ष्य में रखा जाता है।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि की जिस अर्थ में समता हो वह दृष्टान्त है।

भाष्य—लोक की समता से जो आगे बढ़े हुए न हों (जैसी बुद्धि सर्व साधारण की हुआ करती है, वैसी बुद्धि वाले हों) वे लौकिक हैं, अर्थात् वे जो कि स्वभावतः वा शिक्षा से बुद्धि के चमत्कार को नहीं पाए हुए। इन से विपरीत परीक्षक होते हैं, जो कि तर्क और प्रमाणों से अर्थ को परख सकते हैं। लौकिक पुरुष जिस अर्थ को जैसा समझते हैं, वैसा ही यदि उस को परीक्षक भी समझते हैं, तो वह अर्थ दृष्टान्त है।

दृष्टान्त का विरोध दिखला कर प्रतिपक्ष खण्डन किये जाने चाहियें, और दृष्टान्त का मेल दिखला कर अपने पक्ष स्थापन किये जाने चाहिये। और अवयवों में (दृष्टान्त) उदाहरण का काम देता है (देखो ३२)

अवतरणिका—अब सिद्धान्त(कहते हैं) अमुक पदार्थ इस प्रकार का है, ऐसे माना हुआ अर्थसमुदाय है सिद्ध। सिद्ध का अन्त सिद्धान्त। अन्त=व्यवस्था अर्थात् ऐसा है, इस बात की व्यवस्था। सो यह—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम की व्यवस्था सिद्धान्त है*

भाष्य—(१) तन्त्र के अर्थों की व्यवस्था तन्त्रव्यवस्था है। तन्त्र-एक दूसरे से सम्बद्ध अर्थसमूह का उपदेशरूप शास्त्र है। (२) किसी अधिकरण के आनुषंगिक अर्थों की व्यवस्था अधिकरण व्यवस्था है। (३) मान लेने की व्यवस्था अर्थात् किसी अनिर्णीत अर्थ का स्वीकार करके उस के विशेष (धर्म) की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है। तन्त्र के भेद से वह (सिद्धान्त) चार प्रकार का है।

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम की व्यवस्था के भेद से।

---

* यह अर्थ भाष्य के अनुसार है। वार्तिक के अनुसार यह अर्थ होगा-शास्त्र के आधार पर अर्थों के मानने की व्यवस्था सिद्धान्त है। वार्तिककार के अनुसार इस सूत्र में सिद्धान्त का सामान्यलक्षण कह कर अगले सूत्र में विभाग किया है। भाष्यकार के अनुसार सामान्य लक्षण 'सिद्धस्य अन्तः' इस निर्वचन से निकल आता है। और यह सूत्र सिद्धान्त के तीन भेद दिखलाता है-तन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त, और अभ्युपगम सिद्धान्त। और इस से अगला सूत्र तन्त्रसिद्धान्त के दो भेद करके सिद्धान्त के चार भेद दिखलाता है।

भाष्य—ये चार व्यवस्थाएं एक दूसरे से भेद रखती हैं। इन में से—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्र-सिद्धान्तः ॥ २८ ॥

सारे शास्त्रों से अविरुद्ध अपने शास्त्र में माना हुआ अर्थ सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

भाष्य—जैसे घ्राण आदि इन्द्रिय हैं, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय हैं, पृथिवी आदि भूत हैं, प्रमाणों से पदार्थ का ज्ञान होता है।

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्र-सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

समान (अपने एक) शास्त्र से सिद्ध हो और पर शास्त्र से असिद्ध हो, वह प्रतितन्त्रसिद्धान्त है।

भाष्य—जैसे, 'असत्' का स्वरूप लाभ नहीं होता, और 'सत्' का स्वरूप नाश नहीं होता (अभाव से भाव और भाव का अभाव नहीं होता), चेतन आत्मा ऐसे हैं, जिन में कभी कोई भेद (स्वरूप वा धर्म में) नहीं आता। देह, इन्द्रिय, मन, विषय और उन २ के जो कारण हैं इन में विशेष (अतिशय) है, यह है (सिद्धान्त) सांख्यों का। और पुरुष का कर्म आदि जीवों की सृष्टि का निमित्त है, दोष और प्रवृत्ति कर्म के हेतु हैं, अपने २ गुणों वाले (एक दूसरे से अतिशय वाले) हैं चेतन, असत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ नष्ट होता है यह है योगों* का (सिद्धान्त)।

यत्सिद्धावन्यप्रकणसिद्धिः सोऽधिकरण-सिद्धान्तः ॥ ३० ॥

---

* यहां योग से कौन योग अभिप्रेत हैं, यह निर्णेतव्य है।

जिस अर्थ की सिद्धि करने में अन्य प्रकरण (प्रसंगागत अर्थ) की सिद्धि (अपने आप) हो जाय, वह अधिकरण सिद्धान्त है ।

भाष्य—जिस (अर्थ) की सिद्धि करने में और अर्थ प्रसंग से सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् उन के (माने बिना) वह अर्थ सिद्ध नहीं होता, वे (आनुषंगिक अर्थ) जिस के आधार पर सिद्ध होते हैं, वह अधिकरण सिद्धान्त है । जैसे देह और इन्द्रियों से अलग है जानने वाला, क्योंकि देखने और छूने से एक अर्थ का ग्रहण होता है (३ । १ । १) इत्यादि । यहां आनुषंगिक अर्थ यह हैं (अर्थात् देखने छूने से एक अर्थ को ग्रहण करना आत्मा की सिद्धि में हेतु तब बन सकता है, जब ये बातें भी मानी जाएं) इन्द्रिय नाना हैं (देखने का साधन एक इन्द्रिय है और छूने का दूसरा है) इन्द्रियों के विषय नियत हैं (नेत्र देखता ही है छूता नहीं, त्वचा छूती ही है, देखती नहीं,) अपने २ विषय का ग्रहण हर एक इन्द्रिय का लिङ्ग (ज्ञापक) है, इन्द्रिय ज्ञाता के ज्ञान के साधन हैं, गन्ध आदि गुणों से अलग होता है द्रव्य, जो गुणों का आश्रय होता है, चेतन (आत्मा) जो हैं, उन का विषय (इन्द्रियों की नाईं) नियत नहीं (अर्थात् देखना छूना सभी उन के विषय हैं) । सो उस पहले अर्थ की सिद्धि (देखने छूने द्वारा एक अर्थ के ग्रहण करने से आत्मा की सिद्धि) में ये सारे अर्थ सिद्ध होते हैं, इन के बिना वह अर्थ सिद्ध नहीं होता ।

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

बिना परखे (अर्थ) को स्वीकार कर, उस के विशेष की परीक्षा करना अभ्युपगम सिद्धान्त है ।

भाष्य—जब कोई अर्थ बिन परखे मान लिया जाता है। जैसे 'हो शब्द द्रव्य, पर वह नित्य है वा अनित्य है,' इस प्रकार द्रव्य होते हुए की नित्यता वा अनिन्यता, जो उसका विशेष धर्म है, उसकी परीक्षा की जाती है, वह अभ्युपगमसिद्धान्त है। अपनी बुद्धि का अतिशय जितलाने की इच्छा, और दूसरे की बुद्धि का अनादर करने से (यह सिद्धान्त) प्रवृत्त होता है* ।

अवतरणिका—अब अवयव (कहते हैं)—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।३२

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन (ये पांच) अवयव हैं।

भाष्य—कई नैयायिक (अनुमान-) वाक्य में दस अवयव बतलाते हैं (उन में से पांच ये-) (अनुमेय वस्तु की) जिज्ञासा (उस के विषय में) संशय, शक्य प्राप्ति (जान सकना), प्रयोजन, संशय का दूरीकरण। ये (पांच) क्यों नहीं कहे ? उन में से अज्ञात अर्थ के जानने में प्रवृत्त कराने वाली जिज्ञासा हुआ करती है। अज्ञात अर्थ को क्यों जानना चाहता है, इस लिए, कि उस को पूरा २ जान कर त्यागूंगा वा ग्रहण करूंगा, वा उपेक्षा करूंगा, ये जो (वस्तु के) त्याग, ग्रहण वा उपेक्षा की बुद्धि है, यह तत्त्वज्ञान का प्रयोजन है, उस के लिए यह जिज्ञासा करता है। सो यह

* वार्तिककार के मत से अपरीक्षित का अर्थ है असूत्रित अर्थात् जो सूत्र में साक्षात् न कहा हो। जैसे मन को सूत्र में इन्द्रियत्वेन कहीं नहीं कहा, पर सूत्रकार ने मन की विशेषपरीक्षा जो की है, इस से प्रतीत होता है, कि सूत्रकार को मन इन्द्रियत्वेन अभिमत है, यह अभ्युपगमसिद्धान्त है।

(जिज्ञासा) इस (अर्थ) का साधन नहीं (इस लिए अवयव नहीं) । और संशय, जो जिज्ञासा का आश्रय है, वह परस्पर विरुद्ध धर्मों के इकट्ठा प्रतीत होने के कारण तत्त्वज्ञान का निकटवर्ती है। क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मों में से एक ही तत्त्व (=यथार्थ) होने का हक रखता है (दोनों नहीं)। वह (संशय) यद्यपि (पूर्व २३ में) अलग बतला दिया है, पर अर्थ का साधन नहीं (इस लिए अवयव नहीं)। प्रमेय की प्राप्ति के लिए प्रमाता के पास प्रमाणों का होना शक्यप्राप्ति है, यह भी प्रतिज्ञा आदि की नाईं साधक=वाक्य का अंग नहीं होती। प्रयोजन तत्त्व का निर्णय है, यह साधक-वाक्य का फल है, न कि अवयव। संशयव्युदास है विरोधी पक्ष का बतलाना, इस लिए, कि उस के प्रतिषेध में तत्त्व का निश्चय हो जाय*, पर यह साधक वाक्य का अंग नहीं है। सो ये जिज्ञासा आदि तो निरा प्रकरण (चलाने) में समर्थ हैं, क्योंकि अर्थ का निर्णय करने में सहायक हैं, पर प्रतिज्ञा आदि जो हैं, ये तत्त्व के साधक हैं, इस लिए साधकवाक्य के भाग हैं अंग हैं अवयव हैं।

अवतरणिका—विभाग किये हुए उन (अवयवों) में से—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

साध्य का दिखलाना प्रतिज्ञा है।

भाष्य—जितलाने योग्य जो धर्म है, उस धर्म से विशिष्ट धर्मी के स्वीकार का वचन प्रतिज्ञा है अर्थात् साध्य का दिखलाना जैसे शब्द अनित्य है† ।

---

* जैसे यदि यहां अग्नि न होती, तो धूम न होता। यह तर्क ही संशयव्युदास है।

† शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञावाक्य है । यहां शब्द के अस्तित्व की प्रतिज्ञा नहीं की, कि 'शब्द है' किन्तु शब्द के अनित्य

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ।३४

उदाहरण के समान धर्म वाला होने से साध्य का साधन (=साधक वचन) हेतु है।

भाष्य—उदाहरण के समान होने से साध्यधर्म का साधन =बोधन हेतु है, अर्थात् साध्य और उदाहरण-दोनों में (साध्य के साधक) एक धर्म का स्मरण करके, उस धर्म को साधन के रूप में कथन हेतु है। जैसे 'उत्पत्ति धर्म वाला होने से'। इस लिए कि उत्पत्ति धर्म वाला सब अनित्य देखा गया है*।

अवतरणिका—क्या इतना ही हेतु का लक्षण है ? नहीं, यह उत्तर है। तब (और) क्या (लक्षण है),उत्तर—

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

वैसे विरुद्ध धर्म वाला होने से।

भाष्य—उदाहरण के साथ विरुद्ध धर्म वाला होने से साध्य का साधन हेतु है। (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर) शब्द अनित्य है,

---

होने की प्रतिज्ञा की है, कि शब्द अनित्य है। सो शब्द की अनित्यता साध्य है। शब्द पक्ष है, जिस में अनित्यता दिखलाने लगे हैं। यह पक्ष धर्मी (=विशेष्य) है, और साध्य उस का धर्म (=विशेषण) है। इस प्रकार धर्म से विशिष्ट धर्मी का स्वीकारवचन प्रतिज्ञा है। सो यद्यपि शब्द स्वरूप से तो सिद्ध है, साधनीय नहीं, तथापि अनित्यता धर्मविशिष्ट रूप में साध्य ही है सिद्ध नहीं।

* 'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञा में साधक हेतु है-उत्पत्ति धर्म वाला होने से। यह धर्म जैसा साध्य शब्द में है, वैसा ही उदाहरण बटलोई में देखा गया है, जो कि अनित्य है। सो शब्द में अनित्यता के साधन के लिए उत्पत्ति वाला होना हेतु है।

क्योंकि नित्य वह होता है, जो अनुत्पत्ति धर्म वाला हो जैसे आत्मादि द्रव्य*

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साध्य के समान धर्म वाला होने से उस के (=साध्य के) धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण है†।

भाष्य—साध्य के साथ, साधर्म्य=समान धर्म वाला होना। और (साध्यसाधर्म्यात्) साध्य के साथ समान धर्म वाला होने के कारण। 'तद्धर्म भावी दृष्टान्तः' तद्धर्म=उस का धर्म, उस का=साध्य का। साध्य दो प्रकार का होता है, या तो धर्मि विशिष्ट धर्म

---

* भाष्यकार के मत से पूर्वला हेतु अन्वयी हेतु है, जो २ उत्पत्ति धर्म वाला है, वह २ अनित्य है। और यह व्यतिरेकी हेतु है, जो २ नित्य है, वह २ उत्पत्ति धर्म वाला नहीं है। पर वार्तिककार ने इस उदाहरण का खण्डन किया है, क्योंकि यहां हेतु की विलक्षणता नहीं, उदाहरण की विलक्षणता है, और वह 'तद् विपर्ययाद् वा विपरीतम्' (२७) से चरितार्थ है। अतएव इस का उदाहरण यह है 'यह जीवित शरीर आत्मा से शून्य नहीं, क्योंकि ऐसा होता तो प्राणादि से रहित होता'। अर्थात् अन्वयी हेतु पूर्व सूत्र में कहा है और केवल व्यतिरेकी इस सूत्र में।

† साध्य से यहां अभिप्राय धर्मविशिष्ट धर्मी से है, अर्थात् पक्ष। सो पक्ष में जो साध्य साधन धर्म हैं, वही धर्म जिस दृष्टान्त में हों, वह उदाहरण होता है। शब्द में साध्य धर्म अनित्यता और साधन धर्म उत्पत्ति वाला होना है, यही दोनों धर्म बटलोई में साध्य साधन हैं, इस लिए उत्पत्तिमत्व हेतु से शब्द की अनित्यता साधन में बटलोई उदाहरण बन सकती है।

जैसे शब्द की अनित्यता । अथवा धर्म विशिष्ट धर्मी, जैसे अनित्य है शब्द । (पूर्वले में धर्मी विशेषण और धर्म विशेष्य है, दूसरे में धर्म विशेषण और धर्मी विशेष्य होता है) । यहां दूसरा (=धर्म विशिष्ट धर्मी) ('तद्धर्म' में) तत् शब्द से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि (तद्-धर्म में) धर्म शब्द का जो अलग ग्रहण किया है (यदि साध्य यहां धर्मिविशिष्ट धर्म होता, तो साध्य ही कहते, साध्य का धर्म न कहते) । उस (साध्य) का धर्म= तद्धर्म । तद्धर्म का होना=तद्धर्म भाव, वह जिस दृष्टान्त में है, वह दृष्टान्त है–'साध्य साधर्म्यात् तद्धर्मभावी'। वह उदाहरण माना जाता है । जैसे जो उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति धर्म वाला है । वह (किसी समय) हो कर फिर नहीं रहता है । अपने स्वरूप को त्यागता है=नष्ट होता है, इस लिए अनित्य है । इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाला होना साधन और अनित्यता साध्य है । सो यह एक में (=दृष्टान्त में) दो धर्मों का साध्यसाधन भाव (साध्य के) साधर्म्य से उपलब्ध होता है, उस को दृष्टान्त में उपलब्ध करता हुआ शब्द में अनुमान करता है, कि शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है जैसे बटलोई आदि । (उदाहरण का निर्वचन–) बतलाया जाता है दो धर्मों का परस्पर साध्यसाधन भाव जिस से, वह उदाहरण है ।

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

अथवा उस के उलट से (=साध्य के वैधर्म्य से) उलटा (न साध्य के धर्म वाला) दृष्टान्त उदाहरण होता है ।

भाष्य--'दृष्टान्त उदाहरणम्' यह चला हुआ है । सो साध्य के साथ विरुद्ध धर्म वाला होने से, न उस के (साध्य के) धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है (यह अभिप्राय हुआ) जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्म वाला होने से, अनुत्पत्ति धर्म वाला नित्य

ोता है जैसे आत्मा आदि। सो यह आत्मा आदि दृष्टान्त, साध्य से विरुद्ध धर्मी होने से अर्थात् अनुत्पत्ति धर्म वाला होने से 'अतद्धर्मभावी' है। अर्थात् जो साध्य का धर्म है अनित्यता, वह इस में (आत्मा में) नहीं होता है। यहां आत्मादि दृष्टान्त में 'उत्पत्ति धर्म के न होने से अनित्यता नहीं है,' यह उपलब्ध करता हुआ शब्द में इस का उलट अनुमान करता है, कि उत्पत्ति धर्म के होने से शब्द अनित्य है। साधर्म्य से कहे हेतु का तो-साध्य के साथ समान धर्म वाला होने से, उस के धर्मभाव वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, और वैधर्म्य से कहे हेतु का-साध्य के साथ वैधर्म्य से, न उस के धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है। पहले दृष्टान्त में जिन दो धर्मों को साध्यसाधन हुए देखता है, साध्य में भी उन दोनों का साध्यसाधन होना अनुमान करता है, दूसरे दृष्टान्त में, जिन दो धर्मों में से एक के अभाव से दूसरे का अभाव देखता है, साध्य में भी उन दोनों में से एक के अभाव से दूसरे का अभाव अनुमान करता है। यह बात (अर्थात् अन्वयव्याप्ति वा व्यतिरेकव्याप्ति) हेत्वाभासों में नहीं घट सकती, इस लिए हेत्वाभास हेतु नहीं होते। सो यह हेतु और उदाहरण का सामर्थ्य बड़ा सूक्ष्म है, इस का जानना बड़ा कठिन है बड़े उत्तम पण्डितों से जानने योग्य है (क्योंकि साध्य की सिद्धि निर्दुष्ट हेतु और निर्दुष्ट उदाहरण पर ही अवलम्बित है)।

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

उदाहरण की दृष्टि से 'यह वैसे है' अथवा 'वैसे नहीं है' इस प्रकार जो साध्य का उपसंहार है, वह उपनय है*।

---

* उदाहरण साध्य साधर्म्य से हो, तो 'यह वैसे है' इस

भाष्य–उदाहरणापेक्षः=उदाहरण के अधीन। साध्यसा-
वाले उदाहरण में तो 'स्थाली आदि द्रव्य जो उत्पत्ति धर्म व
है, वह अनित्य देखा है, वैसे शब्द उत्पत्ति धर्म वाला है' इस प्र
साध्य जो शब्द है, उस का उत्पत्ति धर्म वाला होना उपसं
किया जाता है। और साध्य वैधर्म्य वाले उदाहरण में 'आत्म
द्रव्य जो अनुत्पत्ति धर्म वाला है, वह नित्य देखा गया है'। 'श
वैसा नहीं है' इस प्रकार अनुत्पत्ति धर्म के उपसंहार का नि
करने से उत्पत्ति धर्म वाला होना उपसंहार किया जाता है। यह
संहार का दो प्रकार होना उदाहरण के दो प्रकार के कारण ह
है। (उपसंहार का निर्वचन-) समाप्त किया जाता है जिस
वह उपसंहार जानना चाहिये। दो प्रकार के हेतु, और दो प्रका
उदाहरण का उन के समान ही दो प्रकार का उपसंहार होता

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निग
मम् ॥ ३९ ॥

हेतु (व्याप्तिविशिष्टहेतु) के कथन से प्रतिज्ञा का
राना निगमन है*

भाष्य--साधर्म्य से कहे वा वैधर्म्य से कहे (हेतु) में
प्रकार उदाहरण का उपसंहार किया जाता है (वैसा ही निग

प्रकार उपनय होता है। वैधर्म्य से हो, तो 'यह वैसे नहीं है'
प्रकार उपनय होता है।

* प्रतिज्ञा वाक्य में जिस के सिद्ध करने की प्रतिज्ञा
जाती है, निगमन वाक्य में उसी को सिद्ध हुआ दिखलाया ज
है। जैसे 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है, 'इस कारण अनित्य है'
निगमन है।

ता है)। 'इसलिए उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है' ह निगमन है । सम्बद्ध किये जाते हैं जिस से प्रतिज्ञा हेतु दाहरण और उपनय एक स्थान में, वह निगमन है। 'नि+गम' ा अर्थ है समर्थन करना, सम्बद्ध करना। वहां साधर्म्य से कहे हेतु में न्यायवाक्य होगा-'शब्द अनित्य है', यह प्रतिज्ञा । उत्पत्तिधर्म वाला होने से 'यह हेतु'। 'उत्पत्ति धर्म वाला बटलोई ादि द्रव्य अनित्य हैं' यह उदाहरण 'वैसे उत्पत्ति धर्म वाला ब्द है' यह उपनय। 'इस लिए उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है शब्द' यह निगमन। वैधर्म्य से कहे हेतु में भी 'शब्द अनित्य है' (प्रतिज्ञा) 'उत्पत्ति धर्म वाला होने से' (हेतु) 'अनुत्पत्ति धर्म वाला आत्मादि द्रव्य नित्य देखा गया है' (यह उदाहरण) 'पर शब्द वैसा अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं' (यह उपनय), 'इसलिए उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है शब्द' (यह निगमन)।

(प्रतिज्ञादि) अवयवों का समुदाय जो (न्याय-) वाक्य है, उस में इकट्ठे होकर एक दूसरे के सम्बन्ध से प्रमाण (अनुमेय-) अर्थ की सिद्धि करते हैं। (प्रमाणों का) इकट्ठा होना यह है, कि प्रतिज्ञा तो शब्दविषयक होती है (अर्थात् शास्त्र प्रतिपादित विषय की प्रतिज्ञा की जाती है) क्योंकि आप्तोपदेश को (प्रतिज्ञा में रख कर) प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ मिलाया जाता है। अनृषि की स्वतन्त्रता नहीं बन सकती *। हेतु जो है वह अनुमान

* पारलौकिक विषयों में जो आप्तोपदेश है, उसी की प्रतिज्ञा करके अनुमान से सिद्धि करनी चाहिये, स्वतन्त्रता से नया सिद्धान्त मान कर नहीं, क्योंकि पारलौकिक विषयों में ऋषियों को ही साक्षात् होता है, अनृषि को नहीं । इस लिए वह अपनी स्वतन्त्रता से कोई बात नहीं कह सकता, हां लौकिक विषयों में सब स्वतन्त्र हैं।

है, क्योंकि उदाहरण में (हेतु साध्य की व्याप्ति) भली भांति कर उस को हेतु माना जाता है। और वह उदाहरण (३६ भाष्य में व्याख्या कर दिया है । उदाहरण प्रत्यक्षविषयक है, क्योंकि दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। उपनय जो है, उपमान है, क्योंकि 'यह वैसे हैं' ऐसा उपसंहार होता अथवा 'यह वैसे नहीं है' इस प्रकार उपमान धर्म का निषेध के उस से उलटे धर्म का उपसंहार सिद्ध होता है। (इन) (प्रमाणों) का एक अर्थ (अनुमेय) की सिद्धि में सामर्थ्य दिखलाना निगमन है † ।

(अवयवों का) आपस में सम्बन्ध भी है । यदि (पहले प्रतिज्ञा न हो, तो बिना आश्रय के हेतु आदि प्रवृत्त ही न हों (साध्य ही नहीं, तो हेतु किस का साधन हो, इत्यादि) । हेतु न तो साधन भाव किस का दिखलाया जाय (किस से साध्य सिद्धि हो) तथा उदाहरण और साध्य में किस का उपसंहार और किस के कथन से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन हो। उदाहरण न हो, तो किस के साथ साध्य साधन का साधर्म्य वा वैधर्म्य ग्रहण किया जाय, और किस के साधर्म्य के अधीन उपसंहार प्रवृत्त हो

---

† न्याय वाक्य में सारे प्रमाणों का इकट्ठ इस प्रकार दिखलाया, कि–प्रतिज्ञा शब्द प्रमाण है, क्योंकि उस में साध्य कोटि में कोई आप्तोपदेश रक्खा जाता है। हेतु अनुमान है, क्योंकि उदाहरण में हेतु साध्य की व्याप्ति देख कर हेतु अपने साध्य का लिङ्ग (अनुमान कराने वाला चिन्ह) निश्चित हो चुका है। उदाहरण प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि की जाती है, उपनय उपमान प्रमाण है, क्योंकि उस में ' जैसे गौ वैसे गवय इस वाक्य की नांई दृष्टान्त और साध्य का सादृश्य दिखलाया जाता है । इन चारों प्रमाणों के मिल कर काम करने का इकट्ठा फल निगमन में ' साध्य की सिद्धि के रूप में ' दिखला दिया जाता है ।

उपनय के बिना भी साध्य में उपसंहार न किया हुआ साधक-धर्म अर्थ को सिद्ध नहीं कर सके। और निगमन के अभाव में जब आपस का सम्बन्ध प्रकट न हो, तब प्रतिज्ञा आदि की एक प्रयोजन से प्रवृत्ति–अर्थात् 'इसलिए वैसे है' ऐसा प्रतिपादन किस का हो ॥

अब अवयवों का प्रयोजन कहते हैं। साध्य धर्म का धर्मी के साथ सम्बन्धग्रहण प्रतिज्ञा का प्रयोजन है। उदाहरण के समान वा उदाहरण के उलट जो साध्य धर्म है, उसके साधक धर्म का कहना हेतु का प्रयोजन है। (साध्यसाधनरूप) दोनों धर्मों का एक स्थान पर साध्यसाधनभाव दिखलाना उदाहरण का प्रयोजन है। उदाहरण में स्थित धर्मों का साध्यसाधनभाव सिद्ध हो जाने पर साध्य में उस से उलटी प्राप्ति का निषेध (उलटी शंका की निवृत्ति) निगमन का प्रयोजन है। (न्याय वाक्य में) हेतु और उदाहरण का जब ऐसा परिशोध हो जाय, तब निरे साधर्म्य वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (मुकाबिला करने) के ढंगों से जाति और निग्रहस्थानों की भरमार नहीं चल सकती (देखो १।२।१८–२१ और अध्याय ५)। क्योंकि उदाहरण में धर्मों के साध्यसाधनभाव की व्यवस्था किये बिना ही जातिवादी सामना करता है। और जब उदाहरण में धर्मों का अव्यभिचारी साध्यसाधनभाव जान लिया, तब तो साधन हुए धर्म का हेतुत्वेन ग्रहण किया जायगा, न कि निरे साधर्म्य का और न ही निरे वैधर्म्य का ॥

अवतरणिका—इस से आगे तर्क का लक्षण कहना चाहिये, अब यह कहा जाता है—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ मूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

वह अर्थ, जिस का तत्त्व ज्ञात नहीं (पर जानना चाहते हैं) उस में कारण के सम्भव से तत्त्व ज्ञान के लिए जो युक्ति है वह तर्क है ।

भाष्य—जिस अर्थ का तत्त्व (विशेष रूप) ज्ञात नहीं (किन्तु सामान्यरूप ज्ञात है), उस में पहले जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि 'मैं इसे जानूं'। अब जिज्ञासित वस्तु के परस्पर विरोधी दोनों धर्मों को अलग २ करके सोचता है, कि 'क्या यह है, वा यह नहीं है'। इन विचारास्पद धर्मों में से कारण के बन सकने से एक में अनुमति दे देता है, कि 'बन सकता है इस (धर्म) में कारण अर्थात् प्रमाण=हेतु। कारण के बन सकने से 'यह ऐसे ही होगा, इतरथा नहीं' (अर्थात् इस प्रकार तर्क विचारास्पद धर्मों में से एक को सम्भावना में ले आता है और दूसरों को हटा देता है। सम्भावना में लाए गए धर्म को फिर प्रमाण संभाल लेते हैं)। इस में उदाहरण-'जो यह ज्ञाता ज्ञेय पदार्थ को जानता है उस को मैं जानूं' यह जिज्ञासा है । 'वह क्या उत्पत्तिधर्म वाला है, वा अनुत्पत्तिधर्म वाला है (उत्पन्न हुआ है वा अनादि है) यह विचार है। इस विचारास्पद अज्ञात तत्त्व वाले अर्थ में, जिस धर्म की अनुमति देने का कारण बन जाता है, उसकी अनुमति दे देता है। जैसाकि 'यदि यह ज्ञाता अनुत्पत्ति धर्म वाला है, तब तो अपने किये कर्म का फल अनुभव करता है (अर्थात् जन्मान्तर ग्रहण कर इस जन्म में किये कर्मों का फल भोग सकता है)। तथा दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान इन में से अगला २ पूर्वले २ का कारण है, अतएव अगले २ के नाश से उस २ से पूर्वले २ का अभाव होने से अपवर्ग होता है (देखो पूर्व २) इस प्रकार संसार और मोक्ष दोनों हो सकते हैं। पर यदि ज्ञाता उत्पत्ति धर्म वाला हो, तो ये दोनों नहीं हो सकें, क्योंकि उत्पन्न हुआ ज्ञाता (आत्मा) देह इन्द्रिय बुद्धि और वेदना के साथ सम्बद्ध होता है

इस लिए यह सब इसके अपने किये कर्म का फल न हुआ (क्योंकि इसने तो अब कर्म करने हैं, पहले था ही नहीं), और उत्पन्न हो कर फिर अविद्यमान हो जायगा। सो जब वह विद्यमान ही न रहा, नष्ट हो गया, तब उसको अपने किये कर्म के फल का उपभोग भी नहीं बना। सो इस प्रकार एक को अनेक शरीरों का सम्बन्ध (जो कि संसार है) और शरीर का अत्यन्त वियोग (जो कि मोक्ष है) नहीं हो सकता * इस लिए जिस (पक्ष) में कारण का सम्भव देखता है, उसकी अनुमति देता है †। सो यह इस प्रकार का युक्तियुक्त विचार तर्क कहलाता है॥

(प्रश्न) अच्छा (तो जब तर्क ने दूसरे पक्षों को हटा कर एक ही पक्ष को टिकाया) तो फिर यह तत्त्वज्ञान के लिए कैसे हुआ, स्वयं तत्त्वज्ञान ही क्यों नहीं? (उत्तर) अवधारण न करने से (फैसला न देने से)। अर्थात् यह कारण के सम्भव से (विचारणीय) दोनों धर्मों में से एक की अनुमति देता है, पर अवधारण नहीं करता है,=निश्चय नहीं कराता है कि 'यह ऐसे ही है' ‡

---

* यह तर्क बौद्धों को समझाने के लिए हैं, जो कि विज्ञान (जो उनके मत में आत्मा है) को उत्पत्तिधर्म वाला मानते हैं, और आत्मा का संसार और अपवर्ग भी मानते हैं। किन्तु उन के लिए यह तर्क नहीं, जो कि देह इन्द्रियादि से अलग आत्मा को मानते ही नहीं, उनके लिए अलग तर्क हैं।

† यहां आत्मा के अनुत्पत्ति धर्म वाला होने में ही संसार अपवर्ग बन सकता है, इसलिए इसी के अनुमान की अनुमति देता है॥

‡ 'यह ऐसे होसकता है' यहां तक ही तर्क पहुंचाता है, 'यह ऐसे ही है' ऐसा निश्चय नहीं कराता। 'यह ऐसे ही है' यह निश्चय प्रमाण कराता है। तर्क पहले तत्त्व ज्ञान का मार्ग शुरू करता है, तब प्रमाण प्रवृत्त होकर तत्त्वज्ञान करा देता है।

(प्रश्न) अच्छा तो तत्त्व ज्ञान के लिए कैसे है ? (उत्तर) तत्त्व ज्ञान के विषय में जो इसने अनुमति देदी, यह इसका (तत्त्व ज्ञान पर) अनुग्रह है, इस अनुग्रह का फल, जो कि बिना रोकके प्रमाण की प्रवृत्ति है, उससे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार 'तत्त्व ज्ञान के लिए है'।

सो यह तर्क प्रमाण का प्रवेश कराता हुआ प्रमाण में अनुमति देने से प्रमाणसमेत वाद में लगाया गया है (१।२।१)। जो तत्त्व अभी तक निश्चत नहीं हुआ उसकी अनुमति देता है । जैसे वह अर्थ होता है, उस का वैसे होना तत्त्व कहलाता है, अर्थात् न उलट, ज्यों का त्यों होना ।

अवतरणिका-यह जो तर्क का विषय है, इस में--

विमृश्यपक्ष प्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ।४।

संशय उठाकर पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण निर्णय है।

भाष्य-साधन = स्थापना वा मण्डन, उपालम्भ = खण्डन । वेखण्डन मण्डन पक्ष प्रतिपक्ष के आश्रित हुए एक दूसरे के साथ जुड़े हुए, लगातार चलते हुए, यहां पक्ष प्रतिपक्ष कहे हैं*। उन दोनों (पक्षों) में से अवश्यमेव एक निवृत्त होगा और एक टिकेगा, जो टिकेगा, उस का अवधारण निर्णय है।

(प्रश्न) पक्ष प्रतिपक्ष दोनों से तो अर्थ का अवधारण नहीं होता है ? क्योंकि (दोनों वादियों में से) एक अपने प्रतिज्ञात अर्थ की हेतु से स्थापना करता है, और (प्रतिवादी से) प्रतिषिद्ध अर्थ का उद्धार करता है । अब दूसरे वादी से, अपने प्रतिपक्षी का स्थापनाहेतु तो प्रतिषिद्ध किया जाता है, और

---

* अगले सूत्र में जो साधन और उपालम्भ कहने हैं, उन्हीं को यहां लक्षणा से पक्ष प्रतिपक्ष कहा है ।

प्रतिषेध का हेतु उद्धृत किया जाता है, तब वह पहलापक्ष निवृत्त हो जाता है, उसकी निवृत्ति होने पर अब जो टिकता है, उस एक से अर्थ का अवधारण निर्णय है (न कि दो से) ? (उत्तर) दोनों से अर्थ का अवधारण होता है, यह उत्तर है । किस युक्ति से ? (इस युक्ति से कि) एक का तो है संभव, और दूसरे का है असंभव, ये संभव और असंभव दोनों मिल कर संशय को मिटाते हैं। दोनों का संभव हो, वा दोनों का असंभव हो, तो संशय नहीं मिटेगा*। सो यह संशय पक्ष प्रतिपक्ष को चमकाकर न्याय का प्रवर्तक होता है, इसलिए (निर्णय में) ग्रहण किया है। पर यह बात (=एक का संभव और दूसरे का असंभव) एक धर्मी में स्थित परस्पर विरोधी धर्मों में ही जाननी चाहिये । जहां एकजाति के दो धर्मियों में विरुद्ध धर्म हेतु से बन सकते हैं, वहां (दोनों धर्मों का) समुच्चय (इकट्ठ) होता है, क्योंकि हेतु से वह अर्थ वैसा बन सकता है । जैसे । 'क्रिया वाला होता है द्रव्य' ऐसा लक्षण कहने पर, जिस द्रव्य का क्रिया के साथ सम्बन्ध हेतु से बन सकता है, वह क्रिया वाला होगा (जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन) जिसका नहीं बन सकता है, वह अक्रिय होगा (जैसे आकाश, काल, दिशा, आत्मा) । एक धर्मी में स्थित भी विरोधी धर्म, जो भिन्न २ काल में हों, उन का काल भेद (से संभव) हो

---

* जब दोनों वादी अपने २ पक्ष का उद्धार कर दें, दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध न करें, तब दोनों का संभव हुआ, और जब दोनों परपक्ष का प्रतिषेधमात्र करें, स्वपक्ष का उद्धार न करें, तब दोनों का असंभव हुआ, इन दोनों अवस्थाओं में निर्णय नहीं होगा, निर्णय तभी होगा, जब एक पक्ष का पूरा २ उद्धार हो जाय । और दूसरे का पूरा २ प्रतिषेध । इसलिए निर्णय साधन और प्रतिषेध दोनों के आधीन होता है ।

जाता है। जैसे वही द्रव्य जब क्रिया युक्त हुआ, तब क्रिया वाला है, (जैसे तोप से छूटा हुआ गोला) और वही क्रिया की उत्पत्ति से पूर्व, वा क्रिया के बंद होजाने के पीछे अक्रिय है।

निर्णय में यह नियम नहीं, कि संशय उठा कर ही पक्ष प्रतिपक्ष से अर्थ का अवधारण निर्णय है, किन्तु 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष...'(१।१।४) इस रीति से प्रत्यक्ष अर्थ के विषय में अव-धारण भी निर्णय है। सो परीक्षा विषय में तो 'संशय उठा कर पक्ष प्रतिपक्ष से अर्थ का अवधारण निर्णय है' पर शास्त्र में और वाद में संशय के विना (निर्णय) होता है।

इति वात्स्यायनीये न्याये भाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमान्हिकम् ।

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयान्हिकम् ।

अवतरणिका—तीन कथाएं होती हैं वाद, जल्प और वितण्डा। उन में से * :—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥१॥

पक्ष और प्रतिपक्ष का वह अंगीकार, जिस में प्रमाणों से और तर्क से साधन और प्रतिषेध हो, सिद्धान्त से विरुद्ध न हो, और पांच अवयवों से युक्त हो, वाद कहलाता है।

---

* किसी अर्थ के निर्णय के लिए वादी प्रतिवादी की जो बात चीत है, उसका नाम कथा है, वह तीन ही प्रकार की होती है। वाद जल्प और वितण्डा। तत्त्व निर्णय के लिए वाद होता है, और दूसरे को परास्त करने के लिए वा सिद्धान्त की रक्षा के लिए जल्प वितण्डा।

भाष्य—एक वस्तु में स्थित जो विरुद्ध दो धर्म हैं, वे पक्ष प्रतिपक्ष होते हैं, क्योंकि एक दूसरे के प्रतियोगी होते हैं, जैसे 'है आत्मा' और 'नहीं है आत्मा'। जो भिन्न वस्तुओं में विरुद्ध धर्म हों, वे पक्ष प्रतिपक्ष नहीं होते, जैसे नित्य है आत्मा 'अनित्य है बुद्धि'। परिग्रह=अंगीकार। सो यह पक्ष प्रतिपक्ष का अंगीकार वाद है, उसका विशेषण है--'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' अर्थात् प्रमाणों से और तर्क से इस में साधन और प्रतिषेध किया जाता है*। साधन=स्थापना, और उपालम्भ=प्रतिषेध। ये साधन और प्रतिषेध दोनों पक्षों में लगे रहते हैं, जब तक कि दोनों में से एक की निवृत्ति और दूसरे की स्थिति न हो जाय। जो निवृत्त हो गया, उस का तो (अन्तिम) प्रतिषेध, और जो स्थित हो गया, उसकी सिद्धि हो जाती है।

(आगे) जल्प में निग्रह स्थान का विनियोग बतलाया है, इस से वाद में उस का प्रतिषेध (अभीष्ट) हैं (अर्थात् वाद में निग्रहस्थान का प्रयोग नहीं करना चाहिये) प्रतिषेध में भी किसी (निग्रह स्थान) की अनुज्ञा के लिए 'सिद्धान्ताविरुद्धः'= सिद्धान्त से विरुद्ध न हो, कहा है। सो 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधीविरुद्धः' (१।२।४७) यह जो हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान है, इसकी वाद में अनुज्ञा है। और 'पञ्चावयवोपपन्नः=पांच अवयवों से युक्त' यह वचन 'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेनन्यूनम्' और हेतूदाहरणाधिक मधिकम्, (५।२।१२-१३) इन दोनों (निग्रह स्थानों) की अनुज्ञा के लिए है †।

---

* वाद वही है, जिस में प्रमाण और तर्क ही बर्ते जायं, छल जाति निग्रहस्थान नहीं, और जिस में न्याय प्रयोग सिद्धान्त के विरुद्ध न हों, और पांच अवयवों से युक्त हों।

† वाद जब तत्त्व निर्णय के लिए हुआ, तो उस के तीन

प्रमाण और तर्क अवयवों के अन्तर्भूत हैं, * फिर भी प्रमाण तर्क का अलग ग्रहण (१) (वाद में) साधन और प्रतिषेध की परस्पर जकड़ जितलाने के लिए हैं (अर्थात् वाद में प्रत्येकवादी को स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का प्रतिषेध साथ २ करना होता है)। अन्यथा यदि दोनों पक्ष निरे अपनी २ स्थापना के हेतु से प्रवृत्त हुए हों, वह भी वाद मानना होगा। (२) (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों के सम्बन्ध के बिना भी प्रमाण अर्थ को सिद्ध करते हैं, यह देखा जाता है। सो इस रीति पर भी वाद में साधन और प्रतिषेध होते हैं, यह भी (प्रमाण तर्क के अलग ग्रहण से सूत्र-

---

फल होते हैं, १-अज्ञान की निवृत्ति, २-संशय की निवृत्ति, ३-निश्चित तत्त्व की दृढ़ता। वाद में या तो जो तत्त्व पहले ज्ञात न था, उस का शिष्यादि को ज्ञान हो जाता है, या संदिग्ध था, तो संदेह मिट जाता है, या निश्चित था, तो पक्का हो जाता है। सो ऐसी कथा में अप्रतिभा आदि निग्रहस्थान नहीं बतलाए जाते, क्योंकि वे तत्त्व निर्णय के बाधक नहीं होते। पर विरुद्ध हेत्वाभास तत्त्व निर्णय का बाधक होता है, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास-रूपनिग्रहस्थान, तथा साधनादि के अभाव में साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती, इसलिए हीननिग्रहस्थान, और एक साथ अधिक हेतु आदि तत्त्व निर्णय में झमेला डालते हैं, इसलिए अधिकनिग्रहस्थान, ये तीन निग्रहस्थान वाद में भी बतलाए जाते हैं, ताकि तत्त्व निर्णय में रुकावट न हों।

* पांच अवयवों से युक्त वाक्य, बिना प्रमाण और उसके अनुग्राहक तर्क के हो नहीं सकता, इस लिए 'पञ्चावयवोपपन्न' कहने से प्रमाण तर्क का ग्रहण हो गया।

कार) जितलाता है * (३) छल जाति निग्रहस्थान से जिस में साधन और प्रतिषेध हो, वह जल्प है (१।२।२) इस कथन से ऐसा मत कोई जाने कि, जल्प वादवाले निग्रहस्थान से रहित होता है, अर्थात् छल जाति और निग्रहस्थानों से साधन और प्रतिषेध वाला ही जल्प होता है और प्रमाण तर्क से साधन और प्रतिषेध वाला वाद ही होता है, यह मत जाना जाय, इस प्रयोजन के लिए अलग प्रमाण और तर्क का ग्रहण है ।‡

---

* प्रमाण तर्क के अलग ग्रहण करने के तीन प्रयोजन बतलाए हैं पहला यह कि, 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' न कहते, तो दोनों वादी यदि प्रतिपक्ष का खण्डन न करते हुए भी अपने २ पक्ष की स्थापना करते, तो वह भी वाद माना जाता, क्योंकि पञ्चावयवोपपन्न अब भी है । पर प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ कहने से यह जितलाया है, कि वाद में प्रमाण से स्वपक्ष स्थापना के साथ ही तर्क से परपक्षका प्रतिषेध भी आवश्यक है ॥

† दूसरा प्रयोजन यह है, कि गुरुशिष्यादि पञ्चावयव वाक्य न रख कर भी प्रमाणों से तत्त्व का निर्णय करते देखे जाते हैं, यदि पञ्चावयवोपपन्न ही कहते, तो ऐसे विचार वाद से बहिर्भूत होजाते । अब प्रमाण तर्क के अलग ग्रहण से यह स्थिर कर दिया, कि वाद में पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग के बिना भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अर्थ का साधन होसकता है ।

‡ तीसरा प्रयोजन यह है, कि यदि यहां साधन और प्रतिषेध के कारण प्रमाण तर्क न कहते, तो आगे जल्प में छल जाति निग्रहस्थान से साधन और प्रतिषेध कहने से यह व्यवस्था सिद्ध होती, कि जल्प में छल जाति निग्रहस्थान से ही साधन और प्रतिषेध होते हैं और इस के विपरीत जहां प्रमाण तर्क से साधन प्रतिषेध हों, वह वाद ही ठहरता, अब यहां प्रमाणतर्कग्रहण

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

पूर्व कहे (विशेषणों) से युक्त हो पर जिस में छल जाति और निग्रहस्थानों से भी साधन और प्रतिषेध हो वह जल्प है।

भाष्य—'यथोक्तोपपन्नः' अर्थात् प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः = पक्ष प्रतिपक्ष का वह अंगीकार, जिस में प्रमाणों से और तर्क से साधन और प्रतिषेध हो, सिद्धान्त से विरुद्ध न हो, और पांच अवयवों से युक्त हो। 'छलजातीनिग्रहस्थान साधनोपालम्भः' का अभिप्राय है, कि छल, जाति और निग्रहस्थानों से साधन और प्रतिषेध इसमें किया जाता है। ऐसे विशेषणों वाला जल्प है।

(प्रश्न) छल जाति और निग्रहस्थानों से किसी अर्थ का साधन नहीं होसकता, इनके सामान्यलक्षण और विशेषलक्षण में (अर्थका) प्रतिषेध ही इन का प्रयोजन सुना जाता है, जैसे—'अर्थ का विकल्प बन सकने से वचन का खण्डन छल है' (१।२।५१) ' साधर्म्य और वैधर्म्य से खण्डन जाति है (१।२।५९) ' विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान है (१।२।६०) इसी प्रकार उनके अपने २ विशेष लक्षणों में भी (खण्डन ही प्रयोजन कहा है)।

करके जल्प में 'यथोक्तोपपन्नः' कहने से यह सिद्ध हुआ, कि यह नियम नहीं, कि वाद में ही प्रमाण तर्क से साधन और प्रतिषेध होता है, किन्तु जल्प में भी प्रमाण से साधन और तर्क से प्रतिषेध होता है। भेद यह है, कि जल्प में छल जाति निग्रहस्थान से भी साधन प्रतिषेध होता है, वाद में केवल प्रमाण तर्क से ही होता है।

(उत्तर) (जिज्ञासु) ऐसा न जानले, कि (जल्प में वादी-) निरा परपक्ष के प्रतिषेध द्वारा ही अर्थ की सिद्धि करते हैं, क्योंकि यह बातें इतना कहने से ही सिद्ध होजाती हैं, कि-'जिस में छल जाति और निग्रहस्थान से प्रतिषेध हो' । सो (निरा प्रतिषेध न कह कर साधन और प्रतिषेध कहने का यह अभिप्राय है कि) प्रमाणों से साधन और प्रतिषेध में छल जाति निग्रहस्थान अंग होते हैं, स्वतन्त्र होकर साधन नहीं, क्योंकि (ये सिद्धान्त की) रक्षा के लिए होते हैं । यह जो प्रमाणों से अर्थ का साधन है, उस में छल जाति निग्रहस्थान अंग होते हैं, क्योंकि इनका प्रयोजन सिद्धान्त की रक्षा होता है, ये बर्तें हुए परपक्षके खण्डन द्वारा अपने पक्षकी रक्षा करते हैं * । ऐसे ही कहा है-'तत्त्वनिश्चय की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा होते हैं, जैसे बीजांकुर की रक्षा के लिए कांटों वाली शाखाओं की बाड़ (४।२।५०, । और जो प्रमाणों से परपक्ष का प्रतिषेध है, उसके ये, उस निषेध का खण्डन करने से, सहकारी होते हैं । सो इसप्रकार जल्प में अंगत्वेन छलादियों का ग्रहण है, स्वतन्त्रता से इन को साधनता नहीं, पर प्रतिषेध में स्वतन्त्रता है ।

स प्रतिपक्षस्थापना हीनो वितण्डा ॥३॥

वह (जल्प) प्रतिपक्षस्थापना से हीन हो, तो वितण्डा होता है ।

---

* जल्पकथा में प्रवृत्त पुरुष साधन तो प्रमाणों से ही करता है, किन्तु प्रतिवादी से कहे साधनों का जब कोई बाधक प्रमाण न फुरे, तो छल आदि से भी उस के साधनों के खण्डन में प्रवृत्त होता है, ताकि इतने में कोई सत्प्रमाण फुर जाय, न फुरे, तो भी सिद्धान्त की रक्षा रहे, अन्यथा प्रतिवादी पर विजय नहीं बनेगा, इतने मात्र से इन को साधन कहा है ।

भाष्य—वह = जल्प, वितण्डा होता है (प्रश्न) कैसे विशेषण वाला (उत्तर) प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन हुआ। पूर्व (१।२।१ में) जो एक आश्रय में होने वाले दो विरुद्ध धर्म पक्ष प्रतिपक्ष कहे हैं। उन में से एक की (अपने पक्ष की) वैतण्डिक स्थापना नहीं करता है, निरा परपक्ष के प्रतिषेध से ही प्रवृत्त होता है (प्रश्न) तब तो 'प्रतिपक्ष से हीन वितण्डा है', यही लक्षण रहे (स्थापनापद देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती) (उत्तर) जो वह परपक्ष का प्रतिषेधरूप वाक्य है, वह वैतण्डिक का पक्ष है, किन्तु वह किसी साध्य अर्थ की प्रतिज्ञा कर के स्थापना ही नहीं करता है* (कि यह मेरा पक्ष है, और इस में यह हेतु है), इस लिए (सूत्र) जैसा रक्खा है, वही ठीक है॥

अवतरणिका—(हेत्वाभास वे हैं, जो) हेतुलक्षण के न होने से हैं तो अहेतु, पर हेतु की समानता से हेतुवत् भासते हैं, वे ये—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः॥४॥

सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम (=सत्प्रतिपक्ष) साध्यसम (=असिद्ध) और कालातीत (बाधित) हेत्वाभास हैं।

---

* 'परपक्ष के खण्डित हो जाने पर परिशेष से मेरा पक्ष आप ही सिद्ध हो जायगा' इस अभिप्राय से वैतण्डिक वादी अपने पक्ष की स्थापना किये बिना परपक्ष का खण्डन करता है, इसलिए परपक्ष का प्रतिषेधरूप वाक्य इस का पक्ष है, क्योंकि इस प्रतिषेध की सिद्धि से वह अपने पक्ष की सिद्धि मानता है, इसलिए है वैतण्डिक का पक्ष, किन्तु प्रतिषेध से अतिरिक्त वह अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता है। इसलिए पक्ष तो उसका है, स्थापना से हीन है (वाचस्पतिमिश्र)

अवतरणिका—उन में से—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥५॥

जो एक अन्त (हद) में नहीं रहता, वह सव्यभिचार है।

भाष्य—व्यभिचार= एक में नियत न रहना । व्यभिचार के साथ जो वर्ते, वह सव्यभिचार। उदाहरण—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा)। क्योंकि स्पर्शवाला नहीं है (हेतु) । स्पर्शवाला जो घड़ा वह अनित्य देखा है, पर शब्द वैसा अर्थात् स्पर्शवाला नहीं, इसलिए अर्थात् स्पर्शवाला न होने से नित्य है शब्द, (विपरीत उदाहरण)। पर दृष्टान्त में स्पर्शवाला होना और अनित्य होना ये दो धर्म साध्यसाधन हुए नहीं देखे जाते। जैसा कि परमाणु स्पर्शवाला है तौभी नित्य है । हां आत्मादि दृष्टान्त में, उदाहरण के समान धर्मवाला होने से साध्यका साधन हेतु होता है (१। १। ३४) यह हेतुलक्षण घटजाता है, तौ भी 'स्पर्शवाला न होने से' यह हेतु नित्यत्व का व्यभिचारी है, क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली न हो कर भी अनित्य है। इसप्रकार दोनों प्रकार के दृष्टान्त में व्यभिचार से (इन दोनों धर्मों में) साध्यसाधन भाव नहीं है, सो हेतुलक्षण के न होने से यह अहेतु है।

नित्यता भी एक अन्त (हद) है, अनित्यता भी एक अन्त है। जो एक अन्त के अन्दर रहता है, वह ऐकान्तिक है, उस से उलट अनैकान्तिक है, क्योंकि दोनों अन्तों में घुसता है (स्पर्शवाला न होना हेतु नित्यता की हद में घुसता है आत्मा में, और अनित्यता की हद में घुसता है बुद्धि में, इसलिए सव्यभिचार है)

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥६॥

सिद्धान्त को अंगीकार कर, उसी का विरोधी जो हेतु है, वह विरुद्ध है।

भाष्य—'तद्विरोधी' जो उससे विरोध करे, अर्थात् अंगीकार किये सिद्धान्त का बाधक हो, जैसे 'यह जो विकार है * यह व्यक्ति (अपने वर्तमान स्वरूप) से अलग हो जाता है (=अपने वर्तमान स्वरूप में सदा नहीं बना रहता। यह है प्रतिज्ञा) क्योंकि (विकार की) नित्यता का प्रतिषेध है (यह हेतु) पर अलग हुआ भी विद्यमान है क्योंकि जो है, उसके) अभाव का प्रतिषेध है (जो है, उसका अभाव कभी नहीं होता)। अब यहां 'विकार कोई भी नित्य नहीं हुआ करता' यह जो हेतु है यह 'व्यक्ति से अलग हुआ भी विकार विद्यमान है,' इस अपने सिद्धान्त के साथ विरोधी खाता है। (प्रश्न) कैसे (उत्तर) व्यक्ति है=स्वरूप लाभ और अलग होना है=स्वरूप से गिरजाना (उस स्वरूप में न रहना)। सो यदि स्वरूपलाभ से गिरचुका विकार विद्यमान है, तो (उसकी) नित्यता का प्रतिषेध नहीं बन सकता, क्योंकि व्यक्ति से अलग हुए भी विकार की जो विद्यमानता है, वहीं तो नित्यता है। नित्यत्व का प्रतिषेध है स्वरूप लाभ से गिरने का बन सकना। जो वस्तु स्वरूप लाभ से गिर जाती है, वह अनित्य देखी जाती है, जो बनी रहती है, वह स्वरूप लाभ से नहीं गिरती है। विद्यमानता और स्वरूप लाभ से गिरना ये दो विरुद्ध धर्म इकट्ठे नहीं हो सकते। सो यह हेतु जिस सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसी का व्याघातक होता है।

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥७॥

---

* विकार=महत् अहंकार, पञ्चतन्मात्र, पञ्च महाभूत, एकादश इन्द्रिय।

जिस से प्रकरण की चिन्ता है वह निर्णय के लिए हेतु-रूप से बतलाया हुआ प्रकरणसम (हेत्वाभास) होता है ।

भाष्य—विचार का आश्रय पक्ष प्रतिपक्ष सिरे तक (निर्णय तक) न पहुंचे हुए प्रकरण है । उसकी चिन्ता है-संशय से लेकर निर्णय से पूर्व जो विचार है । वह विचार जिस (धर्म) से उठा है, जब उसको निर्णय के लिए (हेतु रूप से) प्रयुक्त किया जाय, तो वह दोंनो पक्षों में सम होने से प्रकरण को न उलांघता हुआ प्रकरणसम हुआ निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता है। उदाहरण-शब्द अनित्य हे (प्रतिज्ञा) क्योंकि उस में नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होता (हेतु) जिस में नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होता, वह अनित्य देखा जाता है, जैसे बटलोई आदि । जहां समान धर्म जो संशय का कारण होता है उसको हेतुत्वेन रक्खा जाय, वह तो संशय-सम हेतु सव्यभिचार ही है, किन्तु विचार को (निर्णय तक पहुंचाने के लिए) जो विशेष (धर्म के जानने) की अपेक्षा है और है दोनों पक्षों के विशेषधर्म की अनुपलब्धि वह प्रकरण को चलाती है । जैसे शब्द में नित्य धर्म नहीं उपलब्ध होता, वैसे अनित्य धर्म भी नहीं उपलब्ध होता, सो यह दोनों पक्षों के विशेष की अनुपलब्धि प्रकरण की चिन्ता को प्रवृत्त रखती है । कैसे ? उलट में प्रकरण की निवृत्ति होजाने से । यदि नित्य धर्म शब्द में ज्ञात होजाय, तो प्रकरण नहीं रहे, यदि वा अनित्यधर्म ज्ञात हो जाय, इस प्रकार भी प्रकरण हट जाय । सो यह हेतु (= नित्य धर्म की अनुपलब्धि) दोनों पक्षों को प्रवृत्त रखता हुआ एक के निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता है ।

---

* जिस से प्रकरणचिन्ता की समाप्ति न हो, वह प्रकरण-सम होता है । जैसे शब्द नित्य है वा अनित्य है इस प्रकरण के चलने पर अनित्यतावादी यदि हेतु दे 'नित्यधर्म की अनुपलब्धि

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥८॥

स्वयं साधनीय होने के कारण जो साध्य से कोई विशेषता नहीं रखता, वह साध्यसम है।

भाष्य—'छाया द्रव्य है' यह साध्य है। इस पर 'क्योंकि गतिवाली है' यह हेतु साध्यसे कोई विशेषता नहीं रखता, क्योंकि यह स्वयं सिद्ध नहीं है (साधनीय है), इस लिए साध्यसम है। अर्थात् यह भी असिद्ध है, इसलिए साध्यवत् ही सिद्ध करने योग्य है। इस में पहले यह बात सिद्ध करनी है, कि पुरुषवत् छाया भी चलती है, अथवा (तेज पर) परदा डालनेवाले द्रव्य के आगे २ चलते हुए, उस परदे के आगे २ होते जाने से तेजकी अविद्यमानता आगे २ ज्ञात होती जाती है। चलते हुए द्रव्य से जो २ तेज का भाग परदे में कर दिया जाता है, उस २ की अविद्यमानता ही सीमाबद्ध (एक हद्द के अन्दर) हुई ग्रहण की जाती है। आवरण=परदा=पहुंच की रुकावट।

से' तो यह हेतु प्रकरणसम होगा, क्योंकि नित्य धर्म की अनुपलब्धि-वत् अनित्य धर्म की भी शब्द में अनुपलब्धि ही है। यदि नित्यता वा अनित्यता की उपलब्धि हो जाय, तब तो प्रकरण ही न रहे। दोनों पक्षों का बना रहना प्रकरण है, ऐसा हेतु दोनों पक्षों में से एक को हटाता नहीं, क्योंकि प्रतिवादी भी अपने पक्ष में ऐसा हेतु देसकता है, इसलिए यह प्रकरणसम कहलाता है। इसी को नवीन सत्प्रतिपक्ष कहते हैं, अर्थात् जिसका प्रतिहेतु अपने पक्ष में प्रतिवादी भी देसकता है। उदाहरणान्तर-शब्द नित्य है, क्योंकि श्रोत्रग्राह्य है। शब्द अनित्य है, क्योंकि श्रोत्र ग्राह्य है, वा क्योंकि कार्य है इत्यादि।

* साध्यसम को नवीन असिद्ध कहते हैं।

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥९॥

काल के उल्लंघन से जो (हेतुत्वेन) कहा है वह कालातीत है * ।

भाष्य—हेतुत्वेन बतलाए गए जिस अर्थ का एकदेश (=विशेषण) काल के अतिक्रम से युक्त हो, वह काल के अतिक्रम से बतलाया गया कालातीत कहलाता है। उदाहरण-शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि संयोग से व्यक्त (प्रकट) होने वाला है (हेतु)। रूप की तरह (उदाहरण) अर्थात् रूप, जो (अन्धेरे में दीपक जलाने पर) दीपक और घट के संयोग से व्यक्त होता है, वह अपने व्यक्त होने से पहले और पीछे विद्यमान होता है। वैसे ही शब्द भी पहले ही विद्यमान होता हुआ भेरी और दण्ड के संयोग से वा लकड़ी और कुल्हाड़े के संयोग से व्यक्त होता है। सो संयोग से व्यक्त होने से शब्द नित्य है। यहां जो हेतु है वह अहेतु है, क्योंकि काल के अतिक्रम से कहा गया है। (वह इस प्रकार कि, रूप के व्यक्त होने में रूप का व्यञ्जक है दीप और घट का संयोग, और व्यङ्ग्य है रूप। अब) व्यङ्ग्य जो रूप है,

---

* हेतु देने का काल वह है, जब अर्थ संदिग्ध हो। पर जब अर्थ किसी प्रबल प्रमाण से निश्चित है, तो वहां हेतु उस से उलट कुछ नहीं सिद्ध कर सकता। जैसे कोई कहे कि अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि द्रव्य है। तो यह हेतु कालातीत है, क्योंकि जब अग्नि का उष्ण होना प्रत्यक्ष से निश्चित है, तो यहां उष्ण न होना सिद्ध करने के लिए हेतु का काल ही नहीं। क्योंकि अग्नि का उष्ण न होना प्रत्यक्ष से बाधित है, अतएव नवीन कालातीत को बाधित कहते हैं। सूत्र का यह तात्पर्य्य वाचस्पति के अनुसार है। भाष्य का तात्पर्य्य भाष्य में देखो।

उसकी व्यक्ति (प्रकटता), व्यञ्जक जो दीपघटसंयोग है, उसके काल को, अतिक्रम नहीं करती। दीपघटसंयोग के होते हुए रूप का ग्रहण होता है, संयोग के निवृत्त हो जाने पर रूप नहीं गृहीत होता। पर लकड़ी और कुल्हाड़े के संयोग के निवृत्त हो जाने पर, उनके विभाग के काल में, दूरस्थ पुरुष से शब्द सुनाजाता है*। सो यह शब्द की व्यक्ति संयोग के काल को अतिक्रम करती है (संयोग के न रहने पर भी होती हैं) इसलिए यह संयोग का कार्य नहीं क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है†। इस प्रकार उदाहरण के साथ साधर्म्य न होने से साधन न हुआ यह हेतु हेत्वाभास है॥

---

* एक है उत्पत्ति दूसरी है व्यक्ति। उत्पत्ति तो उत्पादक के काल को अतिक्रम कर जाती है, जैसे घड़ा बनाने के पीछे कुम्हार के मरजाने और चाक के टूटजाने पर भी घड़ा बना रहता है। पर व्यक्ति व्यञ्जक के काल को अतिक्रम नहीं करती। जैसे दीपघट-संयोग जो रूप का व्यञ्जक है, उसके निवृत्त होने पर रूप की व्यक्ति नहीं बनी रहती। ऐसे ही शब्द की भी यदि भेरीदण्ड-संयोग से व्यक्ति होती, तो शब्द भी अपने व्यञ्जक भेरीदण्ड संयोग के हटते ही कहीं न रह जाता, अतएव कहीं न सुनाई देता। पर वह सुनाई देता है, इसलिए शब्द की व्यक्ति नहीं, किन्तु उत्पत्ति होती है। सो (संयोग से व्यक्त होने से इस हेतु में) संयोग जो विशेषण है, वह काल के अतिक्रम से युक्त है, क्योंकि व्यक्ति संयोग के अतीतकाल में भी रहती है, इस लिए हेतु कालतीत है।

† यहां भाष्यकारने 'कारणाभावात् कार्याभावः (१।२।१) यह वैशेषिक सूत्र प्रमाण दिया है। अतएव अन्त में उद्धृतपाठ का प्रदर्शक इति शब्द दिया है। बीच में 'हि' शब्द 'कस्मात्' इस प्रश्न के उत्तर में अपनी ओर से प्रयुक्त किया है।

'अवयवों का क्रम उलट कर कहना' यह सूत्र का अर्थ नहीं * क्योंकि 'जिसका जिस के साथ अर्थ का सम्बन्ध हो, वह सम्बन्ध दूरस्थ का भी होता है, जो अर्थ से परस्पर सम्बद्ध नहीं उनका बिना व्यवधान के होना (सम्बन्ध का) कारण नहीं होता' इस प्रमाण से उलट क्रम से कहा हेतु, जब उदाहरण के साथ साधर्म्य से, तथा (विपरीत उदाहरण के साथ) वैधर्म्य से साधन बनगया, तो वह हेतु के लक्षण को त्यागता नहीं, और जब हेतु के लक्षण को नहीं त्यागता, तो वह हेत्वाभास नहीं होसकता। किञ्च 'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम (५।२।११) यह अप्राप्तकाल निग्रहस्थान कहा है। क्या वही यह फिर कहा है। इस लिए यह सूत्र का अर्थ नहीं है,

अवतरणिक—अब छल (का निरूपण करते हैं)—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याछलम् ॥१०॥

अर्थ के दूसरे प्रकार के बनजाने से जो (वादी के) वचन की हत्या है † वह छल है।

---

* भाष्य कार से पूर्व किसी ने इस सूत्र का ऐसा व्याख्यान किया है, कि मर्यादा तो यह है प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु कहना चाहिये, पीछे उदाहरण। इस मर्यादा को त्यागकर यदि कोई प्रतिज्ञा के अनन्तर उदाहरण दे, और पीछे हेतु दे, तो वह काल बिताकर कहा हेतु कालातीत है। पर यह व्याख्यान अयुक्त है क्योंकि आगे पीछे कहने से हेतु हेत्वाभास नहीं बनसकता। जब तक कहा नहीं, तबतक तो वह है ही नहीं, और जब कहा, तब उस में लक्षण हेतु का घटता है, हेत्वाभास का नहीं, इस लिए हेत्वाभास नहीं।

† वचन की हत्या = वचन के अभिप्राय को बदल देना। वादी के कहने का जो अभिप्राय है, उससे विरुद्ध अभिप्राय लेकर उस पर आक्षेप करना छल है।

सामान्य लक्षण में छल के उदाहरण नहीं देसकते,* विभाग में उदाहरण देंगे। और विभाग है—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलंचेति ॥ ११ ॥

यह तीन प्रकार का है-वाक्छल सामान्यछल, और उपचार छल ।

उनमें से—

अविशेषाभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तर कल्पना वाक् छलम् ॥१२॥

सामान्य शब्द से कहे अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना वाक् छल है।

भाष्य—'नवकम्बलोऽयंमाणवकः' नवकम्बल यह लड़का है। यह बोलागया। यहां 'नवः कम्बलोऽस्य'=इसका नया कम्बल है' यह तो कहने वाले का अभिप्राय है। विग्रह में तो भेद है, पर समास में नहीं,† वहां यह छलवादी वक्ता के अभिप्राय से अनभिमत अन्य अर्थ 'नव कम्बला अस्य' इसके नौ कम्बल हैं, यह आपने कहा है, ऐसी कल्पना करता है। कल्पना करके असम्भव से निषेध करता है, कि इसके तो एक कम्बल है, कहां हैं इसके नौ कम्बल। सो यह वाक् अर्थात् सामान्य शब्द के विषय में जो छल है यह वाक्छल है।

---

* सामान्य बिना विशेष के दिखलाया नहीं जासकता, इस लिए सामान्य का कोई अलग उदाहरण नहीं दिखलाया जासकता।

† 'नवकम्बलः' इस समास में 'नव' शब्द 'नया' इस अर्थ को भी देसकता है और 'नौ' इस अर्थ को भी देसकता है, हां 'नवः कम्बलोऽस्य' इस विग्रह वाक्य में 'नया' इस अर्थ को ही देता है, 'नौ' इस अर्थ को नहीं देता।

इसका खण्डन-* सामान्य शब्द जब अनेक अर्थोंवाला होता है, तो उनमें से एक अर्थ की कल्पना में जो विशेष (भेदकधर्म) है, वह कहना चाहिये । 'नवकम्बलः' यह अनेक अर्थवाले वाक्य का कथन है,अर्थात् इसका नया कम्बल है वा इसके नौ कम्बल हैं । इसके प्रयोग करने पर यह जो कल्पना की गई है, कि 'इसके नौ कम्बल हैं, यह आपने कहा है' । इस एक अर्थ की कल्पना में विशेष कहना चाहिये । जिस से यह विशेष जानाजाय, कि यह अर्थ इसने कहा है । वह विशेष तो है नहीं, इसलिए यह मिथ्या दोषारोपमात्र है†प्रसिद्ध है‡ लोक में शब्द अर्थ का सम्बन्ध, और वाच्य वाचक के नियमों की व्यवस्था । इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है, इस प्रकार सामान्य शब्द का समान और विशेष शब्द का विशेष अर्थ और नियम (लोकसिद्ध है) । पहले प्रयुक्त होते चले आते शब्द अपने २ प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं, पहले न बोले हुए नहीं । प्रयोग अर्थ की प्रतीति के लिए होता है और अर्थ की प्रतीति से व्यवहार होता है । सो शब्द का प्रयोग जब अर्थ की प्रतीति के लिए है, तो (प्रकरण आदि के) सामर्थ्य से सामान्य शब्द के प्रयोग का नियम (एक नियत अर्थ) होता है, जैसे

---

* जब प्रतिवादी इस प्रकार छल से दोष लगाए, तो उस का खण्डन करके अपने अभिप्राय को निर्दोष दिखाला देना चाहिये ।

† सामान्यशब्द सांझा शब्द अर्थात् वह शब्द जिसके अनेक अर्थ हों उसके उन अनेक अर्थों में से एक अर्थ लेने में अवश्य कोई विशेष हेतु होता है जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्य मौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतवः' ।

‡ प्रश्न उत्पन्न होता है, कि वक्ता भी सामान्य शब्द से कैसे

'बकरी को ग्राम की ओर लेजा, घीलेआ, ब्राह्मण को खिला'। ये सामान्य शब्द होते हुए (प्रकरण आदि के) सामर्थ्य के बल से अर्थ विशेष में प्रवृत्त होते हैं। जिस (व्यक्ति) में (लेजाना आदि) अर्थक्रिया की प्रेरणा बन सकती है, उस में प्रवृत्त होते हैं, न कि अर्थ सामान्य में, क्योंकि (सामान्य में) क्रिया की प्रेरणा हो नहीं सकती। इसी प्रकार यह 'नवकम्बल' शब्द सामान्य-शब्द है। जो अर्थ बनसकता है—'नएकम्बलवाला' उस में प्रवृत्त होता है और जो नहीं बनसकता है-नौ कम्बलों वाला, उस में प्रवृत्त नहीं होता है। सो यह न बनते हुए अर्थ की कल्पना से दूसरे का खण्डन हो नहीं सकता है।

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थ कल्पना सामान्य छलम् ॥ १३ ॥

जो बात बनसकती है, उस के स्थान, अति समानता को लेकर, एक नबनती बात की कल्पना सामान्य छल है।

भाष्य—'अ हो वह ब्राह्मण विद्या और आचरण से पूरा सम्पन्न है' (किसी के) ऐसा कहने पर कोई कहे 'होती है ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पदा'। इस वचन की हत्या, अर्थका विकल्प बन सकने से, न बनी बात की कल्पना से, की जाती

विशेष अर्थ को जितलाता है, इसका उत्तर देते हैं, कि मनुष्य के पास शब्द भण्डार है ही सामान्यशब्दों का। सामान्य शब्द ही प्रकरणादि के सामर्थ्य से विशेष अर्थ को देजाते हैं। जैसे किसी ने कहा-बकरी को ग्रामकी ओर लेजा। यहां 'बकरी' सामान्य शब्द है। बकरी मात्र के लिए बकरी बोल सकते हैं। पर यहां प्रकरणादि के वश से वक्ता की अभिप्रेत बकरी विशेष ही ली जायगी। इसी प्रकार नवकम्बल शब्द से बन सकता हुआ वक्ता का अभिप्रेत अर्थ ही लिया जायगा।

है, कि 'यदि ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पदा होती है' तो व्रात्य (अनुपनीत, यज्ञोपवीत के संस्कार से हीन) में भी हो, व्रात्य भी ब्राह्मण है, वह भी विद्या और आचरण से सम्पन्न हो। अतिसमानता से अभिप्राय है, जो अभिमत अर्थ को पहुंचता है, और उलांघता भी है। जैसे ब्राह्मणत्व जो है यह विद्या और आचरण की सम्पदा को कहीं पहुंचता है, कहीं उलांघ भी जाता है। यह सामान्य के कारण जो छल है, यह सामान्यच्छल है।

इस का खण्डन-(पूर्वोक्त) वाक्य प्रशंसापरक है, इसलिए यहां आधार का अनुवाद है (कि ब्राह्मण विद्या और आचार का आधार है)। हेतु विवक्षित नहीं*। सो यहां न बनसकते अर्थ की कल्पना नहीं बन सकती। जैसे 'होते हैं इस क्षेत्र में धान'। यहां 'बीज से जन्म न विवक्षित है, न उसका खण्डन किया है, किन्तु (खेती की) प्रवृत्ति का विषय जो क्षेत्र है, उसकी प्रशंसा है। सो यह क्षेत्र का अनुवाद है, न कि इस में धान का विधान है †। अर्थात् बीज से धानकी उत्पत्ति है तो अवश्य, किन्तु यहां विवक्षित

---

* अर्थात् 'ब्राह्मण विद्वान् और सदाचारी होते ही हैं' इस का यह अभिप्राय नहीं, कि जिस लिए यह ब्राह्मण है, इस लिए विद्या और आचार से सम्पन्न हैं'। यदि ऐसा विवक्षित होता, तब तुम्हारा आक्षेप बन सकता, किन्तु हेतु यहां विवाक्षित नहीं, यहा विवक्षित पात्र की प्रशंसा है, अर्थात् विद्या और सदाचार का हेतु मिलने पर ब्राह्मण ऐसा पात्र है,जहां हेतु अवश्य अच्छा फल लाता है।

† जैसे यहां यह आक्षेप नहीं हो सकता, कि 'धान तो इस में हैं नहीं, इस में तो कपास है' अथवा पर वा परार धान इस में नहीं थे'। क्योंकि वक्ता का अभिप्राय यह नहीं, कि धान का बीज बोए बिना भी इस में धान हो जाते हैं, अभिप्रेत केवल इतना ही है, कि धान के लिए यह उपयुक्त क्षेत्र है।

नहीं । इसी प्रकार 'होती है ब्राह्मण में विद्या और आचार की सम्पदा' यहां ब्राह्मणत्व सम्पदा का विषय है, न कि सम्पदा का हेतु (अर्थात् यह नहीं, कि ब्राह्मण है, इतने से ही उक्त सम्पदा वाला है) यहां हेतु (जोकि अध्ययनादि है वह) विवक्षित नहीं, केवल विषय का अनुवाद है, क्योंकि वाक्य प्रशंसापरक है । अर्थात् ब्राह्मणत्व की विद्यमानता में (उक्त) सम्पदा का हेतु अवश्य फल दिखलाता है, इस प्रकार विषय की प्रशंसा करते हुए वाक्य से, अपने नियत हेतु से फल की सिद्धि का खण्डन नहीं हो जाता (फल की सिद्धि तो अपने हेतु से ही होती है), सो ऐसी अवस्था में असम्भूत अर्थ की कल्पना से वचन का विघात युक्त नहीं है ।

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥१४॥

धर्म के अमुख्य प्रयोग में मुख्य अर्थ से प्रतिषेध उपचार च्छल है* ।

भाष्य—शब्द का धर्म है यथार्थ प्रयोग (=मुख्य प्रयोग) और धर्मविकल्प है अन्यत्र देखे का अन्यत्र प्रयोग (अर्थात्

---

* धर्म=वृत्ति । शब्द की वृत्ति दो प्रकार की है, मुख्य और अमुख्य । मुख्य अर्थ में मुख्यवृत्ति होती है, जैसे 'गंगायां स्नाति' यहां गंगाशब्द मुख्य वृत्ति से प्रवाह का बोधक है । मुख्य वृत्ति को शक्ति कहते हैं और 'गंगायां घोषः' यहां गंगाशब्द अमुख्य वृत्ति से 'गंगातीर' का बोधक है । अमुख्यवृत्ति को लक्षणा कहते हैं । सो जब लक्षणावृत्ति से प्रयोग किया हो, और मुख्यवृत्ति को लेकर कोई निषेध करे, जैसे 'कहां है गंगा में घोष, घोष तो उस के तीर पर है, तो यह उपचारछल होगा ।

लाक्षणिक प्रयोग)। उसके प्रयोग में। यह है 'धर्म विकल्पनिर्देश' का अर्थ। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान पुकारते हैं। यहां मुख्य अर्थ को लेकर यह प्रतिषेध होगा 'मचानों पर स्थित पुरुष पुकारते हैं, न कि मचान पुकारते हैं'। (प्रश्न) क्या है यहां विरुद्ध अर्थ की कल्पना (जिस से यह आक्षेप छल कहलाता है) (उत्तर) अन्य प्रकार से कहेगए का अन्यथा अर्थ कल्पना करना अर्थात् अमुख्य वृत्ति से प्रयोग करने पर मुख्य वृत्ति से अर्थ कल्पना करना, सो यह उपचार (लक्षणा) के विषय में छल उपचारच्छल कहलाता है। उपचार पहुंचा चुके अर्थ वाला होता है*, सहचार आदि निमित्तों से उसके न होने पर, उसकी नाईं कहना उपचार है †।

इस का समाधान—'सिद्ध प्रयोग में वक्ता का जैसा अभिप्राय हो, उस के अनुसार शब्द और अर्थ का अंगीकार वा प्रतिषेध होता है, अपनी इच्छा से नहीं'। प्रधान शब्द, और भाक्त अर्थात् गुण शब्द दोनों का प्रयोग लोकसिद्ध है, सिद्ध प्रयोग में जो वक्ता

---

* अर्थात् जिस अर्थ में वह शब्द पहले प्रयोग किया जाता है। इस से यह जितलाया है, कि लक्षणावृत्ति से भी उसी अर्थ में शब्द का प्रयोग करना चाहिये, जिस अर्थ में उस का प्रयोग लोकसिद्ध हो। जैसे गंगा शब्द का प्रयोग गंगातीर अर्थ में तो लोकसिद्ध है। पर घोष शब्द मछली के अर्थ में लोकसिद्ध नहीं। इसलिए 'गंगायां-घोषः' यहां घोष शब्द को लक्षणावृत्ति से मछली के अर्थ में कोई नहीं बोल सकता। लोकसिद्ध अर्थ में शब्द व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा श्रोता को उस से बोध नहीं होगा। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह व्यवहार लोकसिद्ध है॥

† जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति=भाले प्रवेश करते हैं' यहां भाले पुरुष नहीं। तौ भी पुरुष की नाईं कहे हैं, क्योंकि पुरुषों के हाथों में हैं (देखो २।२।५९)

का अभिप्राय हो, उस के अनुसार शब्द और अर्थ का अंगीकार वा प्रतिषेध करना चाहिए, अपनी इच्छा से नहीं। यदि वक्ता प्रधान शब्द का प्रयोग करता है, तो ज्यों के त्यों को लेकर अंगीकार वा प्रतिषेध हो सकता है, अपनी इच्छा से नहीं, और यदि गुण शब्द का (प्रयोग करता है) तो गुण भूत का ही (अंगीकार वा प्रतिषेध हो सकता है इच्छा से नहीं)। और जहां वक्ता गुणभूत शब्द का प्रयोग करता है, और दूसरा प्रधान अर्थ में लेकर उस का प्रतिषेध करता है, तो वह प्रतिषेध अपनी मनोभावना से है, न कि दूसरे का वास्तव प्रतिषेध है।

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ।१५।

वाक् छल ही उपचारच्छल है, क्योंकि उस से विशेषता नहीं रखता।

भाष्य—वाक्छल उपचारच्छल से भिन्न नहीं हो सकता है क्योंकि उस की भी, दूसरा अर्थ कल्पना करने के कारण इस से कोई विशेषता नहीं रहती। यहां भी स्थानी अर्थ वाला तो गुण शब्द है, और प्रधान शब्द है स्थान अर्थ वाला, ऐसा कल्पना करके प्रतिषेध किया जाता है*।

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

नहीं उस के अलग होने से।

---

* मञ्च स्थान है, उस पर स्थित पुरुष स्थानी हैं। वक्ता गुण शब्द लेकर 'मञ्च' का मञ्चस्थानी पुरुषों में प्रयोग कर रहा है पर छलवादी मुख्य अर्थ जो स्थान है, उसे लेकर, प्रतिषेध करता है। वाक्छल में भी 'नव' शब्द का वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ लिया है, और यहां भी भिन्न अर्थ ही लिया है। इसलिए छल के ये दो भेद अलग २ नहीं होने चाहियें।

भाष्य—वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं। उस के अर्थ सद्भाव (मुख्य अर्थ) का जो प्रतिषेध हैं, उस के, अलग होने से। किस से ? दूसरे अर्थ की कल्पना से। दूसरे अर्थ की कल्पना करना और बात है, और मुख्य अर्थ को लेकर प्रतिषेध दूसरी बात है*।

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छल-प्रसङ्गः ॥ १७ ॥

और भेद न करने में, तो किञ्चित् साधर्म्य से एकच्छल का प्रसंग होगा।

भाष्य—छल का दो होना मान कर तीन होने का प्रतिषेध करते हो (दो में) किञ्चित् साधर्म्य को लेकर। पर यह तुम्हारा हेतु, जैसे तीन होने का प्रतिषेध करता है, वैसे दो होना, जो तुम ने मान लिया है, उसका भी प्रतिषेध करता है। क्योंकि किञ्चित् साधर्म्य तो (शेष) दो में भी है। यदि दो होना किञ्चित् साधर्म्य को लेकर हट नहीं सकता, तो तीन होना भी नहीं हटेगा।

अवतरणिका—इससे आगे (क्रमप्राप्त जाति कहते हैं)—

साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।१८।

---

* वाक्छल में दोनों मुख्य अर्थ थे, किन्तु जो वक्ता को अभिप्रेत था, उस से दूसरा अर्थ लेकर प्रतिषेध किया। उपचारच्छल में प्रयोग गौण अर्थ को लेकर था, प्रतिषेध मुख्य अर्थ को लेकर है, यह दोनों में भेद है। 'वार्तिककार के अभिप्राय से वाक्छल में धर्मी (कम्बल) को अंगीकार करके, उस के धर्म (नौ संख्या) का प्रतिषेध किया है, उपचारच्छल में अर्थ के सद्भाव (=धर्मी) का ही प्रतिषेध कर दिया है, कि मञ्च पुकारने वाले ही नहीं।

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रतिषेध करना जाति है*।

भाष्य—हेतु के प्रयोग करने पर जो प्रसंग (अतिव्याप्ति) आ जाता है, वह जाति है। वह प्रसंग क्या है? साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान अर्थात् प्रतिषेध। उदाहरण के साधर्म्य से जब साध्य का साधन हेतु हो, तो वैधर्म्य से उसका प्रतिषेध। और उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य का साधन हेतु हो, तो उदाहरण के साधर्म्य से प्रतिषेध (जाति है)। उलटे धर्म से उत्पन्न हुआ अर्थ जाति है।†

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।१९।

विरुद्ध फुरना वा न फुरना निग्रहस्थान (हार की जगह) है।

भाष्य—उलट वा निन्दित फुरना विप्रतिपत्ति है। विप्रतिपत्ति से युक्त पुरुष पराजय को प्राप्त होता है, निग्रहस्थान है पराजय की प्राप्ति। अप्रतिपत्ति है आरम्भ के अवसर पर अनारम्भ। अर्थात् जब दूसरे से स्थापित किये का प्रतिषेध नहीं करता, वा प्रतिषेध का उद्धार नहीं करता। समास न करने से (विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती ऐसा समस्तपद न देकर विप्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तिः, ऐसे व्यस्तपद देने से) यह जितलाया है, कि ये ही दो निग्रहस्थान नहीं (किन्तु विप्रतिपत्ति अप्रतिपत्ति के अन्तर्गत न होते हुए अधिक आदि भी जल्प में निग्रह स्थान होते हैं)।

---

* प्रत्यवस्थान का अक्षरार्थ है मुकाबिला करना।

† यह जाति का निर्वचन किया है। अर्थात् निरे साधर्म्य वा वैधर्म्य को लेकर प्रतिषेध जाति है। भाष्य में जो उदाहरण ही का साधर्म्य वैधर्म्य दिखलाया है, यह निदर्शनमात्र है, पक्ष वा हेतु के साधर्म्य वैधर्म्य से भी प्रतिषेध जाति है।

अवतरणिका—क्या फिर दृष्टान्त की नांई जाति और निग्रहस्थान का अभेद है, अथवा सिद्धान्त की नांई भेद है, इससे कहा है—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।२०।

उनके विकल्प से जाति और निग्रहस्थान बहुत हो जाते हैं।

भाष्य—उसके=साधर्म्य वैधर्म्य से प्रतिषेध के, विकल्प से, जातियें बहुत होती हैं, और उनके=विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के, विकल्प से निग्रहस्थान बहुत होते हैं। विकल्प का अर्थ है नाना प्रकार वा विविध प्रकार। उनमें से अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपक्षेण ये अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान है, शेष विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान हैं।

ये प्रमाण आदि पदार्थ (प्रथम सूत्र में) उद्दिष्ट हुए, फिर उद्देश के अनुसार लक्षित हुए। अब (अगले अध्यायों में) लक्षण के अनुसार परीक्षा किये जाएंगे। सो यह तीन प्रकार से शास्त्र की प्रवृत्ति जाननी चाहिये।

इतिवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

अवतरणिका—इस से आगे प्रमाण आदि की परीक्षा। परीक्षा है-'संशय उठाकर पक्ष प्रतिपक्ष से अर्थ का अवधारण रूप जो निर्णय है (१।१।४१) इस कारण पहले संशय की ही परीक्षा की जाती है*।

---

* उद्देश और लक्षण के अनन्तर परीक्षा के अवसर में पाठक्रम के अनुसार पहले परीक्षा प्रमाण की होनी चाहिये। पर परीक्षा तभी होती है, जब संशय उठे, इस प्रकार संशय को सारी परीक्षाओं का अंग होने के कारण परीक्षापर्व में पहले उसी की परीक्षा की जाती है।

समानानेकधर्माध्यवसादन्यतरधर्माध्यवसायाद् वा न संशयः ॥ १ ॥

समान धर्म और अनेक धर्म के निश्चय से, अथवा दोनों में से एक के धर्म के निश्चय से संशय नहीं [हो सकता]।

भाष्य—(१) समान धर्म के निश्चय से, संशय होता है, न कि धर्ममात्र से *।

(२) अथवा 'मैं इन दोनों के समान धर्म को उपलब्ध कर रहा हूं,' इस प्रकार जब धर्म और धर्मियों का ज्ञान हो गया, तब संशय नहीं होगा।

(३) अथवा समान धर्म के निश्चय से, धर्मी जो (धर्म से) भिन्न पदार्थ है, उस में संशय होना बन ही नहीं सकता, ऐसा कभी नहीं होता, कि भिन्न वस्तु जो रूप है, उस के निश्चय से, दूसरे पदार्थ स्पर्श में संशय हो जाय।

(४) अथवा निश्चय, जो कि अर्थ का अवधारणस्वरूप ज्ञान है, उस से संशय, जो कि अनवधारण ज्ञान है, हो ही नहीं सकता क्योंकि इन में कार्य कारण का सादृश्य नहीं *।

---

* भाष्यकार 'समान धर्म के निश्चय से संशय नहीं होसकता' इसका आशय चार प्रकार से वर्णन करते हैं। पहला यह कि, संशय लक्षण (१।१।२३) में कहा है—'समानधर्मोपपत्तेः' यहां उपपत्ति का अर्थ यदि 'बनजाना' लें, तो अर्थ होगा समान धर्म के बन सकने से संशय होता है। पर यह सत्य नहीं, क्योंकि संशय समान धर्म का ज्ञान होने पर होता है, पहले नहीं, और समान धर्म तो सदा ही बना है, इसलिए यह लक्षण दुष्ट होगा।

* कारण समान धर्म का अवधारणज्ञान, और कार्य संशय अनवधारणज्ञान।

इस से 'अनेक धर्म के निश्चय से' यह भी व्याख्या कियागया*

'दोनों में से एक के धर्म के निश्चय से भी संशय नहीं होता है, क्योंकि तब तो एक का अवधारण ही है (संशय नहीं)।

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

विप्रतिपत्ति और अव्यवस्था के निश्चय से भी (संशय नहीं हो सकता)।

भाष्य—(१) निरी विप्रतिपत्ति से वा निरी अव्यवस्था से भी संशय नहीं होता। (प्रश्न) तो फिर कैसे होता है ? (उत्तर) जो विप्रतिपत्ति को उपलब्ध कर रहा है, इसको संशय होता है (अर्थात् विप्रतिपत्तिमात्र से नहीं, किन्तु विप्रतिपत्ति की उपलब्धि से संशय होता है) इसी प्रकार अव्यवस्था में भी (जानना)।

(२) अथवा 'है आत्मा' यह कई मानते हैं। 'नहीं है आत्मा' यह दूसरे मानते हैं, इस निश्चय से कैसे संशय हो। ऐसे ही प्रतीति भी अव्यवस्था वाली होती है, अप्रतीति भी अव्यवस्था वाली होती है, जब इस प्रकार अलग २ निश्चित है, तो संशय नहीं बन सकता है†।

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

विप्रतिपति में सम्प्रतिपत्ति से (संशय नहीं घट सकता)।

---

* 'समान धर्म के निश्चय से' इसकी व्याख्यावत् ही 'अनेक धर्म के निश्चय से' इसकी भी व्याख्या जाननी।

† स्वरूप से तो विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं, और उसका निश्चय, संशय का कारण बन नहीं सकता। इसी प्रकार अव्यवस्था भी स्वरूप से संशय का कारण नहीं, और उसका निश्चय संशय का कारण घट नहीं सकता।

भाष्य—आप जिस विप्रतिपत्ति को संशय का हेतु मानते हैं, वह संप्रतिपत्ति (पूरा निश्चय) है। सच मुच दोनों वादियों को (परस्पर) विरोधी धर्म के विषय में (निश्चय है—आत्मा है, यह एक का निश्चय है 'नहीं है, यह दूसरे का निश्चय है)। ऐसा होने पर यदि विप्रतिपत्ति से संशय है, तो यह सम्प्रतिपत्ति से ही संशय हुआ *।

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः।४।

अव्यवस्था को अव्यवस्था के स्वरूप में व्यवस्थित होने से (संशय नहीं बनता)।

भाष्य—संशय नहीं (यह अनुवृत्त है)। यह जो (प्रतीति अप्रतीति की) अव्यवस्था है, (यह अपने स्वरूप में व्यवस्थित है, वा अव्यवस्थित है?) यदि अपने स्वरूप में व्यवस्थित है, तो व्यवस्थित होने से अव्यवस्था नहीं हो सकती, इसलिए इससे संशय नहीं बनता और यदि अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित नहीं तो तद्रूप (अव्यवस्था रूप) न होने से अव्यवस्था ही नहीं बनती, तो भी संशय का अभाव होगा।

तथाऽत्यन्त संशयस्तद्धर्म सातत्योपपत्तेः।५।

वैसे तो अत्यन्त संशय होगा, क्योंकि वे धर्म लगातार बने रहते हैं†।

---

* आशय यह है, कि विप्रतिपत्ति है ही नहीं, क्योंकि दोनों वादियों को अपने २ सिद्धान्त पर निश्चय है।

† स्थाणु और पुरुष का समान धर्म, जो ऊंचाई और फैलाव है, यदि वह संशय का कारण है, तो वह धर्म तो सदा बना ही रहता है, तब संशय भी सदा बना रहना चाहिये।

भाष्य—जिस विधि से आप मानते हैं, कि 'समानधर्म की उपपत्ति से संशय होता है' उससे तो अत्यन्त संशय का प्रसंग आता है, क्योंकि समानधर्म की उपपत्ति तो कभी मिटती ही नहीं, इससे संशय भी नहीं मिटना चाहिये। क्योंकि विचारा तो जारहा है जो धर्मी है (पुरुष वा स्थाणु), वह कभी उस धर्म (ऊंचाई और फैलाव) से रहित नहीं होता। सदा उस धर्म वाला ही होता है। (इसी प्रकार अनेक धर्म आदि के विषय में जानना)।

अवतरणिका—इस प्रतिषेधप्रपञ्च का संक्षेप से उद्धार (करते हैं)—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा।६।

उस (धर्मी) के विशेष (धर्म) की आकांक्षा वाले यथोक्त निश्चय से ही संशय के बन सकने पर न ही असंशय और न ही अत्यन्त संशय होगा *।

भाष्य-संशय के न होने और संशय के न मिटने का प्रसंग नहीं आता। (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) जो पहले आपने कहा है कि 'समान धर्म का निश्चय संशय का हेतु है, न कि समानधर्म मात्र' यह ठीक है। (प्रश्न) तो ऐसे कहा क्यों नहीं। (उत्तर) 'विशेषापेक्षः' इस वचन से सिद्ध है (इस लिए नहीं कहा)। क्योंकि विशेष की अपेक्षा से अभिप्राय है विशेष

---

* आशय यह है, कि तुम्हारे उक्त आक्षेप, संशय सूत्र (१।१।२३) के आशय को न जानकर हैं। जब वहां 'विशेषापेक्षः' यह विशेषण दिया है, तब कोई भी दोष नहीं रहता। निरा समान धर्म आदि से संशय नहीं होता, किन्तु विशेष की आकांक्षा के होते हुए होता है, इस लिए असंशय नहीं, और जब विशेष की आकांक्षा निवृत्त हो जाय तो संशय निवृत्त हो जाता है, इस लिए अत्यन्त संशय नहीं होता।

की आकांक्षा, और वह तभी बन सकती है, जब विशेष उपलब्ध न हो रहा हो। यह तो नहीं कहा, कि 'समानधर्मापेक्षः'=समान धर्म की आकांक्षा वाला। सो समान धर्म में कैसे आकांक्षा नहीं होगी, यदि वह प्रत्यक्ष होगा। इस लिङ्ग बल से जाना जाता है कि 'समान धर्म के निश्चय से' यह (अभिप्रेत है)। 'अथवा 'उपपत्ति के कहने से''। अर्थात् समानधर्म की उपपत्ति (बन सकने) से (संशय होता है)' यह कहा है। अब (समानधर्म की) विद्यमानता के जानने के सिवा और कोई समानधर्म की उपपत्ति नहीं। क्योंकि उपलब्ध न होता हुआ समानधर्म अविद्यमान की नांई होता है*।

अथवा विषय शब्द से विषयी जो प्रतीति है, उस का कथन है। जैसे लोक में जब कहा जाता है, कि धूम से अग्नि का अनुमान होता है, तो इस का यह आशय होता है, कि 'धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है'। क्यों? इस लिए कि धूम को देख करके ही अग्नि का अनुमान करता है, बिन देखे नहीं। पर (धूम से अग्नि का अनुमान होता है, इस) वाक्य में 'देखना' शब्द नहीं सुना गया, तथापि (बोद्धा) जान लेता हैं। वाक्य यहां अर्थ का बोधक है, इस से हम समझाते हैं, कि विषय शब्द से, विषयी जो प्रतीति है, उस का कहा जाना श्राता मान लेता है, इसी प्रकार यहां समानधर्म शब्द से समानधर्म का निश्चय कहा है।

(२) और जो कहा है कि 'इन दोनों के समानधर्म को उपलब्ध कर रहा हूं, इस प्रकार जब धर्म और धर्मियों का ज्ञान हो गया, तब संशय नहीं होगा।' यह कथन पूर्व देखे हुओं

---

* उपपत्ति का अर्थ है 'बन सकना' किसी वस्तु का 'बन सकना' तभी कहा जाता है, जब उस की प्रतीति हो, इस लिए 'समानधर्म की उपपत्ति से' का फलित अर्थ हुआ 'समान धर्म की प्रतीति से'।

विषय में है अर्थात् जिन दो अर्थों को पहले मैंने देखा हुआ है, उन के सामन धर्म को उपलब्ध कर रहा हूं, विशेष को उपलब्ध नहीं कर रहा हूं। अब कैसे विशेष को देखूं, जिस से कि दोनों में से एक का निश्चय करूं। (यह आकांक्षा संशय की प्रवर्तिका है) और यह समानधर्म की उपलब्धि होने पर धर्म धर्मियों के जानने मात्र से निवृत्त नहीं हो जाती, (जिस से कि संशय न उठे)।

(३) और जो कहा है कि 'अन्य पदार्थ के निश्चय से अन्य में संशय नहीं बन सकता'। यह आक्षेप उस पर करना चाहिए, जो अन्य पदार्थ के निश्चय मात्र को संशय का हेतु माने' ('विशेषापेक्षः' विशेषण के होते हुए यह आक्षेप नहीं बन सकता)

(४) और जो यह है, कि 'कार्य कारण के सादृश्य के अभाव से (संशय नहीं बन सकता)' (उत्तर यह है कि) कारण के होने पर कार्य का होना, न होने पर न होना, कार्य कारण का सादृश्य होता है। जिस के होने से जो उत्पन्न होता है, और जिस के न होने से उत्पन्न नहीं होता है, वह कारण होता है, दूसरा कार्य, यह सादृश्य है। और यह (सादृश्य) संशय के कारण और संशय में विद्यमान है।

इस से 'अनेक धर्म के निश्चय से' यह जो प्रतिषेध किया था, उस का भी परिहार किया गया (समान धर्म के समाधान के तुल्य ही अनेक धर्म का भी समाधान जानना)।

और जो यह कहा है, कि 'विप्रतिपत्ति और अव्यवस्था के निश्चय से' (२।१।२) संशय नहीं। (इस का उत्तर यह है, कि) 'अलग २ दो वादों के परस्पर विरुद्ध अर्थ (है आत्मा और नहीं है आत्मा) को तो उपलब्ध कर रहा हूं' और विशेष को नहीं उपलब्ध कर रहा, जिस से कि दोनों में से एक का मैं निश्चय करूं'

यह जो विपृतिपत्ति से संशय होता है, यह विपृतिपत्ति मात्र कह कर आक्षेप करने से नहीं हटाया जा सकता। इसी पूकार उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न हुए संशय के विषय में जानना चाहिये*।

और जो कहा है कि 'विप्रतिपत्ति में सम्प्रतिपत्ति से' (२।१।३) (संशय नहीं बनता) (इस का उत्तर है) विप्रतिपत्ति शब्द का जो अर्थ है, उस का निश्चय, जब विशेष की आकांक्षा वाला हो, तो संशय का हेतु तो होता है, दूसरा नाम लेने से इस की निवृत्ति नहीं हो जाती। अर्थात् एक विषय में परस्पर विरुद्ध दो वाद होना यह विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है, अब इस का निश्चय जब विशेष की आकांक्षा वाला हो, तो वह संशय का हेतु होता है, अब इस में जो संशय की हेतुता है, वह एक दूसरा नाम जोड़ देने से निवृत्त नहीं हो जाती† । इस लिए यह केवल अपक्वबुद्धि पुरुषों को धोखा देना है।

और जो कहा है कि 'अव्यवस्था को अव्यवस्था के स्वरूप में व्यवस्थित होने से (२।१।४) (संशय नहीं बनता) (इस पर कहते हैं कि) संशय का हेतु जो पदार्थ है (अव्यवस्था), उसका प्रतिषेध

---

* जब विपृतिपत्ति से और अव्यवस्था से संशय होता है, तो फिर यह आक्षेप व्यर्थ है, कि विपृतिपत्तिमात्र से नहीं, किन्तु उस के ज्ञान से होता है इत्यादि।

† श्रोता की दृष्टि में यह विप्रतिपत्ति है, कि कोई तो आत्मा को कहता, 'है' कोई कहता है 'नहीं है'। यह विप्रतिपत्ति यद्यपि प्रत्येक वादी की दृष्टि में सम्प्रतिपत्ति है, क्योंकि हर एक अपने स्थान पर निश्चित है, पर इस से श्रोता की विप्रतिपत्ति तो दूर नहीं हो जाती, और न ही उस को विशेषाकांक्षा के होने पर इस से उत्पन्न होने वाला संशय हटाया जा सकता है। यह आशय है।

तो आप कर नहीं सके, अपितु अव्यवस्था को मान लिया, तब दूसरे निमित्त से दूसरे शब्द की कल्पना व्यर्थ है । अव्यवस्था इस से व्यवस्था नहीं बन जाती, कि वह अपने स्वरूप में व्यवस्थित है। जब कि वह अव्यवस्था के स्वरूप में व्यवस्थित है, तो वह अपने आप को मिटा नहीं देती, इस से तो अव्यवस्था प्रत्युत मान ली गई है । इस प्रकार यह की हुई भी अन्य शब्द की कल्पना अन्य पदार्थ को सिद्ध नहीं करती ।

और जो यह है, कि 'वैसे तो अत्यन्त संशय होगा, क्योंकि वे धर्म लगातार बने रहते हैं' (२।१।५) (इस का उत्तर यह है कि) यह निरा समानधर्म आदि से ही संशय नहीं हो जाता, किन्तु उन के (समान धर्म आदि के) विषय में ज्ञान, जो विशेष की स्मृति के साथ होता है, उस से होता है (जब विशेष का दर्शन हो जाने से आकांक्षा मिट जाती है, तो संशय भी मिट जाता है) इसलिए अत्यन्त संशय नहीं होता है । और जो यह कहा है कि 'दोनों में से एक के धर्म के निश्चय से संशय नहीं होता' (२।१।१ भाष्य) यह (कथन) युक्त नहीं, क्योंकि 'विशेष की अपेक्षा वाला विचार संशय होता है' यह कहा है, और विशेष है दोनों में से एक का धर्म, उस का निश्चय हो जाने पर, विशेष की आकांक्षा होती ही नहीं ।

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तर प्रसंगः । ७ ।

जहां संशय है, वहां इस प्रकार आगे २ प्रसङ्ग हो* ।

---

* अर्थात् जहां संशय उठाने पर प्रतिवादी संशय का प्रतिषेध करे, वहीं उक्त प्रकार से समाधान करना चाहिये ।

भाष्य–जहां २ संशय पूर्वक परीक्षा शास्त्र में वा कथा में चले, वहां २ इस प्रकार जब संशय का प्रतिषेध प्रतिपक्षी करे, तो समाधान कहना चाहिये । इस लिए सारी परीक्षाओं का व्यापक होने से पहले संशय की परीक्षा की है ।

अवतरणिका–अब प्रमाणों की परीक्षा (आरम्भ करते हैं)–

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ।८।

प्रत्यक्ष आदिकों की प्रमाणता (सिद्ध) नहीं (होती) क्योंकि (प्रमाणता की) तीनों कालों में असिद्धि है ।

भाष्य–प्रत्यक्ष आदिकों को प्रमाणता नहीं है, (प्रतिज्ञा) । तीनों कालों में असिद्धि से अर्थात् (प्रमाणों का प्रमेय से) पहले, पीछे, वा साथ होना (कुछ भी) नहीं बन सकता (हेतु) । आगे इस सामान्य कथन के अभिप्राय को खोलते हैं, कि–

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

(प्रमेय से) पहले प्रमाण की सिद्धि मानो, तब इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति न हुई ।

भाष्य– गन्ध आदि विषयक ज्ञान है प्रत्यक्ष, वह यदि पहले है, पीछे गन्ध आदिकों की सिद्धि होती है, तब यह (ज्ञान) गन्ध आदि के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता ।

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ।१०।

पीछे सिद्धि मानो, तो प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि न हुई ।

भाष्य—जब प्रमाण है ही नहीं, तो किस से जाना हुआ अर्थ

प्रमेय हो, क्योंकि प्रमाण से जाना हुआ अर्थ प्रमेय होता है, यह सिद्ध है।

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वा-भावो बुद्धीनाम् ॥ ११ ॥

(प्रमाण प्रमेय दोनों की) एक काल में सिद्धि मानो, तो ज्ञान, जो अपने २ विषय में नियत होते हैं, उन का क्रम से होना नहीं बनेगा*।

भाष्य—यदि प्रमाण और प्रमेय इकट्ठे होते मानो। तो इस प्रकार भी, गन्ध आदि इन्द्रियविषयों में ज्ञान, जो कि अपने २ विषय में नियत होते हैं, वे एक साथ सम्भव होते हैं अर्थात् जो ज्ञान अपने २ विषय में नियत हैं, उन का क्रम से होना नहीं बनेगा। जो ये ज्ञान क्रम से पदार्थों में होते हैं, उन का क्रम से होना नहीं बनेगा, तब 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१।१।१६) का बाध होगा।

इतना ही प्रमाण और प्रमेय के अस्तित्व का विषय है, और वह बन नहीं सकता, इस लिए प्रत्यक्ष आदिकों की प्रमाणता नहीं हो सकती।

इस का समाधान†—उपलब्धि का हेतु और उपलब्धि का विषय जो अर्थ है, उस के पहले पीछे और साथ होने का नियम

---

* हर एक ज्ञान अपने विषय को जितला कर मिट जाता है। इस लिए एक के पीछे दूसरा ज्ञान होता है, दो इकट्ठे नहीं होते।

† इन आक्षेपों का उत्तर जो सूत्रकार ने आगे देना है, उस के अनुसार भाष्यकार पहले ही इन आक्षेपों का समाधान करते हैं।

नहीं है, इस लिए जैसा देखने में आता है, उस के अनुसार (पहले पीछे की) बांट हो सकती है । अर्थात् कहीं तो उपलब्धि का हेतु पहले होता है, और उपलब्धि का विषय पीछे होता है, जैसे सूर्य का प्रकाश (जो उपलब्धि का हेतु है, वह सब) उत्पत्ति वालों (उपलब्धि के विषयों) के (पहले होता है) कहीं पहले उपलब्धि का विषय होता है, पीछे उपलब्धि का हेतु होता है, जैसे वर्तमान पदार्थों के देखने के लिए प्रदीप । कहीं उपलब्धि का हेतु और उपलब्धि का विषय एक साथ होते हैं, जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान (धूम और अग्नि एक साथ होते हैं)। उपलब्धि का हेतु प्रमाण है, और उपलब्धि का विषय प्रमेय है। इस प्रकार जब प्रमाण और प्रमेय का पहले पीछे और साथ होना नियत नहीं, तो जैसे (प्रमाण प्रमेयरूप) अर्थ देखा जाता है, वैसे बांट करके कहना चाहिये । ऐसी अवस्था में एक नियम को लेकर तो प्रतिषेध बन नहीं सकता, अतः सामान्य नियम से बांट करके प्रतिषेध कहा है ।

'संज्ञा के कारण का तीनों कालों से सम्बन्ध होने के कारण संज्ञा वैसी हो जाती है'। अर्थात् जो यह है कि (प्रमेय से) पीछे प्रमाण की सिद्धि मानें, तो प्रमाण के होते हुए प्रमेय नहीं सिद्ध होता। और प्रमाण से जाना हुआ अर्थ प्रमेय होता है । इस का उत्तर यह है, कि प्रमाण इस संज्ञा का निमित्त है उपलब्धि का हेतु होना, उस (निमित्त) का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। इस ने उपलब्धि की है, उपलब्धि कर रहा है, वा उपलब्धि करेगा, इस प्रकार संज्ञा का जो निमित्त है, उस का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध होने के कारण संज्ञा वैसी बन जाती है। अर्थात् जिस साधन से जाना गया था वा जाना जाता है वा जाना जायगा वह

प्रमाण है। और अर्थ जो जाना गया था ;वा जाना जा रहा है, वा जाना जायगा वह प्रमेय है। ऐसी अवस्था में होगी इस की हेतु से उपलब्धि (= जब हेतु होगा, तब इस की उपलब्धि होगी) जाना जायगा यह अर्थ, अतएव यह प्रमेय है। यह सब बन जाता है*।

तीनों कालों को न मानो, तो व्यवहार नहीं बनता अर्थात् जो ऐसा (पूर्व कही बात को) नहीं मानता, उस के मत में 'पाचक को ला, वह पकायगा' तथा 'लावक को ला, वह (खेत को) काटेगा' यह व्यवहार नहीं बन सकता†।

अच्छा 'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः' (२।१।८) इत्यादि वाक्य है प्रमाण का प्रतिषेध। इस में (प्रतिषेधक से) यह पूछना चाहिये, कि इस प्रतिषेध से आप क्या सिद्ध करते हैं। क्या प्रमाणों का सम्भव हटाते हो, वा असम्भव जितलाते हो। यदि सम्भव हटाते हो, तो जब प्रत्यक्ष आदिकों का सम्भव है, तो

---

* आशय यह है, कि यह आक्षेप, कि प्रमेय पहले और प्रमाण पीछे मानें, तो फिर प्रमेय कैसे ठहरा, क्योंकि प्रमाण से जाना हुआ अर्थ प्रमेय होता है, और जब प्रमेय पहले ही है, तो प्रमाण से जाना हुआ कैसे हुआ। इस का उत्तर यह है, कि संज्ञा जो रक्खी जाती हैं, वे योग्यता को लेकर रक्खी जाती हैं। जिस में प्रमाण से जाना जाने की योग्यता है, वह प्रमेय है। चाहे कभी जाना जाय। जाना जा चुका है, तो भी प्रमेय है, जाना जा रहा है, तो भी प्रमेय है, जाना जायगा, तो भी प्रमेय है। इसी प्रकार जिस से जाना जाय, वह प्रमाण है। चाहे उस से जाना जा चुका हो, चाहे जाना जा रहा हो, और चाहे आगे कभी जाना जाय।

† क्योंकि पकाना तो उसने आकर है, तो फिर उसकी संज्ञा पाचक आने से पहले कैसे.

उन का प्रतिषेध नहीं बन सकता । और यदि असम्भव जितलाते हो, तो यह प्रतिषेध स्वयं प्रमाण के लक्षण को प्राप्त हो गया, क्योंकि प्रमाणों का जो असम्भव है, उस की उपलब्धि का हेतु बन गया (अर्थात् उपलब्धि का हेतु प्रमाण होता है, तो जब यह वाक्य प्रमाण सम्भव की उपलब्धि का हेतु बना, तो यह स्वयं प्रमाण बन गया, फिर इस से प्रमाणमात्र का असम्भव कैसे सिद्ध हो) ।

किच, इससे—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ।१२।

(तुम्हारा) प्रतिषेध बन नहीं सकता, क्योंकि तीनों कालों में उस की सिद्धि नहीं होती ।

भाष्य—इस का विभाग (इस प्रकार है) कि (प्रतिषेध्य से) पहले यदि प्रतिषेध की सिद्धि मानो, तो जब प्रतिषेध्य अभी है नहीं, तो क्या प्रतिषिद्ध किया जाता है । पीछे सिद्धि मानो, तो (पहले) प्रतिषेध्य की सिद्धि नहीं बनती, क्योंकि प्रतिषेध है नहीं । एक साथ सिद्धि मानो, तो जब प्रतिषेध्य की सिद्धि मानली तो उस का प्रतिषेध अनर्थक है (क्योंकि उस का होना तो सिद्ध हो गया) सो इस प्रकार जब प्रतिषेधलक्षण वाक्य न बन सका, तब प्रत्यक्ष आदिकों की प्रमाणता सिद्ध हो गई ।

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ।१३।

सारे प्रमाणों का प्रतिषेध करने से भी प्रतिषेध नहीं बन सकता ।

भाष्य—कैसे (नहीं बन सकता) ? (उत्तर) 'त्रैकाल्यासिद्धेः' (२।१।८) इस हेतु का यदि उदाहरण लिया जाय, इसलिए कि हेत्वर्थ का साधक होना दृष्टान्त में दिखलाना चाहिये । तब प्रत्यक्ष आदि

की अप्रमाणता नहीं रहती, और यदि प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य है, तो ग्रहण किया भी उदाहरण अर्थ को सिद्ध नहीं करेगा । सो यह सब प्रमाणों से दूषित हुआ हेतु अहेतु है अर्थात् 'सिद्धान्त को अंगीकार कर उसका विरोधी विरुद्ध,(१।२।६) (हेत्वाभास है) क्योंकि (प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम् २।१।८ इस) वाक्य का अर्थ इसका (प्रतिवादी का) सिद्धान्त है । और वह वाक्यार्थ यह है, कि 'प्रत्यक्षआदि अर्थ को सिद्ध नहीं करते' । यह जो (हेतु, उदाहरण आदि) अवयवों का ग्रहण है, यह अर्थ के साधन के लिए है । यदि (अवयवों का) ग्रहण नहीं किया जाय, तब तो जिस हेतु का साधन होना दृष्टान्त में दिखलाया नहीं, वह साधक नहीं होता, इसलिए निषेध नहीं बनेगा, क्योंकि उसका हेतु होना ही सिद्ध नहीं है* ।

तत् प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ।१४।

और उनकी प्रमाणता में सारे प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं (बनता)

भाष्य—(प्रमाणता का) निषेधक जो तेरा अपना वाक्य है,

---

*सारांश यह है, कि प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य सिद्ध करने के लिए तुम ने जो 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु दिया है, यह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि प्रमाण तो तुम मानते ही नहीं, फिर हेतु देकर साध्य की सिद्धि कैसे कर सकते हो, क्योंकि हेतु से साध्य का साधक अनुमान प्रमाण होता है । जब यह हेतु हेत्वाभास हुआ तो इससे निषेध सिद्ध न हुआ । और यदि इसको सद्धेतु कहो, और उदाहरण में इसका साध्य साधक होना मान लो, तो यह अनुमान बनगया, तब भी प्रमाणों का खण्डन न हुआ ।

उसके अवयवों के आश्रित, जो प्रत्यक्षादि हैं, उन की यदि प्रमाणता मानते हो, तो परवाक्य में भी वैसी ही होने से अवयवों के आश्रितों (प्रत्यक्ष आदि) की प्रमाणता माननी आ पड़ती है, ऐसी अवस्था में सारे प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं हो सकता। विप्रतिषेध में 'वि' उपसर्ग विशेष अर्थ में है, परस्पर विरोध में नहीं क्योंकि इस प्रकार अर्थ नहीं बनसकता।

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ।१५।

तीनों कालों में (प्रत्यक्ष आदि की सिद्धि का) प्रतिषेध नहीं बन सकता, क्योंकि शब्द से बाजे की सिद्धि की नाईं उसकी सिद्धि हो सकती है*।

भाष्य—(प्रश्न) (जब यह पूर्व ११ के भाष्य में कहा गया है तो) किस लिए यह फिर कहा जाता है (उत्तर) पूर्वोक्त का मूल दिखलाने के लिए। अर्थात् पूर्व जो कहा है कि 'उपलब्धि का हेतु और उपलब्धि का विषय जो अर्थ है, उनका पहले पीछे और साथ होने का नियम नहीं है, इसलिए जैसा देखने में आता है, उसके अनुसार बांट हो सकती है' (पूर्व ११ पर भाष्य), उसकी उत्पत्ति

---

*जो यह आक्षेप है, कि प्रमाण का प्रमेय से पहले पीछे और साथ होना नहीं बन सकता, इसका उत्तर देते हैं, कि शब्द सुनकर जब बाजे का पता लग जाता है, तब वहां शब्द प्रमाण और बाजा प्रमेय हुआ, अब वहां प्रमेय बाजा पहले है, और प्रमाण शब्द पीछे उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार कहीं प्रमाण पहले प्रमेय पीछे, कहीं दोनों एक साथ भी होते हैं। पूर्व सूत्र ११ के भाष्य में भष्यकार इसे स्पष्ट कर चुके हैं।

इस (सूत्र) से जैसे जानी जाय। क्योंकि ऋषि (पहले पीछे और साथ होने के) अनियम को देखता है, इसलिए किसी एक नियम को लेकर जो प्रतिषेध मानना है, उसका खण्डन करता है कि त्रिकालता का प्रतिषेध युक्त नहीं है। इनमें से एक प्रकार का उदाहरण देते हैं, कि जैसे शब्द से बाजे की सिद्धि होती है। अर्थात जैसे पीछे सिद्ध होने वाले शब्द द्वारा, उस से पूर्व सिद्ध बाजे का अनुमान हो जाता है, कि वीणा बज रही है वा बांसुरी पूरी जारही है। स्वरविशेष से बाजे विशेष को जान लेता है। वैसे पूर्वसिद्ध उपलब्धि के विषय को पीछे सिद्ध हुए उपलब्धि के हेतु से जान लेता है। यह (शब्दादातोद्यसिद्धिवत) निदर्शन (नमूने) के लिए है। इसलिए शेष दो प्रकारके भी यथोक्त उदाहरण जानने*।(प्रश्न) क्यों फिर यहां वह नहीं कहे पूर्वोक्त का उपपादन किया है (उत्तर) सर्वथा यह बात प्रकाशित कर देनी चाहिये। यहां प्रकाशित की जाय, वा वहां प्रकाशित की जाय, इससे कोई भेद नहीं पड़ता।

अवतरणिका—†समाख्या (यौगिक नाम) का जो निमित्त

---

* साथ का उदाहरण-धूम दर्शन से अग्नि की सिद्धि। पूर्व सिद्ध का उदाहरण जैसे पूर्व सिद्ध सूर्य पीछे सिद्ध होने वालों का प्रकाशक है (न्यायवार्तिक)

† प्रश्न—इस उदाहरण में बाजे को प्रमेय मान कर उस का ज्ञापक जो शब्द है, उसको प्रमाण माना है, पर प्रमेय की गणना (१।१।९) में शब्द को प्रमेय में गिना है, इससे पूर्वापर विरोध आता है, इस का उत्तर देते हैं, कि निमित्तवश से एक के अनेक नाम होने में कोई विरोध नहीं।

है, उसके सामर्थ्य से प्रमाण और प्रमेय यह समाख्या एक ही अर्थ की भी हो जाती है । समाख्या का निमित्त है उपलब्धि का जो साधन हैं वह प्रमाण होता है, और उपलब्धि का जो विषय है वह प्रमेय होता है । और जब उपलब्धि का विषय जो है, वह किसी की उपलब्धि का साधन भी होता है, तब वह एक ही अर्थ प्रमाण भी कहलाता है और प्रमेय भी कहलाता है । इस बात के प्रकट करने के लिए कहा है—

प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत् ॥१६॥

जैसे प्रामाण्य में तुला प्रमेय भी होती है * ।

भाष्य—गुरुत्वपरिमाण के ज्ञान का साधन तुला प्रमाण है. और ज्ञान का विषय जो गुरु द्रव्य सोना आदि है, वह प्रमेय होता है । जब सोने आदि से कोई तुला जांची जाती है, तब उस तुला के निश्चय करने में सोना आदि प्रमाण होता है और वह तुला प्रमेय होती है । इस प्रकार पूर्णता से शास्त्र का अर्थ बतलाया गया जानना चाहिये (शास्त्र में कहे सभी पदार्थों के विषय में इसी प्रकार निमित्तवश से अनेक समाख्याओं का समावेश जानना चाहिये) । जैसे आत्मा उपलब्धि का विषय है, इस लिए प्रमेय (१ । १ । ९) में पढ़ा है । वही उपलब्धि में स्वतन्त्र होने से

---

* तोलने का बट्टा सोना आदि तोलने में प्रमाण है, तथापि जब उसी का तोल जांचना अभीष्ट हो,तो वह तुले हुए सोने से भी तोला जाता है । तब वह प्रमेय हो जाता है, और सोना जो अन्यत्र प्रमेय था, यहां प्रमाण हो जाता है । ऐसे ही अन्य प्रमाण प्रमेय भी जानने ।

प्रमाता भी है। बुद्धि उपलब्धि का साधन होने से प्रमाण है, उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय है, और दोनों (निमित्तों) के अभाव से प्रमिति है। ऐसे ही अर्थविशेष में समाख्याविशेष जोड़ लेनी। जैसा कि कारक शब्द निमित्त के बल से (एक ही द्रव्य में) मिल कर वर्तते हैं। 'वृक्ष स्थित है' यहां अपनी स्थिति में स्वतन्त्र होने से वृक्ष कर्ता है। 'वृक्ष को देखता है' यहां देखने के कर्म से (वृक्ष) कर्ता को अभीष्टतम होने से कर्म है। 'वृक्ष से चांद को जितलाता है' यहां जितलाने वाले का साधकतम होने से (वृक्ष) करण है। 'वृक्ष के लिए जल सींचता है' यहां सींचे जाते हुए जल से वृक्ष को अभिप्रेत रखता है, इस लिए (वृक्ष) सम्प्रदान है। 'वृक्ष से पत्ता गिरता है' यहां 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (अष्टा० १। ४। २४) से वृक्ष अपादान है। 'वृक्ष पर पक्षी है' यहां 'आधारोऽधिकरणम्' (अष्टा० १। ४। ४५) से (वृक्ष) अधिकरण है*। ऐसी अवस्था में न तो द्रव्यमात्र कारक होता है, न क्रियामात्र' किन्तु क्रिया का साधन क्रियाविशेष से युक्त (द्रव्य) कारक होता है। जो क्रिया का साधन स्वतन्त्र है, वह कर्ता होता है, न द्रव्यमात्र और न क्रियामात्र। क्रिया से जो पाने को अभीष्टतम है, वह कर्म होता है, न द्रव्यमात्र, न क्रियामात्र। इसी प्रकार साधकतम आदि में भी जानना। सो कारकत्व जैसा कि युक्ति से, वैसे ही सूत्रों से भी कारकत्व न द्रव्यमात्र से हो सकता है, न क्रियामात्र से हो सकता है, किन्तु क्रिया के साधन क्रियाविशेष से युक्त

---

* यहां कारकों के स्वरूप स्पष्ट पाणिनीय सूत्रों के आधार पर कहे हैं और अपादान तथा अधिकरण के लक्षण में तो सूत्र ही पढ़े हैं। इसी प्रकार आगे भी है।

(द्रव्य) में (कारकत्व हो सकता है)। प्रमाण और प्रमेय ये भी कारक शब्द हैं*, वे कारक के स्वभाव को नहीं त्याग सकते और कारक शब्दों का निमित्त के बल से समावेश होता ही है।

अवतरणिका-† उपलब्धि का हेतु होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं, और उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय भी हैं। ज्ञान का विषय हैं प्रत्यक्ष आदि, जब कि-'प्रत्यक्ष से मैं उपलब्ध कर रहा हूं, अनुमान से उपलब्ध कर रहा हूं, उपमान से मैं उपलब्ध कर रहा हूं, आगम से उपलब्ध कर रहा हूं, (इसी प्रकार) (इस विषय में) 'मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, मुझे आनुमानिक ज्ञान है, मुझे औपमानिक ज्ञान है, मुझे आगमिक ज्ञान है' इस प्रकार (प्रमाण-) विशेष ग्रहण किये जाते हैं। 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं' इत्यादि विशेष लक्षणों द्वारा भी जितलाए जाते हुए जाने जाते हैं‡। सो यह प्रत्यक्ष आदि का ज्ञान क्या किसी दूसरे प्रमाण से होता है, वा प्रमाण के बिना बिना साधन के होता है। (प्रश्न) इसमें क्या भेद है (अर्थात् प्रमाणान्तर से हो, तो क्या हानि है, बिना प्रमाण के हो, तब क्या दोष है)

---

* प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्, और प्रमीयत इति प्रमेयम्। इस प्रकार प्रमाण प्रमा का करण और प्रमेय प्रमा का कर्म है।

† अच्छा, यदि प्रत्यक्ष आदि भी प्रमेय हैं, तो उनकी सिद्धि किन प्रमाणों से होती है। अब यह प्रश्न उठाकर शंका समाधान दिखलाते हैं।

‡ जब यह अनुभव हुआ कि मैं प्रत्यक्ष से उपलब्ध कर रहा हूं, तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी इस ज्ञान का विषय होगया। इसी प्रकार 'मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है' इसका विषय भी प्रत्यक्ष प्रमाण होगया। ऐसे ही विशेष लक्षणों से जितलाए हुए भी प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय होते हैं।

ज
तो
प्रमे
भी

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धि प्रसंगः ॥ १७ ॥

प्रमाण से प्रमाणों की सिद्धि होने से प्रमाणान्तर की सिद्धि का प्रसङ्ग होगा ।

भाष्य-यदि प्रत्यक्ष आदि, प्रमाण से उपलब्ध होते हैं, तो जिस प्रमाण से उपलब्ध होते हैं, वह कोई और प्रमाण है, इस से प्रमाणान्तर का होना प्रसक्त होता है, और ऐसा मानने में अनवस्था आती है, क्योंकि अब उस (प्रमाणान्तर) की (उपलब्धि) किसी अन्य प्रमाण से होगी, और उस की भी किसी अन्य से होगी । और अनवस्था मानी नहीं जा सकती, क्योंकि युक्तियुक्त नहीं ।

अवतरणिका—अच्छा, तो (प्रमाण की सिद्धि) प्रमाण के विना निःसाधन ही (क्यों न) हो (उत्तर) ।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः १८।

और उस की (प्रमाण की) निवृत्ति से प्रमाण सिद्धि की नांई प्रमेय की भी सिद्धि होगी ।

भाष्य—यदि प्रत्यक्ष आदि की उपलब्धि में प्रमाणान्तर निवृत्त हो जाता है (अर्थात् विना ही किसी प्रमाण के प्रत्यक्ष आदि की सिद्धि हो जाती है), तो आत्मा की उपलब्धि में भी प्रमाणान्तर निवृत्त हो जायगा, क्योंकि कोई विशेषता नहीं । इस प्रकार तो सारे ही प्रमाणों का लोप होगा । इस से कहता है-

न, प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

नहीं, क्योंकि दीपक के प्रकाश की नांई उस की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जैसे दीपक का प्रकाश प्रत्यक्ष का अंग होने से दृश्य के देखने में प्रमाण है। अब वह (प्रकाश) दूसरे प्रत्यक्ष (=प्रकाश और) नेत्र के सन्निकर्ष से [प्रत्यक्ष] ग्रहण किया जाता है। दीपक के भाव और अभाव में दर्शन का भाव और अभाव होने से (दीपक) दर्शन का हेतु है, यह अनुमान किया जाता है। अन्धेरे में 'दीपक ले आओ' इस आप्तोपदेश [शब्द प्रमाण] से भी जाना जाता है*। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदिकों की, जैसा देखने में आए उस के अनुसार, प्रत्यक्ष आदि से ही उपलब्धि होती है।† इन्द्रिय तो अपने २ विषय के ग्रहण करने से ही अनुमान किये जाते हैं, [कि हैं], अर्थ प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं, इन्द्रियों और अर्थों के सन्निकर्ष (संयोग आदि सम्बन्ध विशेष) आवरण लिङ्ग से अनुमान किये जाते हैं। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान, आत्मा में समवेत होने से,सुख आदि की नाईं, आत्मा और मन के संयोगविशेष से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार (प्रत्यक्ष आदि) प्रमाणविशेष [सब] अलग २ करके कहने चाहिये। जैसे दीपक का प्रकाश स्वयं दृश्य हुआ भी दूसरे दृश्य पदार्थों के दर्शन का हेतु है, इस लिए दृश्य और दर्शन की व्यवस्था को पा लेता है (देखा जाने की दृष्टि से दृश्य और दिखलाने वाला होने की दृष्टि से दर्शन कहलाता है).

---

* प्रकाश के बिना देख नहीं सकते, इस लिए प्रकाश प्रत्यक्ष का अंग होने से प्रमाण है। अब इस की अपनी सिद्धि किसी और प्रमाण से नहीं, किन्तु इन्हीं प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश से होती है। इस से स्पष्ट है, कि प्रमाणों की सिद्धि भी इन्हीं चारों प्रमाणों से हो जाती है।

† इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान जो प्रत्यक्ष कहा है, इस में आए इन्द्रिय, अर्थ, सन्निकर्ष और ज्ञान इन सब की सिद्धि इन्हीं चारों प्रमाणों से दिखलाते हैं।

इसी प्रकार प्रमेय हुआ भी कोई पदार्थ उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण प्रमेय की व्यवस्था को प्राप्त करता है। सो यह प्रत्यक्ष आदि से ही यथादर्शन प्रत्यक्ष आदि की उपलब्धि होती है, न किसी दूसरे प्रमाण से, और न प्रमाण के बिना निःसाधन।

'उसी से उस का ग्रहण नहीं होता, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि अर्थ का तो भेद है, किन्तु (उन के) लक्षण की समानता है' (आशय यह है कि) प्रत्यक्ष आदिकों का प्रत्यक्ष आदिकों से ही ग्रहण होना अयुक्त है, क्योंकि अन्य से अन्य का ग्रहण देखा गया है। (इस का उत्तर देते हैं यहां यह दोष) नहीं। क्योंकि अर्थ का तो भेद है, किन्तु लक्षण की समानता है। अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण से अनेक अर्थ लिये जाते हैं (जहां २ वह लक्षण घटता है वे सब अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं), उन में से किसी एक से किसी दूसरे का ग्रहण होता है (अर्थात् उसी प्रत्यक्ष से उसी प्रत्यक्ष का ग्रहण नहीं होता, किन्तु एक प्रत्यक्ष का किसी दूसरे प्रत्यक्ष से वा अनुमान आदि से ग्रहण होता है) इस लिए (आत्माश्रय) दोष नहीं। इसी प्रकार अनुमान आदियों में भी जानना। जैसे निकाले हुए जल से जलाशय में स्थित जल का ग्रहण होता है *।

'ज्ञाता और मन के देखने से' (आशय यह है, कि यह कोई अटल नियम भी नहीं, कि उसी से उस का ग्रहण नहीं होता, होता भी है कभी २, जैसे) मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार उसी ज्ञाता (आत्मा) से उसी का ग्रहण देखा जाता है। (एक

---

* कुएं से निकाले हुए जल से कुएं के जल का पता लग जाता है। यहां यद्यपि दोनों जल एकजातीय हैं, तथापि जो जल बाहर है, वह कुएं के जल से भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि से प्रत्यक्ष आदि के ग्रहण में भी ग्राह्य प्रत्यक्ष और ग्राहक प्रत्यक्ष परस्पर भिन्न होते हैं॥

साथ अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन का लिङ्ग है (१।१।१६) इस प्रकार उसी मन से उसी का अनुमान देखा जाता है। पहले में तो ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद है (आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा ही अहं सुखी इस ज्ञान का विषय है) दूसरे में ग्रहण और ग्राहक का अभेद है (मन का ही ग्रहण और मन ही ग्रहण करने वाला)।

'यहां निमित्त का भेद है, यदि ऐसा कहो, तो यह (उधर भी) समान है' (आशय यह है कि) विना दूसरे निमित्त के ज्ञाता अपने को नहीं जानता है, और न ही विना दूसरे निमित्त के मन से मन गृहीत होता है*, तो यह बात प्रत्यक्ष आदि के साथ भी समान है। प्रत्यक्ष आदि के ग्रहण में भी अर्थभेद [उससे विशेषता] नहीं जाना जाता है†।

'प्रत्यक्ष आदियों के अविषय की अनुपपत्ति से' (यह अभिप्राय है कि) यदि कोई अर्थ प्रत्यक्ष आदि का अविषय हो, जो प्रत्यक्ष आदि से ग्रहण न किया जासके, तब तो उस के ग्रहण करने के लिए कोई अलग प्रमाण ग्रहण किया जाय, पर यह बात कोई नहीं उपपादन कर सकता। सत् असत् जो कुछ है, यह सब यथादर्शन प्रत्यक्ष आदि का विषय ही है॥

(इस सूत्र में) कई हेतु से असम्बद्ध निरा दृष्टान्त को ही, विना विशेष हेतु के, साध्य साधन के लिए ग्रहण करते हैं, कि जैसे दीपक का प्रकाश दूसरे दीपक के प्रकाश के विना ग्रहण किया जाता है, वैसे प्रमाण भी विना दूसरे प्रमाण के ग्रहण किये

* अपने आप आत्मा अपने को नहीं जानता, किन्तु सुख के सम्बन्ध रूप निमित्त को लेकर अपने आप को जानता है, इस लिए यहां आत्माश्रय नहीं, किन्तु एक सहारा बीच में और आगया। इसी तरह निरे मन से, मन का अनुमान नहीं होता, किन्तु युगपद् ज्ञानानुत्पत्ति रूप लिङ्ग का आश्रय लेकर होता है।

† जैसे ज्ञाता सुख आदि निमित्त से ज्ञेय होता है, वैसे प्रमाण भी प्रमाण का विषय बन कर प्रमेय होता है।

जाते हैं। पर यह दृष्टान्त 'कहीं निवृत्ति देखने से और कहीं अनवृत्ति देखने से व्यभिचारी है' (आशय यह है, कि) जैसे यह दृष्टान्त (दूसरे दीपक की) निवृत्ति देखने से प्रमाणों के साधन के लिए ग्रहण किया जाता है, वैसे प्रमेय के साधन के लिए भी ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि कोई विशेष हेतु नहीं (कि प्रमाण तो बिना प्रमाण के ग्रहण हो जाएं, और प्रमेय न हों)। या फिर जैसे स्थाली आदि के ग्रहण में प्रदीप का प्रकाश प्रमेयसाधन के लिए ग्रहण किया जाता है, वैसे प्रमाणसाधन के लिए भी ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि कोई विशेष हेतु नहीं (जिस से एकत्र आवश्यक और अन्यत्र अनावश्यक हो)। सो विशेषहेतु के दिये बिना दृष्टान्त एक पक्ष में ग्रहण करने योग्य हो, और दूसरे में न हो, यह व्यभिचार है। एक ही पक्ष में दृष्टान्त है, इस लिए व्यभिचारी है, क्योंकि इस में कोई विशेष हेतु नहीं है।

'हां विशेष हेतु का ग्रहण करने पर, उपसंहार मान लेने से प्रतिषेध नहीं होगा' (यह आशय है कि) विशेष हेतु (प्रकाशत्व आदि) से संयुक्त हो दृष्टान्त, तो एक पक्ष में (साध्य साधन का) उपसंहार घट जाने से फिर उस को अस्वीकार नहीं कर सकते, ऐसी अवस्था में 'यह व्यभिचारी है' यह निषेध नहीं लगेगा*।

'प्रत्यक्ष आदियों की प्रत्यक्ष आदिकों से उपलब्धि मानने में अनवस्था होगी, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि ज्ञान के विषय

---

* उदाहरण की अपेक्षा से जब साध्य साधन का उपसंहार हो जाय, तभी दृष्टान्त किसी अर्थ का साधक होता है, अन्यथा नहीं (देखो १।१।३८)। सो यहां यदि कोई ऐसा विशेष हेतु है, जो अभिमत साध्य का साधन हो, तब तो दृष्टान्त व्यभिचारी नहीं होगा, अन्यथा व्यभिचारी होने से साधक नहीं होगा।

और ज्ञान के निमित्त की उपलब्धि से व्यवहार चल जाता है (यह आशय है कि) मैं प्रत्यक्ष से अर्थ को जानता हूं, अनुमान से अर्थ को जानता हूं, उपमान से अर्थ को जानता हूं, आगम से अर्थ को जानता हूं । तथा मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, मुझे आनुमानिक ज्ञान है, मुझे औपमानिक ज्ञान है, मुझे आगमिक ज्ञान है* । इस प्रकार ज्ञान के विषय और ज्ञान के निमित्त के जान लेने से मनुष्य का वह सारा व्यवहार चल जाता है, जिस का फल धर्म, अर्थ, सुख और मोक्ष की प्राप्ति, तथा इस से उलटे से बचना है । अतएव इतने में ही बस कर देता है, अनवस्था से साधनीय कोई व्यवहार (शेष) नहीं, जिस से प्रेरा हुआ वह अनवस्था को ग्रहण करे † ।

अवतरणिका—सामान्यतः प्रमाणों की परीक्षा करके, विशेषतः परीक्षा करते हैं, उन में से—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ।२०।

प्रत्यक्ष का (पूर्वोक्त) लक्षण बन नहीं सकता, क्योंकि पूरा नहीं कहा ।

भाष्य—(प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में) आत्मा का और मन का सन्निकर्ष कारणान्तर है, वह नहीं कहा । और द्रव्य के संयुक्त हुए विना संयोगजन्य गुण की उत्पत्ति होती नहीं। सो ज्ञान की उत्पत्ति

---

* यहां ज्ञान के निमित्त जो प्रमाण हैं, उनको इस अनुव्यवसाय से अनुभव सिद्ध बतलाया है ।

† अभिप्राय यह है, कि व्यवसाय से विषय का प्रकाश हो जाने पर, और अनुव्यवसाय से उस के ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर, उतने से सारे व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है, उस के आगे अनुव्यवसाय के प्रकाश करने के लिए किसी और ज्ञान की आकांक्षा नहीं होती, इस लिए अनवस्था नहीं आती ।

देखने से सिद्ध है, कि आत्मा और मन का सन्निकर्ष कारण है। क्योंकि मन के सन्निकर्ष की अपेक्षा के विना, यदि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ज्ञान का कारण हो, तो एक साथ (कई ज्ञान) उत्पन्न हो जाएं (पर होते नहीं) इस से सिद्ध है कि मन का सन्निकर्ष भी कारण है। इस सूत्र का भाष्य पूर्व (१।१।४ में) किया गया है।

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ।२१

आत्मा और मन का सन्निकर्ष न होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती।

भाष्य—आत्मा और मन के सन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के अभाव में नहीं होता।

अवतरणिका—किञ्च-इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के होते हुए ज्ञान की उत्पत्ति देखने से (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) कारणत्व बतलाते हैं तो—

दिग्देशकालेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार दिशा देश काल में भी (कारणत्व का) प्रसंग होगा।

भाष्य—दिशा आदि के होते हुए ज्ञान होने से वे भी कारण होंगे। (इस का उत्तर) ये कारण न हों, तो भी ज्ञान की उत्पत्ति बन सकती है, क्योंकि दिशा आदि का सम्बन्ध अवर्जनीय है। (आशय यह है) कि ज्ञान की उत्पत्ति में दिशा आदि कारण न भी हों, तो भी दिशा आदि के होते हुए ही ज्ञान होगा, क्योंकि दिशा आदि का सम्बन्ध त्यागा जा नहीं सकता। तब कारणता में कोई हेतु कहना चाहिये, कि यह हेतु है, जिस से कि दिशा आदि ज्ञान के कारण हैं।

अच्छा तो आत्मा और मन का सन्निकर्ष तो (प्रत्यक्ष की

कारणता में) गिनना चाहिये। ऐसा होने पर यह कहा जाता है, कि—

ज्ञानलिंगत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २३ ॥

ज्ञान लिङ्ग वाला होने से आत्मा का असंग्रह नहीं।

भाष्य—ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है, क्योंकि उस का गुण है, और द्रव्य के संयुक्त हुए विना संयोगजन्य गुण की उत्पत्ति नहीं होती *।

तदयौगपद्यलिंगत्वाच्च न मनस ॥ २४ ॥

और उस के (ज्ञान के) युगपत् न होना रूपी लिङ्ग वाला होने से मन का (असंग्रह नहीं)।

भाष्य—'अनवरोधः' यहां भी अनुवृत्त है 'एक साथ कई ज्ञानों की उत्पत्ति न होनी मन का लिङ्ग है' (१।१।१६) ऐसा कहने पर यह सिद्ध हो ही जाता है, कि मन के सन्निकर्ष की अपेक्षा वाला हो कर ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ज्ञान का कारण है।

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २५ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का निमित्त होने से अपने शब्द से कथन है।

भाष्य—आत्मा और मन का सन्निकर्ष तो प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द इन सब का निमित्त है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

---

* अर्थात् जब ज्ञान गुण ही आत्मा का है, तो सिद्ध हो ही जाता है, कि आत्मा के सन्निकर्ष की अपेक्षा वाला इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ज्ञान का कारण होता है।

केवल प्रत्यक्ष का ही है, इस लिए यह असाधारण है, असाधारण होने से इस का ग्रहण है (आत्मा और मन के सन्निकर्ष का नहीं)।

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

गाढ़ सोए हुए और (विषयान्तर में) खुभे हुए मन वालों के, इन्द्रिय और अर्थ को सन्निकर्ष का निमित्त होने से—

भाष्य—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का ग्रहण है, आत्मा और मन के सन्निकर्ष का नहीं।

कभी यह, जागने के समय का मन में संकल्प करके गाढ़ सोया हुआ, संकल्प के वश से (उसी समय) जाग पड़ता है। पर जब तीव्र ध्वनि वा स्पर्श (जोर की आवाज़ वा हाथ से झूनना आदि) जागने के कारण होते हैं, तब उस गाढ़ सोए हुए का जागना इन्द्रियसन्निकर्ष के निमित्त होता है। वहां, ज्ञाता के मन के सन्निकर्ष को प्रधानता नहीं होती, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को होती है, क्योंकि आत्मा उस समय उस के जानने की इच्छा करके अपने प्रयत्न से मन को नहीं प्रेरता है।

इसी प्रकार कभी यह, विषयान्तर में फंसे हुए मन वाला संकल्प के वश से दूसरे किसी विषय को जानना चाहता हुआ, प्रयत्न से प्रेरे मन से इन्द्रिय को उस में संयुक्त करके उस विषयान्तर को जानता है। पर जब मन तो एक विषय में फंसा हुआ हो, और विषयान्तर को जानने का न संकल्प न जिज्ञासा हो, उस समय, बाह्य विषय के पास आजाने से, जब ज्ञान उत्पन्न होता है, वहां इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रधानता होती है, आत्ममनः सन्निकर्ष को नहीं, क्योंकि यहां वह जिज्ञासा करता हुआ प्रयत्न से मन को प्रेरता नहीं है। सो इस प्रकार प्रधान होने से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का ग्रहण करना चाहिये, अप्रधान होने

से आत्मा और मन के सन्निकर्ष का नहीं *। (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की प्रधानता में) और भी हेतु है—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २७ ॥

(प्रत्यक्ष-) ज्ञान के जो विशेष हैं (सूंघना आदि) उन का उन से (इन्द्रियों और अर्थों से) कथन होता है (इस लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का कथन है, आत्मा और मन के सन्निकर्ष का नहीं।

भाष्य—(प्रत्यक्ष-) ज्ञान के जो विशेष हैं, वे, उन से=इन्द्रियों और अर्थों से, कहे जाते हैं (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) घ्राण से सूंघता है, नेत्र से देखता है, रसना से रस लेता है, तथा घ्राणज प्रत्यक्ष है, चाक्षुष प्रत्यक्ष है, रासन प्रत्यक्ष है, एवं गन्ध का प्रत्यक्ष है, रूप का प्रत्यक्ष है, रस का प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इन्द्रियों के और विषयों के भेद से पांच प्रकार का ज्ञान होता है, इस लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की ही प्रधानता है।

अवतरणिका—जो कहा है, कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का ग्रहण करना चाहिये, आत्मा और मन के सन्निकर्ष का नहीं, क्योंकि 'गाढ़ सोए हुए और खुभे हुए मन वालों के, इन्द्रिय और अर्थ को सन्निकर्ष का निमित्त होने से' (२।१।२६) सो यह (हेतु)-

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

परस्पर विरुद्ध (बाधित) होने से अहेतु है।

---

* सारांश यह है, कि प्रत्यक्ष में प्रधानता इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही है, क्योंकि जब गाढ़ सोए हुए के कान में तीव्र ध्वनि पहुंचे, या शरीर पर तीव्र आघात हो, तो वहां इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ने ही बलात् मन और आत्मा को भी अपनी ओर खींच लिया है, इसी प्रकार मन के विषयान्तर में खुभे हुए होने के समय होता है।

भाष्य—यदि कहीं आत्मा और मन के सन्निकर्ष को ज्ञान की कारणता न मानी जाए, तब तो 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१।१।१६) का विरोध होगा, क्योंकि अब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष मन के सन्निकर्ष की तो अपेक्षा करता नहीं है, और जब मन के सम्बन्ध की अपेक्षा न रही, तब एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। और यदि परस्पर विरोध न आए, इस कारण आत्मा और मन के सन्निकर्ष को सारे ज्ञानों का कारण मानो, तब यह (दूषण) वैसे ही बना है, कि ज्ञान का कारण होने से आत्मा और मन के सन्निकर्ष का ग्रहण करना चाहिये। (उत्तर-)

नार्थविशेष प्राबल्यात् ॥ २९ ॥

(बाध) नहीं, अर्थ विशेष की प्रबलता से* ।

भाष्य—बाध नहीं, क्योंकि आत्मा और मन के सन्निकर्ष के बिना भी कभी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, यह अभिप्रेत नहीं, किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रधानता अभिप्रेत है; कि अर्थ विशेष की प्रबलता से सोए हुए और खुभे मन वालों को भी कभी २ ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थ विशेष=कोई ही इन्द्रिय का विषय, उस की प्रबलता है, तीव्र होना, वा बड़ा होना। यह अर्थ विशेष की प्रबलता इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के विषय में होती है, आत्मा और मन के सन्निकर्ष के विषय में नहीं, इस लिए इन्द्रियार्थसान्निकर्ष प्रधान है।

(प्रश्न) अच्छा तो जब न संकल्प है और न इच्छा है, तो भी सोए हुए, और खुभे मन वालों को, इन्द्रियार्थसान्निकर्ष से जो

---

* अर्थ विशेष (ध्वनि स्पर्श आदि) की प्रबलता से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रधानता अभिप्रेत है, आत्म मनः सन्निकर्ष का बाध नहीं।

ज्ञान उत्पन्न होता है, उस में मन का संयोग भी जब कारण है, तो (इस संयोग का कारण) मन में जो क्रिया होती है, उस का कारण कहना चाहिये।

(उत्तर) जैसे ज्ञाता का इच्छाजन्य प्रयत्न मन का प्रेरक एक आत्मगुण है, इसी प्रकार आत्मा में एक और गुण (अदृष्ट) भी है, जिस की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और दोषों से होती है, और वह हरएक कार्य का साधक है, जिस से प्रेरा हुआ मन इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है। क्योंकि मन आदि उस से न प्रेरा जाय, तो (इन्द्रियों के साथ मन का) संयोग न होने से ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर, इस का (मन का) सब अर्थों (विषयों) वाला होना निवृत्त हो जाता है। इस गुण (अदृष्ट) को द्रव्य गुण कर्म (तीनों) का कारण मानना होगा, नहीं तो सूक्ष्मभूत अर्थात् चार प्रकार के जो परमाणु हैं, उन की क्रिया का हेतु और मन की क्रिया का हेतु और कोई हो नहीं बन सकता, इस कारण शरीर इन्द्रिय और विषयों की अनुत्पत्ति का प्रसंग होगा *।

❀ प्रत्यक्षमनुमानमेकदेश ग्रहणादुपलब्धेः ।३०।

---

* आशय यह है, कि वहां मन में क्रिया आत्मा के प्रयत्न से नहीं, किन्तु अदृष्ट से होती है। उस अनुभव से जो सुख दुःख हमें होना है, वह हमारे ही किसी अदृष्ट का फल है, वह अदृष्ट वहां मन को इन्द्रिय के साथ संयुक्त कर देता है। यह अदृष्ट, द्रव्य गुण कर्म सब की उत्पत्ति का निमित्त है। आदि में जो परमाणुओं में और मनों में क्रिया होती है, उस का भी निमित्त है–

❀ प्रत्यक्ष के लक्षण का तो निर्णय हो गया, अब इससे आगे प्रत्यक्ष का अनुमान में अन्तर्भाव करता हुआ यह कहता है।

प्रत्यक्ष अनुमान है, क्योंकि एक देश (कुछ अवयवों के ग्रहण से (वृक्ष की) उपलब्धि होती है।

भाष्य--यह जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है ज्ञान, कि यही तो वृक्ष है, यह प्रत्यक्ष माना जाता है, पर यह निःसन्देह अनुमान ही है, क्योंकि वृक्ष के एकदेश का ग्रहण होता है। अर्थात् वरले भाग को ग्रहण करके यह वृक्ष को उपलब्ध करता है, पर एकदेश (निरा वरला भाग) वृक्ष नहीं। सो वहां (वृक्ष के ज्ञान में तो) जैसे धूम को ग्रहण करके अग्नि का अनुमान करता है, वैसी ही यह बात हो जाती है।

(इस पूर्व पक्ष की समीक्षा—) (समीक्षक) अच्छा जो एक-देश ग्रहण किया जा रहा है, उस से भिन्न अनुमेय क्या मानते हो? (पूर्वपक्षी) अवयवसमूह पक्ष में दूसरे अवयव, द्रव्योत्पत्ति पक्ष में (अवयव) और अवयवी * (समीक्षक) अवयवसमूह पक्ष में तो (अनुमान से भी) एकदेश के ग्रहण करने के कारण वृक्ष बुद्धि का अभाव होगा, क्योंकि जैसे (नेत्र से) ग्रहण किया गया एकदेश वृक्ष नहीं, वैसे ग्रहण न किया हुआ दूसरा एकदेश, (जो अनुमेय है, वह) भी वृक्ष नहीं। यदि ऐसा कहो, कि एकदेश के ग्रहण से दूसरे एक देश का अनुमान होता है, पीछे समूह का स्मरण हो कर वृक्षबुद्धि उत्पन्न होती है, तब ऐसी अवस्था में वृक्ष-

---

* एक पक्ष यह है, कि अवयव समूह ही अवयवी है, तन्तु समूह ही पट है, रेणसमूह ही घट है। तन्तुओं से पट और मट्टी से घट उत्पन्न नहीं हुआ। दूसरा पक्ष यह है, कि तन्तुओं से पट एक नया द्रव्य उत्पन्न होता है, और मट्टी से घट एक नया द्रव्य उत्पन्न होता है। इन में द्रव्योत्पत्ति पक्ष नैयायिकों का अपना है। अवयवसमूह पक्ष बौद्ध मानते हैं। पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय है, कि दोनों ही पक्षों में वृक्ष अनुमेय ही ठहरता है प्रत्यक्ष नहीं।

बुद्धि अनुमान नहीं हो सकती (स्मृति हो सकती है)। और द्रव्योत्पत्ति पक्ष में अवयवी अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि इस का एकदेश से सम्बन्ध पहले कहीं ग्रहण नहीं किया है, और यदि ग्रहण किया मानो तो (यहां भी ग्रहण मान लो, फिर यहां वहां) भेद न होने से अनुमेयत्व का अभाव होगा†। इस लिए वृक्षबुद्धि अनुमान नहीं।

अवतरणिका—एकदेश ग्रहण का आश्रय लेकर प्रत्यक्ष को अनुमान सिद्ध करते हो, पर यह बात।

न, प्रत्यक्षेण यावत् तावदप्युपलम्भात् ॥३१॥

नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से जितनी (कहो) उतनी भी तो उपलब्धि है।

भाष्य—प्रत्यक्ष अनुमान नहीं, क्योंकि (उस एकदेश की तो) प्रत्यक्ष से ही उपलब्धि होती है। यह जो एकदेश का ग्रहण माना जाता है, प्रत्यक्ष से ही तो वह ज्ञान है, और ज्ञान निर्विषय होता नहीं, सो जितना अर्थ उस (प्रत्यक्ष) का विषय है, उतना भी माना हुआ प्रत्यक्ष का व्यवस्थापक बन जाता है। यह एकदेश का ज्ञान अनुमान नहीं माना जा सकता, अनुमान मानने में कोई हेतु नहीं ' एक दूसरे प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान होने का प्रसङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है '॥ अर्थात् प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है, सम्बद्ध अग्नि और धूम को जो (रसोई आदि में) प्रत्यक्ष देख चुका है, उस को (पर्वतादि में धूम के प्रत्यक्ष देखने से अग्नि में अनुमान होता है। यह जो कि (रसोई में) सम्बद्ध हुए लिङ्ग लिङ्गी का प्रत्यक्ष दर्शन है, और जो (पर्वत में) लिङ्गमात्र का ग्रहण है, इस के बिना अनुमान की प्रवृत्ति

---

† धूम और अग्नि का सम्बन्ध पहले ग्रहण किया हुआ है, तब धूम से अग्नि का अनुमान होता है। इस प्रकार वृक्ष के एकदेश का तो वृक्ष के साथ सम्बन्ध कहीं भी ग्रहण नहीं किया, फिर उस से अनुमान कैसे। और यदि पहले ग्रहण मानो, तो अब भी हो सकता

नहीं हो सकती है, और यह (लिङ्ग लिङ्गी का दर्शन और लिङ्ग दर्शन) अनुमान नहीं, क्योंकि यह तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। और अनुमेय का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष हो कर अनुमान नहीं हुआ करता । सो यह प्रत्यक्ष और अनुमान के लक्षण का बड़ा भेद अवश्य मानना होगा ।

नचैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥

निरा एक देश की ही उपलब्धि नहीं, क्योंकि अवयवी का सद्भाव है ।

भाष्य—निरा एक देश की उपलब्धि ही नहीं, किन्तु एक देश की उपलब्धि है, और उस के साथ होने वाले अवयवी की भी उपलब्धि है, क्योंकि अवयवी का सद्भाव (अस्तित्व) है। है एक-देश से भिन्न अवयवी, वह उन अवयवों के आश्रय है, और जब एक देश (कुछ अवयवों) की उपलब्धि है, तो उपलब्धि के कारण को प्राप्त हुए उस अवयवी की अनुपलब्धि नहीं बन सकती* ।

'यदि कहो, कि पूरे का ग्रहण नहीं होता, तो ठीक नहीं, क्योंकि कारण से भिन्न कोई एकदेश नहीं' (आशय यह है कि) सारे अवयव तो ग्रहण किये नहीं जाते, क्योंकि अवयवों से ही दूसरे अवयवों का व्यवधान है, इसलिए पूरा अवयवी नहीं गृहीत होता, क्योंकि जितने अवयव गृहीत होरहे हैं, उन में यह सारा नहीं

---

* नैयायिकों का अपना पक्ष यही है, कि अवयवों से अलग अवयवी द्रव्य होता है। सो इस पक्ष में निरे एकदेश की ही उपलब्धि नहीं बन सकती, क्योंकि महत् द्रव्य की उपलब्धि होती है, सो जिस का एकदेश महत्व के कारण उपलब्ध हो रहा है, वह अवयवी उपलब्ध न हो, यह हो नहीं सकता, क्योंकि उपलब्धि का कारण जो महत्व है, वह उस में सुतरां है ।

आगया, इसप्रकार एकदेशकी उपलब्धि फिर भी बनी ही है । य
ऐसा कहो, तो उत्तर यह है, कि पूरा कहलाता है जब कुछ
न हो, और न पूरा कहलाता है, जब कुछ शेष हो । अब
बात अवयव जो कि बहुत हैं, उन में तो घट सकती है,
जिन में व्यवधान नहीं, उन का ग्रहण होता है, जिन में व्यवध
है, उनका ग्रहण नहीं होता । पर आप से हम यह पूछते हैं, यह
बतलाइये, कि अवयवी जब गृहीत होरहा है, तो उसका अगृही
क्या मानते हो, जिस से उसके एकदेश की उपलब्धि बन सके
इस (अवयवी) के जो कारण (अवयव) हैं, उनसे अलग
उस के एकदेश होते नहीं, और अलग २ अवयवों में उस
रहना नहीं बन सकता (वह तो सारे ही अवयवों में रहता है
(पूर्वपक्षी) यह है उस का (अलग २ अवयवों में) रहना, कि जि
अवयवों का इन्द्रिय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है, उनके साथ
(अवयवी) गृहीत होता है, और जिन अवयवों का व्यवधान
कारण ग्रहण नहीं होता, उनके साथ वह गृहीत नहीं होत
(सिद्धान्ती) इस से कोई भेद नहीं आता (अवयवी तो एक
है, वह जब गृहीत होगया, तो उस का अग्रहण नहीं बन सकता
(और जो अलग अवयवी नहीं मानते, उनसे यह पूछना है कि
समुदायी जो हैं, उनकी अशेषतारूप समुदाय वृक्ष होगा, वा
उनका संयोग । दोनों प्रकार (वृक्ष का) ग्रहण नहीं बनता अर्थात
मूल तना शाखा पत्ते आदि की अशेषतारूप समुदाय का नाम
वृक्ष हो, वा उन समुदायिओं के संयोग का नाम वृक्ष हो, दोनों
प्रकार से समुदायभूत वृक्ष का ग्रहण नहीं बन सकता है । क्योंकि
अवयवों से दूसरे अवयवों को आड़ में आजाने के कारण अशेष को
ग्रहण नहीं बन सकता, और संयोग का ग्रहण भी नहीं बन सकता
क्योंकि संयोगवालों का (सब का) जो ग्रहण नहीं । सो यह एक
देश के साथ ही होने वाली जो वृक्ष बुद्धि है, यह द्रव्योत्पत्ति पक्ष
में बन सकती है, समुदायमात्र में नहीं ।

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३३ ॥

साध्य होने से अवयवी में संशय है।

भाष्य—जो यह कहा है 'अवयाविसद्भावात्' (पूर्व ३२) यह अहेतु है, क्योंकि यह साध्य है। पहले यही बात सिद्ध करने योग्य है, कि 'क्या कारणों से द्रव्यान्तर उत्पन्न होता है'। इस का तो उपपादन किया नहीं। तब ऐसी अवस्था में विप्रतिपत्तिमात्र रह जाती है (तुम कहते हो अवयवी है, दूसरे कहते हैं नहीं है) और विप्रतिपत्ति से अवयवी के विषय में संशय होता है (कि अवयवी कोई द्रव्यान्तर होता है वा अवयवसमूह ही है)।

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४ ॥

अवयवी की असिद्धि से सब का अग्रहण होगा।

भाष्य—यदि अवयवी नहीं, तो सब का ग्रहण नहीं बन सकता, यह सब क्या है? द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। कैसे? (इन सब का ग्रहण नहीं बनेगा) (उत्तर) परमाणुओं का समूह वा संयोग तो दृष्टि का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। और (तुम्हारे पक्ष में) द्रव्यान्तर कोई अवयवीभूत है ही नहीं, जो दर्शन का विषय हो, और दर्शन का विषय बन कर ये द्रव्य आदि गृहीत होते हैं, वे अधिष्ठान (प्रतीति के आश्रय वस्तु) के बिना तो गृहीत हो नहीं सकते, पर गृहीत होते हैं, कि 'यह घट है जो श्याम है, एक है, महान् है, संयुक्त है, चलता है, और मट्टीमय है'। हैं ये गुण आदि (द्रव्य के) धर्म* (जो

---

* श्याम, एक, महान्, संयुक्त-प्रतीति से श्यामता, एकत्व, महत्व और संयोग गुणों की प्रतीति है। 'चलता है' से क्रिया की 'है' से सामान्य की, 'मट्टीमय है' से समवाय सम्बन्ध की।

कि द्रव्य के साथ गृहीत हो रहे हैं) सो इन सब के ग्रहण से हम देखते हैं, कि है द्रव्यान्तर अवयवी ।

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

धारण और आकर्षण के बन सकने से भी (अवयवी अलग है*)

भाष्य—अवयवी अलग है ॥ धारण और आकर्षण संग्रह के कारण होते हैं । संग्रह नाम संयोग का साथी एक और गुण है जो कच्चे घड़े में तो जलों के संयोग से स्नेह और द्रवत्व से उत्पन्न होता है, और पक्के में अग्नि के संयोग से । (उस संग्रह के निमित्त धारण और आकर्षण होते हैं) यदि अवयवी होने के कारण होते, तो धूल के ढेर आदि में भी ज्ञात होते, और लाख से जोड़े हुए तृण पत्थर लकड़ी आदि में न होते † ।

अवतरणिका—अच्छा तो अब, अवयवी का खण्डन करने वाला, 'मत हो प्रत्यक्ष का लोप' इस हेतु से जो यह प्रतिज्ञा करता है कि दर्शन का विषय अणुसमूह है, उससे क्या पूछना चाहिये ? उससे पूछना चाहिये, कि 'यह एक द्रव्य है' इस एकबुद्धि का विषय

---

* यदि अवयव समूह से अलग एक अवयवी न हो, तो एक लम्बी गेली के ठीक मध्य के नीचे ढासना रखने से सारी गेली का धारण न हो, और एक ओर से खींचने पर सारी न खिची जाए ।

† सूत्रकार ने अवयवी की सिद्धि में जो धारण और आकर्षण की युक्ति दी है, उस पर भाष्यकार ने यह दूषण दिया है, कि धारण और आकर्षण अवयवी होने के कारण नहीं होते, किन्तु स्पर्शवाले द्रव्यों में एक दूसरे को पकड़ने का जो गुण है, जिस का नाम संग्रह है, उससे होते हैं, यह गुण अनेक द्रव्यों के अतिनिकट होने पर अपना प्रभाव दिखलाता है

क्या है ? क्या यह एक बुद्धि अभिन्न अर्थ को विषय करती है, वा भिन्न २ अर्थों (वस्तुओं) को विषय करती है । यदि अभिन्न अर्थ को विषय करती है, तो एक अलग पदार्थ के मानलेने से अवयवी की सिद्धि होगई । यदि नाना अर्थों को विषय करती है, तो भिन्न २ अर्थों को 'एक' देखना नहीं बन सकता । अनेक में 'एक है' ऐसा बाधित ज्ञान नहीं देखा जाता ।

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥३६॥

सेना और वन की न्याईं (अनेकों का 'एक' ऐसा) ग्रहण होता है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि अणु अतीन्द्रिय हैं (वे इन्द्रियों का विषय हो ही नहीं सकते)

भाष्य---(प्रश्न) जैसे, दूरसे जिनका पृथक् होना गृहीत नहीं होता, उन सेना के अंगों और वन के अंगों में 'एक' (सेना है, वा वन है) ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जिन का पृथक होना गृहीत नहीं होता, उन सञ्चित हुए अणुओं में 'यह एक है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है (उत्तर) जैसे, सेना के अंग और वन के अंग, जो कि पहले अलग २ ग्रहण होते रहते हैं, उन का अलग २ होना ग्रहण नहीं होता, जब कोई ऐसा कारणान्तर हो, जैसे दूर से (उनका पृथक्त्व गृहीत नहीं होता), और जैसे पहले जिनकी जातियां गृहीत होती रहती हैं, दूर से उनकी जातियों का ग्रहण नहीं होता, कि यह पलाश है और यह खैर है। जैसे, जिनकी क्रिया का अलग ग्रहण होता रहता है, दूर से उनकी क्रिया का ग्रहण नहीं होता। सो पहले पृथक् ग्रहण होते हुए अर्थ के पृथक्त्व का जब ग्रहण न हो, तब उसमें 'एक' ऐसी गौणी प्रतीति होती है, पर परमाणुओं में यह बात नहीं घटती, कि पहले पृथक् २ ग्रहण होते हों, और फिर कारण से उनका पृथक्त्व ग्रहण न होने से, उन में 'एक' ऐसी गौणी

प्रतीति हो, * क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। किञ्च इसी की तो परीक्षा की जा रही है, कि क्या 'एक' प्रतीति अणुओं के संचय को विषय करती है, अथवा नहीं, और अणुओं के संचय ही हैं सेना और वन के अंग, सो जिसकी परीक्षा होरही है, वह उदाहरण नहीं बन सकता, क्योंकि वह स्वयंसाध्य है†।

'देखा गया है; यदि ऐसा कहो, तो नहीं, उसी के विषय की परीक्षा होने से'(अर्थात्] यदि वह ऐसा माने, कि यह देखागया है, कि सेना और वन के अंगों के अलग २ ग्रहण न होने से अभेद से 'एक' ऐसा ज्ञान होता है, और दृष्ट से इन्कार हो नहीं सकता ? तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उसी के विषय की तो परीक्षा हो रही है। दर्शन के विषय की ही परीक्षा हो रही है। अर्थात् 'यह एक' ऐसी जो प्रतीति होती है, उसी की परीक्षा हो रही है। क्या यह द्रव्यान्तर [अवयवी] को विषय करती है, वा अणुसञ्चय को विषय करती है। सो यहां दर्शन दोनों में से किसी एक का साधक नहीं है।

किंच—अनेक अणुओं के पृथक्त्व का ग्रहण न होने से, अभेद से जो 'एक' ऐसी प्रतीति होती है, यह अन्य में अन्य

---

* सेना वन के अंग पहले अलग २ ग्रहण होते हैं, जब दूर से उन का अलग २ होना गृहीत नहीं होता, तो उन में गौणी एकत्व प्रतीति होती है। इसी प्रकार परमाणु भी पहले अलग २ ग्रहण हों, तब उन के समुदाय में एकत्व प्रतीति कही जा सके।

† सच तो यह है, कि सेना और वन के अंग तुम्हारे मत में उदाहरण ही नहीं बन सकते, क्योंकि ये भी अणुओं का ढेर हैं, और इसी की परीक्षा होरही है, कि अणुओं का ढेर प्रत्यक्ष हो भी सकता वा नहीं। पहले यह सिद्ध करलो, कि अणुसञ्चय प्रत्यक्ष हो सकता है, तब तुम्हारे पक्ष में ये उदाहरण बनेंगे।

प्रतीति है, जैसे कि स्थाणु में पुरुष प्रतीति होती है। अच्छा तब क्या हुआ ?[तब यह हुआ कि]अन्य में अन्यप्रतीति यतः मुख्यप्रतीति की अपेक्षा रखती है, इस से मुख्यप्रतीति की सिद्धि होती है। स्थाणु में पुरुष प्रतीति की मुख्यप्रतीति क्या है ? वह जो पुरुष में पुरुष प्रतीति है उसकेहोते हुए(=मुख्यप्रतीति के अलग होते हुए) पुरुष की समानता के देखने से स्थाणु में 'यह पुरुष है' ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार नाना अणुओं में 'एक है' यह प्रतीति समानता के ग्रहण से तभी हो सकती है, जब 'एक है' की मुख्यप्रतीति कहीं अलग हो, और मुख्यप्रतीति किसी के भी गृहीत न होने से बन नहीं सकती, इसलिये 'एक है' यह अभेद प्रतीति अभिन्न में ही है।

'दूसरे इन्द्रियों के विषय में जो अभेद प्रतीति होती है, वह मुख्य (प्रतीति) है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि विशेष हेतु के न होने से दृष्टान्त की अव्यवस्था होगी' (यह आशय है) श्रोत्रादि के जो शब्दादि विषय हैं, उन में जो 'एक' प्रतीति है, वह अभिन्नों 'में एक' प्रतीति है, इस लिए वही एक में एक प्रतीति की मुख्य प्रतीति होगी। ऐसा कहो, तो (शब्दादि-) दृष्टान्त के ग्रहण की कोई व्यवस्था नहीं रहती, क्योंकि कोई विशेषहेतु है नहीं। कि अणुओं के ढेर में जो एक प्रतीति है, वह क्या स्थाणु में पुरुष प्रतीति की नांई अन्य में अन्य प्रतीति है, अथवा अर्थ के वस्तुतः वैसा होने से (एक होने से] 'उस में वह' प्रतीति (यथार्थ प्रतीति) है जैसे शब्द के एक होने के कारण 'एक शब्द' ऐसी प्रतीति होती है। विशेष हेतु दिये विना दो (विरोधी) दृष्टान्त संशय डाल देते हैं (निर्णय नहीं कराते)। वस्तुतस्तु घट की नांई गन्ध आदि भी संचयमात्र हैं, इस लिए गन्ध आदि उदाहरण नहीं बन सकते। इसी प्रकार परिमाण, संयोग, जाति विशेष की प्रतीतियों में भी

पूछना चाहिये, उन में भी यह आपत्ति आती है*।

'अणु शब्द है, महान् शब्द है, इस प्रतीति से मुख्य प्रत
की सिद्धि है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, (यह शब्द की) मन
और तीव्रता का ग्रहण है, (इस से) इयत्ता का अवधारण
होता, जैसा कि द्रव्य में होता है,' अर्थात् शब्द अणु है अर्थात् अ
है मन्द है, और महान् शब्द है अर्थात् जोर का है तीव्र है, यह जा
जाता है, क्योंकि इस से (शब्द की) इयत्ता का अवधारण न
होता। 'महान् है शब्द' ऐसा जानता हुआ ज्ञाता यह नहीं जान
कि इतना है, जैसा कि बेर आमले और बिल्ल आदि को जानता है†।

---

* 'यह एक महान् घट है' यह जो महत्व प्रतीति है, य
भी अणुसञ्चय में नहीं हो सकती, क्योंकि अणु महत् नहीं हो
ऐसे 'ये दो संयुक्त हैं' यहां संयोग प्रतीति भी अणु संचय में न
हो सकती, क्योंकि अणु अतीन्द्रिय है, और अतीन्द्रिय द्रव्यों क
संयोग अतीन्द्रिय होता है। वैसे ही क्रिया का प्रत्यक्ष और जाति
का प्रत्यक्ष भी अतीन्द्रिय में नहीं होता, और इन की प्रतीति
एकत्वादि संख्या के समानाधिकरण होकर प्रतीत होती हैं 'एक य
महान् घट है' ये दो संयुक्त हैं वह एक वृक्ष है, जो हिल रहा है।

† महत्व की प्रतीति का मुख्य विषय यदि 'महान् है शब्द'
इस प्रतीति को जानो, तो उत्तर यह है, कि इस से यदि शब्द की
इयत्ता की प्रतीति होती कि इतना बड़ा है शब्द, जैसे कि बेर की
इयत्ता की प्रतीति होती है, तब यह परिमाण का बोधक होता, पर
शब्द में कोई इयत्ता तो अनुभव होती ही नहीं, इस लिए 'महान्
है शब्द' का अभिप्राय यह है कि तीव्र है शब्द, यह नहीं कि इतना
बड़ा है।

'ये दोनों आपस में संयुक्त हैं' यह जो द्वित्व के साथ एक आश्रय में संयोग की प्रतीति है (जिन में द्वित्व की प्रतीति होती है, उन्हीं में की संयोग प्रतीति है, यह भी अलग अवयवी को सिद्ध करती है)। यदि यह कहो, कि दो समुदाय जो हैं, वे संयोग का आश्रय हैं, तो हम पूछते हैं, कि समुदाय क्या है? क्या अनेक अणुओं का संयोग समुदाय है, वा एक का अनेक संयोग समुदाय है। यदि ऐसा कहो, तो (नहीं, क्योंकि जब समुदाय संयोग का नाम हुआ, तब हमें संयोग, दो संयोगों के आश्रित भासना चाहिये पर) संयोग के आश्रित संयोग का ग्रहण नहीं होता। 'ये दो वस्तुएं संयुक्त हैं' इस प्रतीति में दो संयोग संयुक्त हुए नहीं गृहीत होते।

'अनेकों का समूह समुदाय है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि द्वित्व के साथ एक आधार में (संयोग की) प्रतीति होती है' ये दो अर्थ संयुक्त हैं, इस प्रतीति में संयोग अनेकों के समूह के आश्रय प्रतीत नहीं होता (किन्तु दो के आश्रय प्रतीत होता है) और अणु दो की प्रतीति होती नहीं, इस लिए महत्व परिमाण वाले, द्वित्व के आधार, दो द्रव्य, संयोग का आधार हैं।

'संयोग कोई अलग पदार्थ नहीं, किन्तु ऐसी निकटता कि जिस में एक दूसरे को परे न हटाए, वही संयोग है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि संयोग दूसरे पदार्थों का कारण है'* संयोग शब्द का, रूपादि का और क्रिया का कारण हैं, क्योंकि दो द्रव्यों को, एक और गुण उत्पन्न किये बिना, शब्द में रूपादि में और क्रिया में कारणता नहीं बन सकती। इसलिए संयुक्त प्रतीति का विषय गुण एक अलग पदार्थ मानना चाहिये।

---

*संयोग के आधार रूप से जो अवयवी द्रव्य सिद्ध किया है, इस पर यह आक्षेप करता है, कि संयोग कोई स्वतन्त्र पदार्थ ही

अथवा उसका (संयोग का) प्रतिषेध (संयोगका सा... है)। 'कुण्डलोंवाला तो है गुरु और विना कुण्डलों के जो है, वा... विद्यार्थी, सो संयोग बुद्धि का विषय यदि अलग पदार्थ नहीं मा... हो, तो भी अर्थान्तर का निषेध जो है, यह उस... विषय होगा। यहां जिस का प्रतिषेध है, वह कहना होगा 'ये... द्रव्य संयुक्त हैं' इस प्रकार अन्यत्र (विधिस्थल में) देखे हुए ... पदार्थ का (यहां 'अकुण्डली छात्रः' में) प्रतिषेध किया है, ... कहना चाहिये (यह प्रतिषेध कुण्डलों का नहीं, कुण्डलों के संय... का ही बन सकता है) और यह दो महत्परिमाण वालों के आश्रि... प्रतीत होता है इस लिए अणुओं के आश्रय नहीं है।

एकाकार प्रतीति जिस का लिङ्ग है, उस जाति विशेष ... भी इन्कार नहीं कर सकते, और इन्कार करो तो [एकाकार ... प्रतीति की कोई व्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि बिना आधार ... प्रतीति हो नहीं सकती, इसलिए कोई आधार कहना होगा ...

नहीं, तो उसके सहारे पर अवयवी की सिद्धि क्योंकर होगी ... संयोग इस के सिवा और कुछ नहीं, कि दो द्रव्य इतने निक... होगए हैं, कि अब वे एक दूसरे को परे नहीं हटाते। इस आक्षे... का उत्तर यह है, कि दो द्रव्यों के संयोग से शब्द उत्पन्न होता है ... संयोग से ही क्रिया भी उत्पन्न होती है, हरे कसैले आम में गर्मी ... संयोग से ही रूप रस आदि उत्पन्न होते हैं। सो संयोग इतने कार्यों ... का कारण है, उससे इन्कार कैसे हो सकता है। यह भी नहीं ... कह सकते, कि द्रव्य ही इन कार्यों के कारण हैं, क्योंकि द्रव्य, गुण ... क्रिया के कारण गुण द्वारा ही होते हैं, इस लिए शब्द आदि की ... उत्पत्ति से पूर्व, उन में, अवश्य कोई नया गुण उत्पन्न होता है, ... वही संयोग ही है।

अणुओं का समवस्थान (तरतीब) जाति का विषय है †, यदि ऐसा कहो, तो गृहीत और अगृहीत (अणुसवमस्थान का सामर्थ्य कहना होगा, कि(वृक्षत्व आदि) जातिविशेष जिस अणुसमवस्थान के आश्रय गृहीत होता है, वह अणुसमवस्थान क्या गृहीत है वा अगृहीत है। यदि अगृहीत के आश्रय कहो, तब उस अणुसमवस्थान की भी उपलब्धि होनी चाहिये, जो आड़ में है, क्योंकि उस के आश्रय जो जातिविशेष है, उस का जो ग्रहण हो रहा है। और यदि गृहीत (अणुसमवस्थान) के आश्रय (जाति की प्रतीति) कहो, तो मध्य भाग और पर भाग यतःगृहीत नहीं,इसलिए अगृहीत के आश्रित जाति की प्रतीति नहीं हो सकेगी। जितना भाग गृहीत है, उतने के आश्रय जाति की प्रतीति होती है, यदि ऐसा कहो, तो उतना अणुसमवस्थान ही जाति का आधार होगा। अर्थात् जितने के गृहीत होने पर जातिविशेष गृहीत होता है, उतना ही जाति का आधार है, यह सिद्ध होता है। तब प्रतीत होने वाले एकसमुदाय में अर्थ का भेद होगा ' अर्थात् ऐसी अवस्था में जो अणुसमुदाय एक वृक्ष करके प्रतीत हो रहा है, उस में वृक्षों की अनेकता प्रतीत होगी, क्योंकि अणुसमुदाय के के जिस २ भाग में वृक्षत्व जाति गृहीत होती है, वह २ वृक्ष है‡। इस लिए संयुक्त हुए अणु जिस के अवयव हैं, वह उन अवयवों से भिन्न एक पदार्थ उस जातिविशेष की प्रतीति का आधार है, इस लिए अवयवी एक अलग पदार्थ है।

पृष्ठ १४४ का नोट

* 'यह वृक्ष है वह वृक्ष है' यह जो भिन्न २ व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति है, यही जाति का लिङ्ग है। यद्यपि व्यक्तियें भिन्न हैं, तथापि उन सब में वृक्षत्व जाति एक है, क्योंकि इस सब में 'वृक्ष' ऐसी एकाकार प्रतीति होती है।

† जिस समवस्थान से अणु वृक्षरूपेण प्रतीत हो रहे हैं, वह

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमान-मप्रमाणम् ॥ ३७ ॥

रोक, चोट और सादृश्य के निमित्त (अनुमान में) व्यभिचार (दे[खने]) से अनुमान अप्रमाण है।

भाष्य-अप्रमाण है अर्थात् कभी भी अर्थ का निर्णायक न[हीं] होता। जैसा (पानी की) रोक से (=उपरले बन्ध के टूटने [से] वा नीचे बन्ध बांधने से) भी नदी भर जाती है, तब (पानी [के] चढ़ाव को देख कर) 'ऊपर मेघ बरसा है' यह मिथ्या अनुमा[न] होगा। बिल की चोट (फटने आदि) से भी कीड़ियें अण्डों [को] उठा ले चलती हैं, तब 'होगी वर्षा' यह मिथ्या अनुमान होगा[।] पुरुष भी मोर के शब्द का अनुकरण कर लेता है, तब शब्द [के] सादृश्य से ('यहां मोर है' यह) मिथ्या अनुमान होगा। (उत्तर-)

अणुसमवस्थान ही वृक्षत्व जाति का आश्रय मानेंगे, कोई अव[यवी] एक द्रव्य नहीं।

‡ वृक्षत्व यदि एक अवयवी के आश्रय न मान कर अणुसम[व]स्थान के आश्रय मानो, तो जितना अणुसमवस्थान वृक्ष है, उस[के] कई भाग आंखों का विषय हैं, कई आंखों से ओझल हैं, अब जा[ति] किन के आश्रय प्रतीत होती है। यदि गृहीत भाग के आश्रय, [तो] जितने के आश्रय वृक्षत्व की प्रतीति हुई, उतना ही वृक्ष होगा, [शेष] को वृक्षता सिद्ध न होगी। यदि अगृहीत के आश्रय कहो, तो गृही[त] भाग को वृक्षता सिद्ध न होगी। यदि जो भाग गृहीत होता [है] उस २ के आश्रय वृक्षत्व की अभिव्यक्ति कहो, तो जिस को वृक्ष कहते हो, उस के भिन्न २ भागों में अलग २ वृक्षत्व की प्रती[ति] होने से एक में अनेक वृक्ष सिद्ध होंगे, एक नहीं सिद्ध होगा, पर प्रती[त] होता है एक वृक्ष। इस लिए जाति की अभिव्यक्ति का विषय [एक] एक अवयवी ही बन सकता है अणुसमवस्थान नहीं।

नैकदेशत्रास सादृश्येभ्योऽर्थान्तर भावात् ।३८।

(व्यभिचार) नहीं, क्योंकि एक देश, भय, और सादृश्य से भिन्न है (लिङ्ग)।

भाष्य—यह अनुमान का व्यभिचार नहीं। यह तो जहां अनुमान बनता ही नहीं, वहां अनुमान का अभिमान है। कैसे ? (इस तरह कि लिंग) जब तक अपने सारे विशेषणों से विशिष्ट न हो, तब तक वह लिङ्ग नहीं बन सकता। जैसे पहले जल से विलक्षण वर्षा का जल, प्रवाह की तेज़ी, बहुत सी झाग, फल, पत्ते, लकड़ी आदि का बहना, यह सब उपलब्ध करता हुआ, नदी की पूर्णता से, ऊपर हुई वर्षा का अनुमान करता है, न कि निरा जल की बाढ़ मात्र से (जल की बाढ़ मात्र लिङ्ग का एकदेश है, पूरा लिङ्ग नहीं, क्योंकि सारे विशेषणों युक्त नहीं) इसी तरह यहां वहां जब बहुत जगह से कीड़ियें अण्डे ले निकलें, तब होने वाली वर्षा का अनुमान होता है, न कि किसी एक स्थल की कीड़ियों से (जो किसी स्थानिक भय के कारण वैसे हो सकता है) इसी प्रकार 'यह शब्द मोर का नहीं, किन्तु उसके सदृश और कोई शब्द है' यह जो (असली और नकली शब्द में) भेद है, उस के न जानने से मिथ्या अनुमान होता है। हां जो विलक्षण शब्द को जान कर विशिष्ट मोर शब्द का ग्रहण करता है, उस के लिए, ग्रहण किया हुआ यह विलक्षण अर्थ (मोर का) लिङ्ग होता है, जैसे कि सर्प आदि का (सर्प का शब्द टिड्डी के शब्द के सदृश होता है, किन्तु उस में कुछ विलक्षणता भी है, उसको पहचाने बिना जो अनुमान करता है, वह मिथ्या अनुमान करता है, जो उस विलक्षणता को ग्रहण करके अनुमान करता है, उस का अनुमान यथार्थ होता है) सो यह अनुमान करने वाले का अपराध है, अनुमान का नहीं, जो विशिष्ट अर्थ (लिङ्ग) से अनुमान करने योग्य का बिना विशेषणों के देखे अनुमान करलेना है।

अवतरणिका—अनुमान तीनों कालों के विषय में होता है क्योंकि तीनों कालों के अर्थों को ग्रहण करता है यह कहा है (१ १ । ५ भाष्य) इस विषय में (कहते हैं—)

वर्तमानाभावःपततः पतितपतितव्य कालोपपत्तेः

वर्तमान का अभाव है, क्योंकि गिरते हुए (फल आदि) दो ही काल बनते हैं, एक उस के गिर चुकने का काल, दूसरा आगे गिरने का काल।

भाष्य—डंडी से टूट कर भूमि की ओर आते हुए फल का जो ऊपर का मार्ग है, वह तो वह लंघ चुका है, उस से संयुक्त काल जो है वह तो अब गिरने का भूत काल हो गया। और जो नीचे मार्ग है, जो अभी लंघना है, उससे संयुक्त काल गिरने का भविष्यत् काल होगा (क्योंकि वह अभी आना है)। अब तीसरा तो कोई मार्ग है ही नहीं, जहां 'पतति-गिर रहा है' यह वर्तमान काल ग्रहण किया जाए, इस लिए वर्तमान काल कोई नहीं है। (उत्तर-)

तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥४०॥

वर्तमान के अभाव में, उन दोनों का भी अभाव होगा, क्योंकि (वे दोनों) उस की (=वर्तमान की) अपेक्षा से होते हैं।

भाष्य—काल का व्यञ्जक (प्रकाशक) मार्ग नहीं, किन्तु क्रिया होती है, जैसा कि 'पतति=गिर रहा है' (काल, फल, मार्ग तो उस से पहले भी थे, किन्तु फल में क्रिया पहले न थी, वह अब हुई है,अतएव वही काल की व्यञ्जक है,उस क्रिया की वर्तमानता, अतीतता, और भविष्यत्ता को लेकर वर्तमान भूत भविष्यत् कहा जाता है न कि मार्गको लेकर)। जब क्रियाबन्द हो चुकीहै,तो वह काल भूत काल है। जब अभी उत्पन्न होनी है, तब भविष्यत्काल है। जब द्रव्य में वर्तमान

क्रिया ग्रहण की जाती है, तो वह वर्तमान काल है। सो जब यह द्रव्य में वर्तमान हुए पतन (गिरने की क्रिया) को ग्रहण नहीं करता, तो किस के बन्द होने वा आगे उत्पन्न होने को जानता है। पतित-काल इस से अभिप्राय है, कि पतन क्रिया हो चुकी है। पतितव्य-काल से अभिप्राय है, कि पतन क्रिया अभी उत्पन्न होनी है। दोनों ही कालों में, द्रव्य जो कि पहले क्रिया से हीन था, उस समय उस का, नीचे गिरने कीक्रिया से सम्बद्ध ग्रहण करता है। सो यह वर्तमान काल क्रिया और द्रव्य को सम्बन्ध के पहले ग्रहण करता है, तब उस के आश्रय पर, दूसरे दोनों काल (भूत और भविष्यत्) होते हैं। उस के (वर्तमान के) अभाव में वे दोनों हो ही नहीं सकते। और यह भी है, कि—

नातीतानागतयो रितरेतरापेक्षासिद्धिः ।४१।

आपस में एक दूसरे की अपेक्षा से भूत और भविष्यत की सिद्धि नहीं होती।

भाष्य—यदि, भूत और भविष्यत, आपस में एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध हो सकें, तो भी हम वर्तमान का अभाव मान लें, पर न तो भूत की अपेक्षा से भविष्यत् की सिद्धि और न ही भविष्यत की अपेक्षा से भूत की सिद्धि हो सकती है। किस युक्ति से (सिद्धि नहीं हो सकेगी? इस युक्ति से कि) वर्तमान के अभाव में इस बात का निर्वचन कोई नहीं कर सकता, कि किस प्रकार वह भूत हुआ, तब कैसे भूत की अपेक्षा से भविष्यत् की सिद्धि हो सके। इसी प्रकार 'कैसे वह भविष्यत हुआ? (तब कैसे भविष्यत् की अपेक्षा भूत की सिद्धि हो)। और यदि वह यह माने, कि जैसे ह्रस्व और दीर्घ की, ऊंचे और नीचे की, छाया और धूप की एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि होती है, इसी प्रकार भूत और भविष्यत् की (एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि) होगी। तो, यह

बन नहीं सकता है, क्योंकि इस में विशेष हेतु तो कोई नहीं। (रहा दृष्टान्त, सो) दृष्टान्त की नाईं प्रतिदृष्टान्त भी तो आ पड़ता है। जैसे रूप स्पर्श, गन्ध और रस एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होते, इसी प्रकार भूत और भविष्यत् भी एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होंगे। (वस्तु तस्तु) एक दूसरे की अपेक्षा से किसी की भी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि एक के अभाव में दूसरे का अभाव होने से दोनों का अभाव सिद्ध होता है। यदि दो में से एक की दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि है, तो अब उस दूसरे की किस की अपेक्षा से सिद्धि है। यदि उस दूसरे की पहले की अपेक्षा से सिद्धि है, तो अब पहले की किस की अपेक्षा से सिद्धि है। इस प्रकार एक के अभाव में जब दूसरा सिद्ध नहीं होता है, तब दोनों का अभाव सिद्ध होता है। किञ्च-'है द्रव्य, है गुण, है कर्म' इस प्रकार अर्थ के सद्भाव (अस्तित्व) से वर्तमान काल व्यक्त होता है*। जिस के (मत में) यह (बात इस प्रकार) नहीं, उस के (पक्ष में)—

वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ।४२।

वर्तमान के अभाव में सब का अग्रहण होगा, क्योंकि (वर्तमान के बिना) प्रत्यक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती †।

भाष्य—प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। और जो विद्यमान नहीं, असत् है, वह इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध नहीं होता है। और यह (वर्तमानाभाववादी तो) कोई विद्यमान सद्वस्तु मानता ही नहीं, जो कि प्रत्यक्ष का निमित्त होती है, इसलिए प्रत्यक्ष का विषय और प्रत्यक्ष का ज्ञान, यह सब नहीं बन सकता।

---

* वर्तमानकाल क्रिया से ही व्यक्त नहीं होता, किन्तु जब तक पदार्थ की सत्ता है, तब तक वह वर्तमान कहलाता है, इसलिए अर्थ की सत्ता से भी वर्तमान व्यक्त होता है।

† जो वर्तमान नहीं, उस का प्रत्यक्ष नहीं होता।

जब प्रत्यक्ष न बना, तो अनुमान और आगम भी नहीं बनेगा, क्योंकि ये दोनों प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं । इस प्रकार सभी प्रमाणों के लोप में किसी का भी ग्रहण नहीं बन सकेगा ।

दोनों प्रकार से वर्तमानकाल ग्रहण किया जाता है । (१) कहीं अर्थ की सता से व्यक्त होता है,जैसे द्रव्य में'द्रव्य है'यह(बुद्धि वर्तमानकाल को प्रकट करती है) (२) कहीं क्रिया के सन्तान=फैलाव से व्यक्त होता है जैसे पकाता है, वा काटता है । (क्रिया का फैलाव दो प्रकार का है) एक तो नाना प्रकार की क्रिया एक प्रयोजन वाली हो, और दूसरा उसी क्रिया का बार २ अभ्यास । इन में से नाना प्रकार की एक प्रयोजन वाली क्रिया है 'पचति=पकाता है (यहां पकाने से एक प्रयोजन वाली इतनी क्रियाएं अभिप्रेत हैं) । बटलोई का चढ़ाना, पानी डालना, चावल डालना, लकडियें लगाना, अग्नि जलाना, कड़छी से नीचे ऊपर हिलाना, पिच्छ बहाना, नीचे उतारना । और छिनत्ति = काटता है, यहां क्रिया का बार २ अभ्यास है । क्योंकि कुल्हाड़े को उठा २ कर लकड़ी पर जब मारता है, तब 'छिनत्ति = काटता है' बोला जाता है ।

अवतरणिका—जो यह पकाया जा रहा, वा काटा जा रहा है, वह है क्रियमाण (पकाने काटने की क्रिया की वर्तमानता) उस, क्रिया की वर्तमानता के होते हुए—

कृतता कर्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ।४३

क्रिया का हो चुका होना और क्रिया का आगे होना यतः बन सकता है, इस लिए दोनों प्रकार से (वर्तमान का) ग्रहण है ।

भाष्य—क्रिया सन्तान जो अभी आरम्भ नहीं किया, किन्तु करने को अभीष्ट है, वह (उस क्रिया का) भविष्यत् काल है । जैसे पक्ष्यति=पकाएगा' । प्रयोजन के अन्त तक (पकजाने तक) पहुंच कर क्रिया सन्तान का जो बन्द हो जाना है, वह भूतकाल है । जैसे

'अपाक्षीत् = वह पका चुका है' । और आरम्भ किया क्रिया सन्तान वर्तमानकाल है । जैसे 'पचति = पकाता है' । इन में से क्रिया-सन्तान का वर्तमान रह कर जो बंद हो जाना है, वह कृतता, जो आगे करने की इच्छा से युक्त होना है, वह कर्तव्यता, और जो विद्यमान होना है, वह क्रियमाणता है । सो इस प्रकार क्रिया संतान के सहारे जो तीनों कालों का व्यवहार है वह 'पचति = पकाता है, पच्यते = पकाया जाता है, इस वर्तमान के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है । क्रिया सन्तान की अटूट लड़ी (वर्तमान से) कही जाती है, क्रिया का आगे आरम्भ होना, वा हो चुका होना नहीं । सो यह वर्तमान भूत भविष्यत् द्वारा दोनों प्रकार से कहा जाता है, समाप्त हो चुका वा इस के विपरीत अभी आरम्भ ही न हुआ (कृतता, वर्तमान क्रिया सन्तान की समाप्ति का नाम है, और कर्तव्यता क्रिया सन्तान की होने वाली वर्तमानता का नाम है)

(पदार्थकी) स्थिति से व्यक्त होता है (वर्तमान, जैसे) है द्रव्य । और तीनों कालों से युक्त हुआ क्रिया सन्तान के न टूटने का वाचक होता है जैसे पकाता है (जिस क्रिया सन्तान का नाम पकाना है, उस में से कोई हो चुकी है, कोई हो रही है, कोई होगी । बटलोई चढ़ाई जा चुकी है, चावल डाले जा रहे हैं, पिच्छ आदि आगे उतारने हैं । इसी तरह काटने में कुल्हाड़ा कई बार लकड़ी पर मारा जा चुका है, कई बार आगे मारना है और मारा जा भी रहा है, इस क्रिया सन्तान के न टूटने का अभिप्रायक है 'पचति छिनत्ति' का वर्तमानकाल) ।

किञ्च—समीप आदि अर्थ की विवक्षा में समीप आदि का वाचक भी लोक में (वर्तमान काल) माना जाता है (समीप भूत काल जितलाने में 'एष आगच्छामि' आ ही रहा हूं और भविष्यत् काल जितलाने में 'एष गच्छामि = यह जाता हूं' ऐसा वर्तमान

प्रयोग होता है । (यह गौण वर्तमान तभी कहा जा सकता है, यदि मुख्य वर्तमान भी हो) इस लिए है वर्तमानकाल (यह सिद्ध हुआ) ।

* अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्या दुपमाना-सिद्धिः ॥४४॥

अत्यन्त, प्राय: और एक देश के साधर्म्य से उपमान नहीं सिद्ध होता है ।

भाष्य—अत्यन्त साधर्म्य से उपमान नहीं सिद्ध होता । ऐसे नहीं होता, जैसे गौ है वैसे गौ है । प्रायः साधर्म्य से उपमान सिद्ध नहीं होता । यह नहीं होता, कि जैसा बैल वैसा भैंसा। एक-देश के साधर्म्य से भी उपमान सिद्ध नहीं होता क्योंकि सब से सब की उपमा नहीं दी जाती (किसी न किसी अंश में तो सब का सब के साथ साधर्म्य होता है) । (उत्तर-)

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानु-पपत्तिः ॥ ४५ ॥

प्रसिद्ध साधर्म्य को लेकर उपमान की सिद्धि है, इस से यथोक्त दोष नहीं बन सकते ।

भाष्य—साधर्म्य की सर्वांशता, वा प्रायता वा अल्पता को लेकर उपमान नहीं प्रवृत्त होता, किन्तु प्रसिद्ध साधर्म्य से जो साध्य साधन भाव है, उस (साध्य साधनभाव) का आश्रय लेकर

---

* अब क्रम प्राप्त उपमान की परीक्षा की जाती है । ' प्रसिद्ध साधर्म्यात्सिद्धसाधनमुपमानम् ' यह उपमान का लक्षण किया है, उस पर यह आक्षेप है—

(उपमान) प्रवृत्त होता है। जहां यह (साध्य साधन का प्रसिद्ध साधर्म्य) है, वहां उपमान का प्रतिषेध नहीं हो सकता (जैसे गौ गवय आदि में) इस लिए तुम्हारे कहे दोष नहीं लग सकते।

अवतरणिका—अच्छा तो हो उपमान अनुमान—

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥

क्योंकि (उपमान में भी अनुमान की तरह) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होती है।

भाष्य—जैसे प्रत्यक्ष धूम से अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान अनुमान है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष गौ से अप्रत्यक्ष गवय का ज्ञान होता है, इस लिए यह अनुमान से कोई विशेषता नहीं रखता है।

अवतरणिका—(उत्तर) विशेषता रखता है, यह बतलाते हैं। किस युक्ति से ? ॥

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ॥ ४७ ॥

अप्रत्यक्ष गवय में हम उपमान के प्रमाण होने का प्रयोजन नहीं देखते हैं* ।

भाष्य—जब यह गौ को पहचानने वाला, उपमान को काम में लाता हुआ, गौ के सदृश अर्थ को देखता है, तब 'यह गवय है' इस प्रकार उस के संज्ञा शब्द की व्यवस्था को ठीक जान लेता है, (यह प्रयोजन है उपमान का) पर अनुमान ऐसा नहीं होता।

(दूसरा भेद यह है कि) उपमान सदा परार्थ (दूसरे को

* गो सादृश्य से अप्रत्यक्ष गवय का ज्ञान उपमान का प्रयोजन नहीं, किन्तु गवय के प्रत्यक्ष होने पर 'इस का नाम गवय है' यह ज्ञान उपमान का प्रयोजन है।

ज्ञान देने के लिए) होता है, जिस के लिए उपमान अप्रसिद्ध है, उस के लिए ऐसे पुरुष द्वारा उपमान किया जाता है, जिस को (उपमान उपमेय) दोनों प्रसिद्ध हैं ।

प्रश्न--उपमान परार्थ होता है यह ठीक नहीं, क्योंकि (बतलाने वाले को) स्वयं भी निश्चय होता है । स्वयं भी तो उस को यह निश्चय होता है, कि जैसे गौ है वैसे गवय है ।

उत्तर—निश्चय का निषेध हम भी नहीं करते, किन्तु वह उपमान नहीं है क्योंकि प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य का साधन उपमान होता है । जिस को दोनों प्रसिद्ध हैं, उस के लिए साध्य साधन भाव नहीं है (उपमान से वह संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध को नहीं जानता, उस को पहले ज्ञात है) किंच -

तथेत्युपसंहारा दुपमानसिद्धेर्नाविशेष ।४८।

तथा' इस प्रकार उपसंहार से (अनुमान से अलग) उपमान की सिद्धि से (दोनों में) अभेद नहीं ।

भाष्य (अनुमान के अवयवोंमें) 'तथाचायं' इस प्रकार समानधर्म के उपसंहार से उपमान सिद्ध होता है, अतएव वह अनुमान नहीं । यह इन दोनों का स्पष्ट भेद है ।

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धे रनुमेयत्वात् ।४९।

(अब शब्द प्रमाण की परीक्षा आरम्भ करते हैं) शब्द अनुमान है, क्योंकि (शब्द का) अर्थ प्रत्यक्ष न होने से अनुमेय है ।

भाष्य शब्द अनुमान है, प्रमाणान्तर नहीं, क्योंकि शब्द का अर्थ अनुमेय होता है । (प्रश्न) अनुमेयता किस प्रकार है । (उत्तर) क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता । जैसे (अनुमान में) लिङ्गी (साध्य) जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं, वह ज्ञात हुए लि

के द्वारा पीछे जाना जाता है, इस से अनुमान कहा जाता है । इसी प्रकार ज्ञात हुए शब्द के द्वारा पीछे उस का अर्थ जाना जाता है, जो प्रत्यक्ष नहीं है, इस लिए शब्द अनुमान है ।

अवतरणिका--इस से भी शब्द अनुमान है—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तत्वात् ॥ ५० ॥

क्योंकि (दोनों में) उपलब्धि की प्रवृत्ति दो प्रकार की नहीं है।

भाष्य—अलग प्रमाण हो, तो (दोनों में) उपलब्धि की प्रवृत्ति दो प्रकार से होनी चाहिये । अन्य प्रकार से उपलब्धि अनुमान में होती है, और अन्य प्रकार से उपमान में, यह पूर्व (४७, ४८ में) व्याख्या कर चुके हैं । पर शब्द और अनुमान में उपलब्धि दो प्रकार की नहीं होती । (प्रमाता) जैसे अनुमान में (लिङ्ग द्वारा परोक्ष वस्तु के जानने के लिए) प्रवृत्त होता है, वैसे शब्द में प्रवृत्त होता है । सो कोई विशेषता न होने से शब्द अनुमान है ।

सम्बन्धाच्च ॥ ५१ ॥

(शब्द अर्थ के व्याप्ति-) सम्बन्ध से भी (शब्द अनुमान है)

भाष्य--'शब्द अनुमान है' यह (४९ सूत्र से) चला आ रहा है । शब्द और अर्थ जो परस्पर सम्बद्ध हैं, उन का सम्बन्ध पहले प्रज्ञात हो, तो शब्द की उपलब्धि से अर्थ का ग्रहण होता है जैसे सम्बद्ध जो लिङ्ग और लिङ्गी हैं, उन का सम्बन्ध प्रज्ञात हो, तो लिङ्ग की उपलब्धि में लिङ्गी का ग्रहण होता है ।

अवतरणिका--जो (४९ में) कहा है क्योंकि 'अर्थ अनुमेय है' उस पर कहते हैं--

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दा दर्थसंप्रत्ययः ।५२।

शब्द से (परोक्ष-) अर्थ की प्रमा आप्तोपदेश के बल से होती है (न कि शब्दमात्र के बल से) ।

भाष्य--स्वर्ग, अप्सराएं, उत्तर कुरु, सात द्वीप, समुद्र, (भूलोक आदि) लोकों का सन्निवेश, इत्यादि अप्रत्यक्ष अर्थों की प्रमा शब्दमात्र से नहीं होती । किन्तु प्रमा इस से होती है, कि आप्तों ने यह बात कही है, इस से उलट में (अनाप्तों से कहे शब्द से) प्रमा नहीं होती । पर अनुमान ऐसा नहीं होता (वहां तो धूम-मात्र अग्नि का सूचक होता है, न कि स्थान विशेष का ही धूम) । और जो यह कहा है, कि ' उपलब्धि की प्रवृत्ति दो प्रकार की नहीं है' (४८) । (इसका उत्तर यह है कि) यही (पूर्वोक्त)तो शब्द और अनुमान में उपलब्धि की प्रवृत्ति का भेद है । जब (दोनों में) यह विशेषता है, तब पूर्वोक्त ' विशेषाभावात् ' (५० पर भाष्य) हेतु नहीं बन सकता है । और जो यह कहा है ' सम्बन्धाच्च (५१) ' । (इस का उत्तर यह है कि) शब्द अर्थ का सम्बन्ध है माना हुआ और है प्रतिषेध किया हुआ । (कौन माना हुआ है, और कौन प्रतिषेध किया हुआ है?) ' इस का यह ' (इस वाचक का यह वाच्य है) यह वाच्यवाचकलक्षण सम्बन्ध शब्द अर्थ का माना हुआ है, और प्राप्तिरूप (शब्द और अर्थ का साथ होना) सम्बन्ध प्रतिषिद्ध है । क्यों [प्रतिषिद्ध है, इस लिए कि प्राप्तिरूप सम्बन्ध की] प्रमाण से उपलब्धि नहीं होती है । जैसे-प्रत्यक्ष से शब्द और अर्थ की प्राप्ति की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि [अर्थ] अतीन्द्रिय है । जिस इन्द्रिय से शब्द ग्रहण किया जाता है, अर्थ उस इन्द्रिय की विषयता से अलग हुआ उस इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता है (जैसे घटादि अर्थ श्रोत्र का विषय नहीं है) । (दूसरा-) अर्थ सर्वथा अतीन्द्रिय भी होता है [जैसे स्वर्ग आदि] । और प्राप्ति उन (दो)की गृहीत हो सकती है, जो एक ही इन्द्रिय से गृहीत हों ।

अवतरणिका--किञ्च-शब्द और अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध हो, तो या तो शब्द के समीप अर्थ होगा, या अर्थ के सीप शब्द, या दोनों दोनों जगह होंगे [जहां शब्द वहीं अर्थ, जहा अर्थ वहीं शब्द) । पर यह-

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ।५

(प्राप्तिरूप-] सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि भर जलजाने और फट जाने की उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य—(सूत्र में जो 'च' है इस) च का अर्थ है । क्यों वहां स्थान और प्रयत्न का अभाव है (इस लिए अर्थ के स शब्द नहीं) ।

अनुमान से भी यह नहीं ज्ञात होता, कि शब्द के स अर्थ है । इस पक्ष में, मुख में जो स्थान और प्रयत्न हैं, उन से का उच्चारण होता है । अब यदि शब्द के समीप अर्थ हो, तो अग्नि और तलवार इन शब्दों के उचारने पर, मुंह का भर जा जल जाना और फट जाना गृहीत हो । पर गृहीत नहीं होता, न होने से प्राप्तिरूप सम्बन्ध का अनुमान नहीं होता । यदि अ समीप शब्द कहो, तो वहां स्थान और प्रयत्न के असंभव हो (शब्दों का) उच्चारण नहीं बनेगा । स्थान कण्ठ और प्रयत्न (आदि) उस का अर्थ (= अन्न आदि) के समीप होना अनुपप इस लिए दोनों (शब्द के समीप अर्थ और अर्थ के समीप श के प्रतिषेध से दोनों नहीं बन सकते । इस लिए शब्द से प्राप्त नहीं ।

शब्दार्थ व्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५४ ॥

शब्द अर्थ की व्यवस्था है, इस लिए (सम्बन्ध का) प्रति षेध नहीं हो सकता ।

भाष्य—(शंका) शब्द से अर्थप्रतीति की व्यवस्था जाती है (हर एक शब्द अपने नियत अर्थ का बोधक है) इस अनुमान होता है, कि है शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, जो इस व्यव स्था का कारण है । सम्बन्ध न हो, तो हरएक शब्द से हरएक अ

की प्रतीति का प्रसंग हो, इस लिए सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं हो सकता। इस का समाधान—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य ॥५५॥

नहीं, क्योंकि शब्द से अर्थ की प्रतीति संकेतकृत है।

भाष्य—शब्द और अर्थ की व्यवस्था किसी स्वाभाविक सम्बन्ध से नहीं की गई, किन्तु संकेत से की गई है। जो पूर्व (५२ के भाष्य में) कहा है, कि 'इसका यह' इस प्रकार षष्ठी-युक्त वाक्य का अर्थ विशेष शब्द अर्थ का सबम्बन्ध जो माना हुआ है वह हमने संकेत सम्बन्ध ही कहा है। (प्रश्न) अच्छा तो यह संकेत क्या है? (उत्तर) इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है, इस प्रकार वाच्य वाचक के नियम की व्यवस्था संकेत है। उसके बर्तने पर शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, उलट में (संकेत के न जानने में) शब्द के सुनने पर भी प्रतीति नहीं होती। सम्बन्ध-वादी भी संकेत को छोड़ नहीं सकता (जो स्वाभाविक सम्बन्ध मानता है, वह भी यह नहीं कहसकता, कि सत्तामात्र से शब्द अर्थ का बोधक हो जाता है। किन्तु जब तक यह ज्ञात न हो जाय, कि वह शब्द इस अर्थ के लिए बोलाजाता है, तबतक उस को शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती। और 'यह शब्द इस अर्थ के लिए बोला जाता है, यही शब्द अर्थ का संकेत है) (वृद्ध व्यवहार में) बर्ते गए शब्दों से लोगों को (शब्दार्थ सम्बन्ध का) ज्ञान होने से संकेत ही काम देता है। संकेत की रक्षा के लिए पदलक्षण वाणी जो व्याकरण है, उसका कथन हुआ है, और वाक्य-लक्षणा वाणी के अर्थ का लक्षण है (मीमांसा में वाक्यार्थ की मीमांसाहुई है) वाक्य उस पदसमूह को कहते हैं, जो एक पूर्ण अर्थ देता है। सो ऐसी अवस्था में अर्थ को बतलाने वाला शब्दार्थ

सम्बन्ध प्राप्ति लक्षण हो, ऐसा अनुमान करने के लिए कोई हेतु नहीं है।

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५६ ॥

जातिविशेष में कोई नियम न होने से भी।

भाष्य—सांकेतिक है शब्द से अर्थ की प्रतीति, न कि स्वाभाविक। ऋषि आर्य और म्लेच्छों का अपनी २ इच्छा के अनुसार अर्थ की प्रतीति के लिए शब्दव्यवहार होता है। यदि शब्द में अर्थ की बोधकता स्वाभाविक होती, तो अपनी इच्छानुसार प्रयोग न होता। जैसे तैजस प्रकाश रूपदर्शन का स्वाभाविक निमित्त है, (तो वह सब के लिए एक जैसा प्रकाशक है) जातिविशेष में बदल नहीं जाता (कि आर्यों के लिए तो रूप का प्रकाशक हो, और म्लेच्छों के लिए न हो, पर शब्द जो आर्यों के लिए एक अर्थ का प्रकाशक है, वह म्लेच्छों के लिए उस अर्थ का प्रकाशक नहीं होता, इस लिए शब्द का अर्थ से सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, सांकेतिक है)

तदप्रामाण्यमनृतव्याघात पुनरुक्तदोषेभ्यः।५७।

अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोषों से उस की (शब्द की) अप्रमाणता है—

भाष्य—पुत्रकामेष्टि, हवन और अभ्यास में। (सूत्र में) 'उस की' इस से शब्दविशेष का अधिकार करता है* भगवान् ऋषि (गौतम)। शब्द की प्रमाणता नहीं हो सकती। (इस में पहला हेतु है) अनृत [झूठ] का दोष और वह है पुत्रकामेष्टि में। कहा गया है 'पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करे' पर इष्टि के समाप्त होने पर भी पुत्र का जन्म नहीं दीखता। सो दृष्टार्थ वाक्य के अनृत होने से, अदृष्टार्थ भी वाक्य 'स्वर्ग की कामना

* 'उस की अप्रमाणता' इस से शब्द सामान्य की अप्रमाणता कहनी अभिप्रेत नहीं। क्योंकि शब्द की प्रमाणता तो सिद्ध

वाला अग्निहोत्र करे' इत्यादि भी अनृत होगा। (दूसरा हेतु-) कहे हुए के व्याघात (बाध) के दोष से भी (शब्द की अप्रमाणता है)। जैसे हवन में 'उदितकाल (सूर्योदय के समय) हवन करना चाहिए'। अनुदितकाल (विरले २ तारों के होते हुए) हवन करना चाहिए'। 'समयाध्युषित काल (न तो सूर्य उदय हुआ हो, और न आकाश में तारे दिखलाई दें, उस समय) हवन करना चाहिये'। यह विधान करके फिर इस विधान किये हुए का यह व्याघात (बाध) है 'कौआ इस की आहुति खाता है, जो उदितकाल में हवन करता है'। 'कुत्ता इस की आहुति खाता है, जो अनुदित काल में हवन करता है' 'कौआ और कुत्ता इसकी आहुति खाते हैं, जो समयाध्युषितकाल में हवन करता है' (तै०सं०६।६।११।१)। इस पूर्वापर विरोध से दोनों में से एक अवश्य मिथ्या है। (तीसरा हेतु-) पुनरुक्त दोष से भी (शब्द की अप्रमाणता है) 'सामिधेनी ऋचाओं का बार २ दुहराना दिखलाते हुए कहा है 'तीन बार पहली ऋचा को कहता है, तीन बार ही अन्तली को' (शत०१।३।५।६)। यह पुनरुक्त दोष है। और पुनरुक्त किसी प्रमादी का वाक्य होता है। इस लिए शब्द अप्रमाण है, क्योंकि उस में अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोष हैं।

न, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५८ ॥

नहीं, * क्योंकि कर्म, कर्ता, और साधन की विगुणता से (पुत्र जन्म नहीं होता है)।

है। किन्तु शब्द विशेष अर्थात् अलौकिक अर्थ के प्रतिपादक शब्द (संहिता और ब्राह्मण) की अप्रमाणता अभिप्रेत है। (वात्स्यायन को ब्राह्मण भी वेदत्वेन अभिमत है)

* पूर्वोक्त दोषों को हटाते हुए कहा है। 'न'। आगे सूत्र-त्रय में कहे तीनों हेतुओं से तीनों दोषों को हटाते हैं। सो इस पहले सूत्र में अनृत दोष को हटाया है।

भाष्य—पुत्रकामेष्टि में अनृत दोष नहीं है। क्यों? इस
कि यह कर्म, कर्ता और साधनों की विगुणता से (जन्माभाव होता
इष्टि करके संयुक्त हुए माता पिता पुत्र को उत्पन्न
हैं। यहां इष्टि साधन है, माता पिता कर्ता हैं, संयोग कर्म हैं। इन
के गुण वाला होने से पुत्र का जन्म होता है, और इन की विगु
से उलट (पुत्र जन्माभाव) होता है। पहले इष्टि के आश्रय कर्म
विगुणता यह है, (कि इष्टि के समिधादि) अंग कर्मों का न होना वा
न होना। कर्ता की विगुणता है। प्रयोग करने वाला (ऋत्वि
विद्वान् न हो, वा निन्दित आचरण वाला हो। साधन (हवि
आदि) की विगुणता है। हवि का (प्रोक्षणादि) संस्कार न
हुआ हो, वा (कुत्ते आदि से) दूषित की हुई हो। मन्त्र न्यून
हों वा स्वर और वर्ण से हीन हों। (उदात्त के स्थान अनु
और श के स्थान ष बोला हो इत्यादि)। दक्षिणा पाप की कम
हो, हीन (घट) हो और निन्दित (दोष वाली वस्तु) हो
उत्पत्ति के आश्रय कर्म की विगुणता है मिथ्या संयोग
की विगुणता है (स्त्री की) योनि का दोष, वा (पुरुष के)
दोष। साधन की विगुणता इष्टि में कह दी है। सो लोक में जैसे
की कामना वाला दो लकड़ियों को आपस में रगड़े' यह
वाक्य है। इस में कर्म की विगुणता है निकम्मी तरह रग
कर्ता की विगुणता है, बुद्धि वा प्रयत्न का प्रमाद। साधन की
णता है गीली वा छेदों वाली लकड़ी, ऐसी दशा में फल नहीं
लता है, तौ भी (अग्नि की कामना वाला लकड़ियों को
इस वाक्य में) अनृत दोष नहीं। क्योंकि गुण के योग
की सिद्धि देखी जाती है। 'पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टि
करें' यह पूर्वोक्त लौकिक वाक्य से निराला नहीं (वैसा ही
लिए कर्म कर्ता और साधन की विगुणता से फल की प्रा
अनृतत्व नहीं आया)।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात ॥ ५९ ॥

अंगीकार करके काल का भेद करने में दोष कहा है ।

भाष्य — 'न' की अनुवृत्ति है । अर्थात् हवन में व्याघात दोष नहीं (हवन के तीनों काल ठीक है । इन में से जिस समय हवन करने का नियम जिसने कर लिया है) यदि उस अंगीकार किये हवन काल को पुरुष गंवा देता है, और उस से भिन्न समय में होम करता है । वहां अंगीकार किये समय के बदलने में यह दोष कहा है कि 'कौआ इस की आहुति को ले जाता है, जो उदितकाल में होम करता है' इत्यादि । सो यह (अंगीकृत) विधि के तोड़ने में निन्दावचन है ।

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६० ॥

अनुवाद बन सकने से (पुनरुक्त दोष नहीं) ।

भाष्य—(मन्त्रों के) दुहराने में पुनरुक्त दोष 'नहीं' यह प्रकृत है । निकम्मा अभ्यास पुनरुक्त कहलाता है, सार्थक अभ्यास अनुवाद कहलाता है । जो यह अभ्यास है कि 'तीन बार पहली ऋचा को कहता है, तीन बार अन्तली को,' यह अनुवाद बन सकता है, क्योंकि सार्थक है । पहली और अन्तली ऋचा के तीन बार कहने से सामिधेनी ऋचाएं (११ की) १५ बन जाती हैं । तब यह मन्त्रवाद सार्थक होता है कि 'यह मैं १५ नोकों वाले वाग्वज्र से उस शत्रु को मारता हूं, जो हम से द्वेष करता है, और जिस से हम द्वेष करते हैं' । यह वज्र मन्त्र सामिधेनी ऋचाओं का १५ होना बतलाता है, यह अभ्यास के बिना नहीं हो सकता । (इस प्रकार दोषों का उद्धार करके प्रमाणता के साधक हेतु बतलाते हैं-) ।

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात ॥ ६१ ॥

(ब्राह्मण-) वाक्यों के (त्रिविध) विभाग का अलग २ अर्थ गृहीत होने से (शब्द प्रमाण है)।

भाष्य—प्रमाण है शब्द जैसे लोक में है। और विभाग ब्राह्मण वाक्यों का तीन प्रकार का होता है।

विध्यर्थानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६२ ॥

विधिवाक्य, अर्थवाद वाक्य और अनुवादवाक्य के भेद से।

भाष्य—तीन प्रकार से ब्राह्मण वाक्य कहे गये हैं-विधि वाक्य, अर्थवादवाक्य और अनुवादवाक्य। उन में से—

विधिर्विधायकः ॥ ६३ ॥

विधि है विधान करने वाला वाक्य।

भाष्य—जो वाक्य विधान करने वाला वा प्रेरने वाला है, वह विधि है। विधि आज्ञा वा अनुज्ञा है जैसे 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' इत्यादि।

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ।६४।

स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प यह अर्थवाद होता है

भाष्य—विधि का फलकथनरूप जो प्रशंसा है, वह स्तुति है, और वह विश्वास (उत्पन्न कराने) के लिए होती है, कि जिस की स्तुति की गई है, उस पर पुरुष की श्रद्धा हो जाय। और (कर्म में) प्रवृत्त कराने वाली भी है, क्योंकि फल के सुनने से पुरुष (उस कर्म में) प्रवृत्त होता है। जैसे 'सर्वजित् (याग) से देवताओं ने सब को जीत लिया (यह याग सब (कुछ) की प्राप्ति के लिए, और सब के जीतने के लिए होता है, इस से सब को पा लेता है, सब को जीतता है (अपने वश में ले आता है)' इत्यादि।

अनिष्ट फल का कथन निन्दा है, वह वर्जने के लिए होती है, कि निन्दित कर्म को पुरुष न करे' जैसे 'यज्ञों में यह प्रथम यज्ञ है, जो ज्योतिष्टोम है, जो कोई इस याग से यजन न करके अन्य यज्ञ से यजन करता है, वह गढ़े में गिरता है, जीर्ण होता है वा मर जाता है' इत्यादि। दूसरे से किये हुए व्याहत (बाधित, विधि का कथन परकृति है। 'होम करके, पहले वपाकी धारा बहाते हैं, पीछे दही घी की धारा बहाते हैं। पर चरकाध्वर्यु पहले ही दही घी की धारा बहाते है, वे कहते हैं दही घी अग्नि के प्राण हैं (शत० ३।८।३।२४) इत्यादि। ऐतिह्य से युक्त विधि पुरा कल्प है। जैसे 'इस लिए ब्रह्माणों ने 'योने यज्ञं प्रतनवामहे' से बहिष्पवमानस्तोम की स्तुति की' इत्यादि। (प्रश्न) परकृति और पुराकल्प किस तरह अर्थवाद हैं (उत्तर) क्योंकि स्तुति वा निन्दा से इन का सम्बन्ध रहता है, इस लिए विधि के आश्रित किसी विषय पर प्रकाश डालने से ये अर्थवाद हैं।

विधिविहितस्यानु वचनमनुवादः ॥ ६५ ॥

विधि वा विधि से कहे गये (अर्थ) का दुहराना अनुवाद है।

भाष्य—विधि का दुहराना वा विधि से कहेगए (अर्थ) का दुहराना अनुवाद है। पहला शब्दानुवाद है और दूसरा अर्थानुवाद (शब्दानुवाद=शब्दका ज्यों का त्यों दुहराना। अर्थानुवाद=शब्द बदल करभी बात वही कहना) जैसे पुनरुक्त दो प्रकार का होता है (शब्द पुनरुक्त और अर्थ पुनरुक्त) वैसे अनुवाद भी। (प्रश्न) किसलिए विहित का अनुवाद किया जाता है। अधिकार के लिए। विहित को सामने रख कर, उस की स्तुति वा निन्दा जितलाई जाती है, वा विधि का शेष (अंग) बतलाया जाता है। उस विहित (अर्थ) के अनन्तर (यह करे, इस) प्रयोजनवाला

भी अनुवाद होता है । इसी प्रकार और भी अनुवाद का प्रयोजन जानना । लोक में भी विधि, अर्थ वाद और अनुवाद यह तीन ही प्रकार का वाक्य होता है । 'ओदन पकाए' यह विधिवाक्य है । इस का अर्थवाद वाक्य है 'आयु, तेज, बल, सुख, और प्रतिभा अन्न के आश्रित हैं' । अनुवाद है-आप पकाइये, पकाइये, इस प्रकार दुहराना-शीघ्र पकाइये (इस क्रियातिशय के लिए) अथवा आप पकाए जाएं, इस प्रेरणा के लिए, अथवा आप पकाएं ही (और काम न करें) इस अवधारण (फैसले) के लिए होता है । जैसे लौकिक वाक्य में (वाक्य के त्रिविध) विभाग द्वारा अर्थ के ग्रहण से प्रमाणता होती है, इसी प्रकार वेदवाक्यों की भी वाक्य-विभाग के द्वारा अर्थ के ग्रहण से प्रमाणता होनी चाहिये (अतएव वे प्रमाण हैं)

नानुवाद पुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ।६६।

(पूर्वपक्ष) अनुवाद और पुनरुक्त में भेद कोई नहीं, क्योंकि (दोनों में) शब्द का अभ्यास होता है ।

भाष्य—पुनरुक्त असाधु (दुष्ट) है और अनुवाद साधु (अदुष्ट) है, यह भेद नहीं बन सकता है, क्योंकि दोनों में प्रतीत हुए अर्थ वाला शब्द दुहराया जाता है, जो अपना अर्थ पहले जितला-चुका है । ऐसे शब्द के दुहराने से दोनों ही असाधु हैं ।

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः । ६७ ।

दुहराने से शीघ्रतर गमन के उपदेश की नाईं (दोनों में) अविशेष नहीं ।

भाष्य—अनुवाद और पुनरुक्त में अविशेष नहीं । क्योंकि सप्रयोजन जो अभ्यास है, वह अनुवाद होता है । यद्यपि अभ्यास (दुहराना) दोनों में एक जैसा है, तथापि पुनरुक्त अनर्थक होता है और अर्थ वाला जो अभ्यास है, वह अनुवाद होता है । (इस में

उदाहरण है) शीघ्रतर गमन के उपदेश की नाईं। जैसे ' शीघ्र २ जाईये ' यहां क्रिया का अतिशय (गमन की शीघ्रतरता) अभ्यास से ही कहागया है। यह उदाहरण के लिए है। इस प्रकार और भी (साधक) अभ्यास जानने। जैसे 'पकाता है पकाता है' यहां (पाकक्रिया का) बंद न होना, 'ग्राम २ सुहावना है (यहां व्यापि अर्थात् हर एक ग्राम), ' परे २ त्रिगर्तों से देव बरसा है ' यहां परिवर्जन, ' दीवार के ऊपर २ रक्खा है,' यहां समीपता, ' तीखा तीखा है, यहां प्रकार (सादृश्य) (अभ्यास से अभिप्रेत है] इस प्रकार स्तुति, निन्दा और शेषविधियों में अधिकार अनुवाद का फल हाता है [=विहित का अधिकार करके तत्सम्बन्धी स्तुति निन्दा वा विधि शेष कहे जाते हैं] पूर्व कहे विधि का अगले से पूर्वापर क्रम भी [अनुवाद का] फल होता है।

अवतराणिका—तो क्या [प्रमाणता के] प्रतिषेध हेतुओं के उद्धार से ही प्रमाणता सिद्ध है? इस लिए [कहते हैं–]।

मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्य माप्तप्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥

मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की नाईं उस की प्रमाणता है, क्योंकि आप्तों की प्रमाणता होती है*

---

* यह अर्थ सूत्र का भाष्य के अनुसार है। आशय यह है, कि जैसे विष आदि झाड़ने आदि के मन्त्र प्रत्यक्ष फलदायक है, आयुर्वेद भी प्रत्यक्ष फलदायक हैं। अतएव प्रमाण हैं। इन की प्रमाणता इस से है, कि ये आप्त पुरुषों के कहे हुए हैं। आप्त वे होते हैं, जिन्हों ने पहले कोई बात साक्षात् करली है, फिर उस के प्रकाश से लोगों को लाभ पहुंचाना चाहते हैं, और फिर ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हैं। यह कारण है, जिस से कि उन के वचन प्रमाण

भाष्य—[प्रश्न] अच्छा तो आयुर्वेद की प्रमाणता क्या है ? [उत्तर] आयुर्वेद ने जो यह उपदेश किया है, कि अमुक बात को करके इष्ट को प्राप्त होता और अमुक को त्याग कर अनिष्ट को त्यागता है, वह जब अनुष्ठान किया जाता है, तो ठीक वैसा होता है, बात सच्ची निकलती हैं, झूठी नहीं । और मन्त्र पद, जो कि विष, भूत और ओलों के रोकने के लिए हैं, उन के प्रयोग में फल का वैसा होना, यह प्रमाणता है । [प्रश्न] यह प्रमाणता किस कारण से है [उत्तर] आप्तों की प्रमाणता के कारण है [प्रश्न] आप्तों की प्रमाणता किस कारण है [उत्तर] [१] वस्तु के धर्म का साक्षात्कारी ज्ञान रखना [२] भूतों पर दया [३] यथा भूत बात के कहने की इच्छा। आप्त वे होते हैं, जिन्हों ने [किसी बात के कहने से] पहले उस [उपदेष्टव्य अर्थ] के धर्मों के साक्षात् किया है, कि यह [वस्तु] इस मनुष्य के लिए त्याज्य है,और यह इसके त्याग का हेतु है ।तथा यह इस के लिए उपादेय है, और यह इस के उपदान [ग्रहण] का हेतु है, इस प्रकार लोगों पर दया करते हैं । ये प्राणधारी जो कि जानते नहीं हैं, इन के जानने का कारण सिवाय उपदेश के और कोई नहीं । और बिना जाने ग्रहण वा त्याग नहीं हो सकता, और ग्रहण त्याग किये बिना कल्याण नहीं, और न ही इस का और कोई उप-

---

होते हैं । इसी प्रकार वेद भी, यद्यपि उस का फल अदृष्ट [परलोक] में होता है, तथापि आप्तोक्त होने से निःसंदेह प्रमाण है । इस पर वाचस्पति मिश्र इस का विस्तार करते हुए कहते हैं, कि जब लोक में आप्तोक्त प्रमाण होता है, तो क्या फिर परम आप्त परमेश्वर से कहा वेद ॥ स्वतन्त्रतया सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है, कि मन्त्र में जो आयुर्वेद है, उस की प्रमाणता की नाईं वेद [सारे] की प्रमाणता है, क्योंकि सभी आप्त वेद को प्रमाण मानते हैं ।

कारक हो सकता है । सो हम, इन के लिए, जैसा देखा है, जैसा है, वैसा उपदेश करें, तब ये सुन कर समझ कर त्याज्य का त्याग और उपादेय का उपादान करेंगे । इस प्रकार आप्तों का उपदेश हुआ है, और यह पूर्वोक्त तीन प्रकार की आप्तों की प्रमाणता के कारण, जब स्वीकार करके अनुष्ठान किया जाता है, तो अर्थ का साधक होता है। इस प्रकार आप्तोपदेश प्रमाण है, और आप्त प्रमाण हैं। सो दृष्टार्थ आप्तोपदेश, जो आयुर्वेद है, उस से अदृष्टार्थ वेद-भाग का अनुमान करना चाहिये, कि प्रमाण है। क्योंकि आप्त की प्रमाणतारूप हेतु (आयुर्वेद और वेद दोनों में) समान है। और इस (अदृष्टार्थ वेदभाग) का भी एक देश 'ग्राम की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे,' दृष्टार्थ है, उस से (शेष की प्रमाणता का) अनुमान कर लेना चाहिये। (देखो) लोक में भी बहुत सा व्यवहार उपदेश के आश्रय है । सो लौकिक उपदेष्टा की प्रमाणता भी इन तीनों बातों से होती है–उपदेष्टव्य अर्थ का ज्ञान, (उस से) दूसरों की भलाई करने की इच्छा, और ठीक २ अर्थ के कहने की इच्छा, इस प्रमाणता के आ जाने के कारण आप्तोदेश प्रमाण है।

देखने और कहने वाले के एक होने से भी (वेद की) प्रमाणता का अनुमान होता है, जो आप्त पुरुष वेदार्थों के द्रष्टा हुए हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के प्रवक्ता [कहने वाले] हुए हैं, इससे आयुर्वेद की प्रमाणता की नाईं वेद की प्रमाणता का अनुमान करना चाहिये।

(शंका) नित्य होने से वेद वाक्यों की प्रमाणता होती है (न कि आप्तोपदेश होने से) अतएव, 'उसकी प्रमाणता आप्तों की प्रमाणता से है' यह कथन अयुक्त है? (समाधान) अर्थ की प्रतीति कराने में शब्द को जो प्रमाणता है, वह वाचक होनेसे है, न कि नित्य होने से। नित्यता में तो सब अर्थों का सब शब्दों को वाचक मानना पड़ेगा, और ऐसा मानने में शब्दार्थ की व्यवस्था (इस शब्द का यह अर्थ है) नहीं बन सकेगी।

यदि कहो, कि अनित्य होने में वाचक नहीं बन सकेंगे, तो ठीक नहीं, क्योंकि लौकिक शब्दों में अर्थ देखा जाता है (जो कि अनित्य हैं) यदि कहो, कि वे भी नित्य हैं, तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने में अनाप्त पुरुष के उपदेश से जो अर्थ का विसंवाद होता है, (वह बात सच्ची नहीं निकलती) यह नहीं बनेगा, क्योंकि नित्य होने से शब्द प्रमाण है। यदि कहो, कि वह (अनाप्तोपदेशरूप शब्द) अनित्य है, तो नहीं, क्योंकि यह कोई विशेष कारण का कथन नहीं। अनाप्तोपदेश जो लौकिक है, वह नित्य नहीं होता, इस का कारण कहना होगा (जो कह नहीं सकते हो)। नामधेय शब्दों को लोक में संकेत के अनुसार अर्थ की प्रतीति कराने से प्रमाणता होती है, नित्यता से प्रमाणता नहीं बन सकती। अर्थात् लोक में, जिस अर्थ में जो शब्द नियुक्त किया गया है, उस नियोग के सामर्थ्य से वह शब्द उस अर्थ का बोधक होता है, न कि नित्य होने से। हां मन्वन्तर और युगान्तर जो पहले बीत चुके और आगे आएंगे, उन में (वेद के) संप्रदाय (गुरुपरम्परा द्वारा बड़े से छोटे के पास पहुंचने के सिलसिले) के अभ्यास और अनुष्ठान की लड़ी के न टूटने से वेदों की नित्यता है, पर प्रमाणता आप्तों की प्रमाणता के कारण है, और लौकिक शब्दों में यह समान है।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अवतरणिका—प्रमाणों का विभाग (कि प्रमाण ४ हैं) यथार्थ नहीं है, यह मान कर (वादी) आक्षेप करता है—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

(प्रमाणों का) चौका नहीं, क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव

और अभाव को भी प्रमाणता है।

भाष्य—प्रमाण ४ ही नहीं, किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये भी प्रमाण हैं, ये (प्रमाण प्रकरण में) क्यों नहीं कहे ? 'ऐसा कहते हैं' इस प्रकार जो बात श्रुतिपरम्परा से चली आती है, जिस के मूल वक्ता का पता नहीं दिया जाता, वह ऐतिह्य है। अर्थ से किसी परिणाम का निकालना अर्थापत्ति है। आपत्ति=प्राप्ति प्रसंग (अर्थ+आपत्ति=अर्थ से किसी का प्रसंग होना)। जैसे 'मेघों के न होते हुए वर्षा नहीं होती है' यहां क्या अर्थ सिद्ध होता है? कि 'होते हुए होती है'। सम्भव किसी व्यापक अर्थ की सत्ता के ग्रहण से अन्य (अन्तर्गत) की सत्ता का ग्रहण। जैसे द्रोण की सत्ता के ग्रहण से आढक की सत्ता का ग्रहण होता है, और आढक की सत्ता के ग्रहण से प्रस्थ की सत्ता का ग्रहण होता है (४ प्रस्थ का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण)। अभाव=विरोधी [जो दो इकट्ठे न रह सकें) जैसे न हुआ हुए का—न हुआ वर्षकर्म (आकाश में) हुए (विधारक) वायु और मेघ के संयोग का प्रतिपादक होता है, क्योंकि वायु और मेघ के विधारक संयोग के होते हुए गुरुत्व से जलों का पतनकर्म नहीं होता है*।

---

* विधारक=थामने वाला। जलों में गुरुत्व है, इस लिए उन का पतन अवश्य होना चाहिये। पतन न होने से ज्ञात होता है, कि कोई उस को थामे हुए है, वह वायु मेघ का विधारक संयोग है। यद्यपि वायु का संयोग तो रहता ही है, किन्तु जब मेघस्थ जलकण बहुत सूक्ष्म रहते हैं, तो वायु से हलके होने के कारण वायु उन को थाम रखता है। जब वे जलकण सम्मिलित हो कर किञ्चित् स्थूल होते हैं, तो गुरुत्व से पतन होता है।

अवतरणिका—हां ये प्रमाण हैं, पर ये (उक्त प्रमाणों से) कोई अलग प्रमाण नहीं। अलग प्रमाण मानते हुए (वादी) ने (न चतुष्ट्वं इत्यादि) प्रतिषेध कहा है। सो यह—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति संभवाभावानर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ २ ॥

प्रतिषेध अनुपपन्न है, क्योंकि शब्द में ऐतिह्य का और अनुमान में अर्थापत्ति, संभव और अभाव का अन्तर्भाव हो जाता है।

भाष्य—अनुपपन्न है प्रतिषेध। (प्रश्न) कैसे? (उत्तर) 'आप्तोपदेश है शब्द' (१।१।७) शब्द 'का यह लक्षण ऐतिह्य से हट नहीं जाता, सो यह भेद (शब्दभेद, शब्द-) सामान्य से संगृहीत हो जाता है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष सम्बन्धी का ज्ञान अनुमान है। ऐसा होने में अर्थापत्ति, संभव और अभाव [अलग प्रमाण नहीं हैं)। वाक्यार्थ के ज्ञान से न कहे अर्थ का, प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण जो ज्ञान है, वह अर्थापत्ति अनुमान ही है। (जैसे सौ बिना पचास के नहीं होता इस प्रकार) विना न होने के स्वभाव से, जो परस्पर सम्बद्ध हैं समुदाय और समुदायी, उन में से समुदाय के द्वारा समुदायी का ग्रहण सम्भव है, वह भी अनुमान ही है। तथा 'इस के होते हुए वह नहीं हो सकता है' इस प्रकार दो के विरोध की प्रसिद्धि में कार्य के न होने से कारण के प्रतिबन्धक का अनुमान किया जाता है (मेघ के होते हुए वर्षा के न होने से वर्षा के प्रतिबन्धक का अनुमान होता है) अतएव यह यथार्थ है प्रमाणों का उद्देश [अयथार्थ नहीं]

अवतरणिका—'हां ये प्रमाण हैं, पर ये कोई अलग प्रमाण नहीं' यह (२ की अवतरणिका में) कहा है। इस में, जो अर्थापत्ति की प्रमाणता मानली है, वह बन नहीं सकती है। जैसा कि यह—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं, क्योंकि व्यभिचार दोष वाली है।

भाष्य—'मेघों के न होते हुए वर्षा नहीं होती' ऐसा कहने पर 'होते हुए होती है' यही बात अर्थ से सिद्ध होती है। पर कभी २ 'होते हुए भी नहीं होती' इस लिए यह अर्थापत्ति अप्रमाण है।

अवतरणिका—अर्थापत्ति व्यभिचार दोष वाली नहीं—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥

अर्थापत्ति के अविषय में अर्थापत्ति के अभिमान से (अर्थात् होते हुए होती ही है यह अर्थापत्ति का विषय नहीं। विषय यह है, कि होते हुए ही होती है)।

भाष्य—'कारण के न होते हुए कार्य उत्पन्न नहीं होता है' इस वाक्य से इस का प्रतिद्वन्द्वी अर्थ 'कारण के होते कार्य उत्पन्न होता है' यह अर्थसिद्ध होता है। क्योंकि वाक्य से अभाव का प्रतिद्वन्द्वी भाव होता है। सो यह अर्थ से सिद्ध हुई 'कारण के होते हुए कार्य की उत्पत्ति' कारण की सत्ता से कभी व्यभिचार नहीं खाती। कभी भी कारण के न होते हुए कार्य उत्पन्न नहीं होता है, इस लिए यह व्यभिचार दोष वाली नहीं है। किन्तु कारण के होते हुए जो किसी प्रतिबन्ध से कार्य उत्पन्न नहीं होता है। यह कारण का धर्म है (कि प्रतिबन्धक के होते हुए कार्य को उत्पन्न न करना) किन्तु यह अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं। अच्छा तो इस का क्या प्रमेय है? बस यही, कि होते हुए कारण के कार्य उत्पन्न होता है। जो यह बात है, कि कार्योत्पत्ति का कारणसत्ता से कभी व्यभिचार नहीं होता, यह इस (अर्थापत्ति) का प्रमेय है। ऐसी अवस्थों में अर्थापत्ति के अविषय में अर्थापत्ति का अभिमान करके

प्रतिषेध कहा है। कारण का धर्म (प्रतिबन्ध के अभाव में कार्योत्पादन) जो लोकप्रसिद्ध है, उस का कोई खण्डन नहीं कर सकता है।

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥५॥

(३ में कहे) प्रतिषेध की अप्रमाणता है, क्योंकि व्यभिचारी है।

भाष्य—(सिद्धान्ती) 'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं, क्योंकि व्यभिचारी दोष वाली है' यह प्रतिषेधवाक्य है। इस से अर्थापत्ति की प्रमाणता का प्रतिषेध किया है, (अर्थापत्ति के) सद्भाव का नहीं। इस प्रकार यह वाक्य व्यभिचार दोष वाला ठहरता है। तब व्यभिचार होने के कारण, अप्रमाण हुए इस वाक्य से, किसी अर्थ का (अर्थापत्ति की प्रमाणता का भी) प्रतिषेध नहीं हो सकता है। यदि ऐसा मानो, कि अपने २ नियत विषय वाले जो अर्थ हैं, उन में से हरएक का अपने विषय में व्यभिचार हुआ करता है। और अर्थापत्ति के सद्भाव का प्रतिषेध, उक्त प्रतिषेध का विषय ही नहीं (इस लिए सद्भाव का प्रतिषेध करने से व्यभिचार नहीं आता, और प्रमाणता जो इसका विषय है, उस का प्रतिषेध करता ही है) तब—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ।६।

उस की (प्रतिषेध की) प्रमाणता में अर्थापत्ति की भी अप्रमाणता नहीं बनती।

भाष्य—अर्थापत्ति का भी कार्योत्पत्ति के साथ कारण की सत्ता का अव्यभिचार, विषय है (कारण के होते हुए ही कार्य होता है, यह अर्थापत्ति का विषय है) न कि कारण का धर्म, जो निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य का उत्पन्न न करना (इस लिए मेघ के होते हुए भी यदि प्रतिबन्ध से वृष्टि न हो, तो उस से अर्थापत्ति

दूषित नहीं होती, क्योंकि वह अर्थापत्ति का विषय ही नहीं। इस लिए अर्थापत्ति प्रमाण अवश्य है, किन्तु अनुमान के अन्तर्गत है, प्रमाणान्तर नहीं ,।

अवतरणिका --अच्छा, तो अभाव की प्रमाणता, जो स्वीकार की है, वह नहीं बन सकती। कैसे—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥

अभाव की प्रमाणता नहीं, क्योंकि उस का प्रमेय (विषय) ही असिद्ध है (जो है ही नहीं वह कैसे किसी का विषय होगा)

भाष्य—अभाव का विषय बहुत बड़ा लोकव्यवहार से सिद्ध है, उस के होते हुए (वादी) ढिठाई से यह कहता है, कि 'अभाव की प्रमाणता नहीं, क्योंकि उस का अविषय असिद्ध है'। सो उस के बहुत बड़े विषय में से एकदेश उदाहरण के तौर पर दिखलाते हैं।

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धेः ॥ ८ ॥

(किसी) लक्षण से युक्तों में, जो उस लक्षण वाले नहीं, वे अभाव का प्रमेय होंगे, क्योंकि उन में वह लक्षण नहीं घटता है।

भाष्य—उस अभाव का प्रमेय सिद्ध है। कैसे? (अनील वस्त्र उठाला ऐसा कहने पर) जो (नील) लक्षण से युक्त हैं वस्त्र, वे नहीं लेने हैं, उन में से लने वे हैं, जो (नील) लक्षण से युक्त नहीं, क्योंकि वे (नील) लक्षण के अभाव से लक्षित हैं। दोनों की सन्निधि में अलक्षित (नील लक्षण रहित) वस्त्रों को ला, ऐसे प्रेरा हुआ पुरुष, जिन वस्त्रों में वे लक्षण नहीं होते हैं, उन को लक्षणाभाव से जान लेता है, और जान कर ले आता है, और जानने का हेतु प्रमाण है।

असत्यर्थे नाभाव इतिचेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ।९।

अर्थ जब है ही नहीं, तो अभाव नहीं बनता (जो वस्त्र कभी नीले थे ही नहीं, उन में नील का अभाव=नाश कैसे हुआ) यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि अन्य लक्षण जो बन सकता है (अर्थात् अभाव नाश का ही नाम नहीं। सो यद्यपि वहां नील का नाश नहीं, तथापि प्रागभाव है, और अन्योऽन्या भाव है-नीलों से भिन्न वे वस्त्र हैं)

भाष्य - जहां कोई वस्तु पहले हो कर फिर नाश हो, वहां उस का अभाव बनता है । पर जो अलक्षित वस्त्र हैं, उन में तो लक्षण हो कर नहीं रहे हों, ऐसा नहीं, इस लिए उन में लक्षण का अभाव बन नहीं सकता, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि अन्य लक्षण जो बन सकता है । जैसा कि यह अन्य वस्त्रों में (नीले वस्त्रों में) लक्षण की सिद्धि देखता है, इस प्रकार अलक्षितों (अनीलों) में नहीं, सो यह (उन में) लक्षण के अभाव को देखता हुआ, अभाव से अर्थ का निश्चय करता है* ।

तत्सिद्धेरलक्षितेष्व हेतुः ॥ १० ॥

उन में सिद्धि से, अलक्षितों में (न होना) हेतु नहीं बनता

भाष्य—(पूर्वपक्षी)उनमें अर्थात् लक्षित वस्त्रों में,जिनकी विद्यमानता है, उन लक्षणों का अभाव नहीं है । जो लक्षण लक्षितों में विद्यमान हैं, उन का अलक्षितों में अभाव हो, यह हेतु नहीं बनता । जो हैं उन का अभाव बाधित है (जो हैं वे नहीं हैं, कैसे कहे जा सकते हैं) *

---

* यद्यपि यहां प्रध्वंसाभाव नहीं, तथापि प्रागभाव और अन्योऽन्या भाव है । वादी ने जो प्रध्वंसाभाव को ले कर अभाव सामान्य का खण्डन किया है, यह उस का सामान्य छल है ।

* वादी का यह आक्षेप वाक् छल है, क्योंकि जो हैं, उन का अभाव अन्यत्र कहा है, न कि वहां ।

न, लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ॥ ११ ॥

नहीं, क्योंकि लक्षणों की स्थिति की अपेक्षा से (अलक्षितों में उन के अभाव की) सिद्धि होती है।

भाष्य—हम यह नहीं कहते, कि जो लक्षण हैं, उन लक्षणों का अभाव होता है, किन्तु कइयों में वे लक्षण घटते हैं, कइयों में नहीं घटते, इस बात की अपेक्षा करता हुआ, जिन में लक्षणों के भाव को नहीं देखता है, उन को लक्षणों के अभाव से जान लेता है।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

उत्पत्ति से पहले अभाव बन सकने से

भाष्य—अभाव दो प्रकार का है, एक तो उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमानता (जिस को प्रागभाव कहते हैं) और दूसरा उत्पन्न हुए की स्वरूपनाश से अविद्यमानता। उन में से, अलक्षित वस्त्रों में, उत्पत्ति से पूर्व, जो अविद्यमानता रूप लक्षणों का अभाव है वह रहता है, दूसरा नहीं।

(शब्द की अनित्यता का प्रकरण १३-३७)

अवतरणिका-(परीक्षा द्वारा शब्द का प्रमाणत्व व्यवस्थापन कर चुके हैं, अब शब्द सामान्य के विषय में, उस की नित्यता अनित्यता का विचार आरम्भ करते हैं)। आप्तोपदेश है शब्द (१।१।७) इस प्रकार (शब्द के) प्रमाणभाव में (आप्त पद) विशेषण बतलाते हुए आचार्य ने नाना प्रकार का शब्द होता है, यह जितलाया है, उस में सामान्य से (=शब्दसामान्य को लेकर) यह विचार है, कि क्या नित्य है या अनित्य। विचार का कारण क्या है? क्योंकि इस में वादियों की विप्रतिपत्ति है, इस से संशय होता है। (१) कई कहते हैं 'शब्द आकाश का गुण है, विभु है, नित्य है, और अभिव्यक्तिधर्मवाला है (२) दूसरे कहते हैं-' गन्ध आदि के साथ रहने वाला (पांचों)

द्रव्यों में स्थिति वाला, गन्ध आदि की नाईं (उन में) स्थित हुआ अभिव्यक्तिधर्म वाला है (३) कई कहते हैं 'शब्द आकाश का गुण है, और बुद्धि की नाईं उत्पत्ति और नाश धर्म वाला है (४) अन्य कहते हैं 'शब्द महाभूतों के संक्षोभ से उत्पन्न होता है, किसी के आश्रित नहीं, उत्पत्ति धर्म वाला और नाश धर्म वाला है* । इस कारण संशय होता है, इस में तत्व क्या है ? शब्द अनित्य है, यह उत्तर है । कैसे ?

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ।१३।

आदि वाला होने से, इन्द्रिय ग्राह्य होने से, और कृतक की नाईं बोला जाने से ।

भाष्य—आदि अर्थात् कारण । 'ग्रहण किया जाता है (कार्य) इस से ' (इस निर्वचन से) । जो कारण वाली वस्तु है, वह अनित्य देखी गई है । शब्द संयोग और विभाग से उत्पन्न होता है, सो वह कारण वाला होने से अनित्य है । अच्छा तो ' कारण वाला होने से ' इस हेतु से क्या अर्थ निकला । यह कि, उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है, हो करके नहीं रहता है, विनाश धर्म वाला है । (प्रश्न) यह बात तो संशय वाली है, कि क्या संयोग और विभाग शब्द की उत्पत्ति का कारण हैं, अथवा अभिव्यक्ति का कारण हैं ? इस आशंका को मिटाते हुए कहा है–' ऐन्द्रियकत्वात् ' इन्द्रिय सम्बन्ध से जो ग्राह्य हो, वह ऐन्द्रियक होता है । क्या यह (शब्द, यदि उत्पत्ति वाला नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति वाला है तो) अपने व्यञ्जक के समानस्थानी बन कर अभिव्यक्त होता है, जैसे कि रूप आदि (प्रकाश आदि से), अथवा संयोग से उत्पन्न हुआ

---

* इन में से पहला पक्ष मीमांसकों का, दूसरा सांख्यों का, तीसरा वैशेषिकों का, चौथा बौद्धों का है (वाचस्पति मिश्र)

जो शब्द है, उस शब्द से आगे २ शब्द होते जाने पर, जो शब्द श्रोत्र के साथ आकर सम्बद्ध होता है, वह गृहीत होता है* ।

'संयोग के निवृत्त हो जाने पर, शब्द का ग्रहण होने से व्यञ्जक के समानस्थानी हुए का ग्रहण नहीं' (यह आशय है कि) लकड़ी के काटने में लकड़ी और कुल्हाड़े का जो संयोग है, उस के दूर हो जाने पर, दूरस्थ पुरुष से शब्द ग्रहण किया जाता है। और व्यञ्जक के अभाव में व्यङ्ग्य का ग्रहण होता नहीं, इस लिए संयोग व्यञ्जक नहीं है ; और संयोग को (शब्द का) उत्पादक मानने में, तो संयोगजन्य शब्द से, शब्द का सिलसिला चलने पर, श्रोत्र से सम्बद्ध हुए का ग्रहण बन जाता है, इस लिए संयोग की निवृत्ति होने पर भी शब्द का ग्रहण युक्त है।

इस हेतु से भी शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि कृतक की नाईं (इस के विषय में) व्यवहार होता है। 'तीव्र है, मन्द है,' यह व्यवहार कृतक के विषय में होता है, जैसे तीव्र सुख और मन्द सुख; तथा तीव्र दुःख और मन्द दुःख। ऐसे ही व्यवहार होता है कि तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है।

'व्यञ्जक के वैसा होने से, रूप की नाईं (शब्द के) ग्रहण की तीव्रता और मन्दता होती है, यदि यह कहो, तो नहीं, क्योंकि अभिभव बन सकता है' (यह आशय है) (शब्द का) व्यञ्जक जो संयोग है, उस की तीव्रता और मन्दता से, शब्द के ग्रहण की तीव्रता और मन्दता होती है, न कि शब्द में भेद होता है, जैसे प्रकाश की तीव्रता और मन्दता से रूप के ग्रहण की तीव्रता और मन्दता होती है। (उत्तर) यह ठीक नहीं, क्योंकि अभिभव जो बन सकता है। तीव्र जो भेरी शब्द है, वह मन्द वीणा शब्द को दबा लेता है न कि मन्द। यहां यह

---

* सो यदि शब्द अभिव्यक्त होता, और संयोग उस का व्यञ्जक होता, तो वहीं गृहीत होता, जहां पर संयोग हुआ था, जैसे प्रकाश से रूप की अभिव्यक्ति वहीं होती है, जहां प्रकाश है।

बात नहीं, कि शब्द का ग्रहण अभिभावक हो, शब्द में भेद न हो किन्तु शब्द में भेद होने पर ही अभिभव हो सकता है। इस लिए सिद्ध है, कि शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता। (प्रश्न) 'अभिभव नहीं बन सकता, क्योंकि जब व्यञ्जक के समानस्थानी की अभिव्यक्ति होती है, इस लिए (व्यञ्जक पक्ष में) प्राप्ति का अभाव है' (यह आशय है) व्यञ्जक के समानस्थानी ही अभिव्यक्त होता है शब्द, इस पक्ष में अभिभव नहीं बन सकता है, क्योंकि भेरीशब्द वीणा की ध्वनि को पहुंचा हुआ नहीं है (भेरी शब्द वहीं होगा, जहां उस का व्यञ्जक है, और वीणा शब्द वहीं होगा, जहां उस का व्यञ्जक है)

'बिना प्राप्ति के भी अभिभव होता है, यदि ऐसा कहो तो शब्दमात्र के अभिभव का प्रसंग होगा' (आशय यह है (वादी) यदि माने, कि बिना प्राप्ति के अभिभव होता है। ऐसा होने में तो जैसे भेरीशब्द किसी वीणा स्वर का अभिभव करता है। इसी प्रकार निकट उत्पन्न होने वाले वीणा शब्द को जैसे वैसे अतिदूर उत्पन्न होने वाले वीणा स्वरों का भी अभिभव करेगा, क्योंकि अप्राप्ति (दूर निकट सर्वत्र) एकसमान है। तब कहीं भी भेरी के बजाए जाने पर उस काल के वीणा स्वर कहीं भी न सुने जाएं। हां जब नाना शब्द मान लिए, और आगे २ उत्पन्न हो २ कर कानों में पहुंचना माना, तब श्रोत्र में एकसाथ सम्बद्ध होने से किसी मन्द शब्द का तीव्र से अभिभव युक्त है। (प्रश्न) अच्छा तो यह अभिभव क्या है (उत्तर) अपने समानजातीय ग्राह्य के ग्रहण से जो दूसरे का अग्रहण है, वह अभिभव है। जैसे ग्राह्य जो उल्का प्रकाश है, उस का सूर्य के प्रकाश से अग्रहण होता है।

न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ १४ ॥

नहीं, घटाभाव और सामान्य के नित्य होने से, और नित्यों में भी अनित्य की नाईं व्यवहार होने से।

भाष्य—(पूर्वपक्षी-शब्द की अनित्यता के साधक पूर्व जो हेतु दिये हैं, वे व्यभिचारी है। कैसे ?) कारण वाला है, इस से शब्द अनित्य नहीं ठहरता। इस लिए इस में व्यभिचार आता है। देखो आदि वाला है घटाभाव (घटध्वंस) पर वह नित्य देखा गया है। कैसे आदि वाला है ? क्योंकि कारण विभाग से (अवयवों के अलग २ हो जाने से) घट का अभाव होता है। अच्छा तो यह नित्य कैसे है ? यह जो कारण के विभाग से (घट का) अभाव हुआ है, उसका अभाव फिर उसी घट के भाव द्वारा कभी नहीं हटाया जाता। और जो कहा है 'क्योंकि इन्द्रिय ग्राह्य है' (इस लिए अनित्य है) यह भी व्यभिचारी है। इन्द्रियग्राह्य है सामान्य (घटत्व आदि जाति) पर है नित्य। और जो कहा है 'कृतक की नाईं व्यवहार होता है' यह भी व्यभिचारी है, क्योंकि नित्यों में भी अनित्य की नाईं व्यवहार देखा गया है। जैसे यह होता है 'वृक्ष का प्रदेश (भाग) कम्बल का प्रदेश,' ऐसे ही 'आकाश का प्रदेश, आत्मा का प्रदेश,' यह भी होता है।

तत्वभाक्तयोर्नानात्वविभागाद व्यभिचारः ।१५।

मुख्य और गौण का अलग २ विभाग है, इस लिए व्यभिचार नहीं (अर्थात् मुख्य नित्य वह है, जिस का न आदि हो, न अन्त जैसे आत्मा। ध्वंस का आदि है, इस लिए वह मुख्य नित्य नहीं)।

भाष्य—(प्रश्न) 'नित्य है' इस में मुख्यता क्या है (उत्तर) कोई ऐसा भाव, जो उत्पत्ति वाला नहीं, उस के स्वरूप का नाश न होना, नित्यता है, यह (नित्यता, अभाव में नहीं घट सकती किन्तु गौण (नित्यता) बन सकती है। इस प्रकार, कि जो (घट ने)

अपने स्वरूप को त्याग दिया, अर्थात् यह जो (घट) होकर नहीं रहा है (नाश हो गया है), वह फिर कभी नहीं होता (वह ध्वंस सदा बना रहता है) ऐसी अवस्था में घटाभाव नित्य है, इस का यह अर्थ है कि नित्य की नाईं है (गौण नित्य है, मुख्य नित्य नहीं), पर जिस जाति का शब्द है (अर्थात् भाव स्वरूप) उस जाति का कोई कार्य नित्य नहीं दीखता है, इस लिए व्यभिचार नहीं।

अवतरणिका—और जो कहा है ' जाति के नित्य होने से (ऐन्द्रियकत्व होना भी व्यभिचारी है, इस का उत्तर है) इन्द्रिय सम्बन्ध से ग्राह्य है ऐन्द्रियक (इस से—)

सन्तानानुमान विशेषणात् ॥ १६ ॥

सन्तान (सिलसिले) के अनुमान की विशेषता से—

भाष्य – नित्य में अव्यभिचार है यह प्रकृत है। (यह आशय है) इन्द्रिय ग्राह्य होने से (हम) शब्द की अनित्यता (नहीं कहते) किन्तु इन्द्रिय के सम्बन्ध से ग्राह्य होने से शब्द की सन्तान का अनुमान होता है, उस से अनित्यता (सिद्ध होती है*)।

---

* अर्थात् हम इन्द्रियग्राह्य होने से अनित्य नहीं कहते, किन्तु शब्द हुआ तो इन्द्रिय से दूर देश में है, और उस का ग्रहण इन्द्रिय के सम्बन्ध से होता है, यह तभी हो सकता है,'जब' भेरी देश से लेकर श्रोत्र तक शब्द का सिलसिला माना जाय, और सिलसिला तभी बन सकता है, जब पानी में तरंग की नाईं शब्द की उत्पत्ति हो, न कि अभिव्यक्ति। क्योंकि अभिव्यक्ति वहीं होती है, जहां अभिव्यञ्जक हो, सो यदि भेरीदण्डसंयोग अभिव्यञ्जक हो, तो भेरी देश में ही शब्द अभिव्यक्त हो, उस का आगे सिलसिला न चले। श्रोत्रग्राह्य होने से सिलसिले का अनुमान, सिलसिले से उत्पत्ति का, उत्पत्ति से अनित्यता का।

अवतरणिका—और जो कहा है, कि 'नित्यों में भी अनित्य का सा व्यवहार होता है'। यह नहीं—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानात् नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ॥ १७ ॥

प्रदेश शब्द से कारण द्रव्य का कथन है, इस लिए नित्यों में भी अव्यभिचार है* ।

भाष्य—इस प्रकार 'आकाश का प्रदेश, आत्मा का प्रदेश' यहां आकाश और आत्मा के कारणद्रव्य का कथन नहीं; जैसे कि उत्पत्ति वाले द्रव्य का होता है । किसी तरह (=लक्षणा से) अविद्यमान (जो वस्तुतः है नहीं) कहा जाता है । अविद्यमानता इसलिए है, कि प्रमाण से (आकाश और आत्मा के प्रदेश की) अनुपलब्धि है। अच्छा, तो फिर वहां (प्रदेश शब्द से) क्या कहा जाता है? (उत्तर) संयोग का अव्याप्यवृत्ति होना, परिच्छिन्न द्रव्य के साथ जो आकाश का संयोग है, वह सारे आकाश को व्याप नहीं लेता अर्थात् न व्यापकर रहता है (अव्याप्यवृत्ति है) यह इस की कृतक द्रव्य के साथ समानता है । दो आमलों का संयोग अपने आधार द्रव्यों (आमलों) को व्याप नहीं लेता (उन के एक प्रदेश में होता है)। इस समानता को लेकर 'आकाश का प्रदेश' यह गौण प्रयोग होता है । इस से 'आत्मा का प्रदेश' भी व्याख्यात है । संयोग की भांति शब्द और बुद्धि आदि भी अव्याप्यवृत्ति होते हैं । और तीव्रता मन्दता शब्द का असली धर्म है, न कि लक्षणा से उस में भासता है* ।

---

* अर्थात् प्रदेश का मुख्य अर्थ अवयव है, जो अवयवी का कारण द्रव्य होता है, इस लिए 'आकाश का प्रदेश,' यहां प्रदेश शब्द गौण है ॥

* संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है, जैसे दो आमलों का संयोग आमलों में सारे वर्तमान नहीं, किन्तु उन के एक प्रदेश में है । इसी

(प्रश्न) अच्छा तो इस विषय में (=निष्प्रदेश आकाश है, निष्प्रदेश आत्मा है इस विषय में) सूत्रकार का सूत्र क्यों नहीं है (उत्तर) भगवान् सूत्रकार का यह स्वभाव है, कि कई अधिकरणों में दो पक्ष नहीं स्थापन करता है, वहां शास्त्र के सिद्धान्त से पुरुष स्वयमेव तत्त्व का निर्णय कर लेगा, ऐसा समझता है। शास्त्र का सिद्धान्त है न्याय नाम से प्रसिद्ध (पूर्ववत् आदि) अनेक शाखाओं वाला अनुमान (सो अनुमान प्रसिद्ध होने से सूत्रकार ने छोड़ दिया है)

अवतरणिका—किञ्च (जो पूर्व विद्यमान शब्द की अभिव्यक्ति मान कर नित्य मानते हैं, उन से यह पूछना चाहिए) 'यह है, यह नहीं है' यह बात किस से जानते हो। (यदि कहे, कि) प्रमाण से उपलब्धि और अनुपलब्धि से। तो [उच्चारण से पहले) अविद्यमान है शब्द—

प्रागुच्चारणा दनुपलब्धेरा वरणाद्यनुपलब्धेश्च ।१८

क्योंकि उच्चारण से पहले (शब्द की) उपलब्धि नहीं होती

प्रकार भेरी का संयोग भी आकाश में अव्याप्यवृत्ति है, इस अव्याप्यवृत्तिता को प्रकट करने के लिए कहा जाता है, कि आकाश के एक प्रदेश में है। यह कथन लक्षणा से होता है, न कि मुख्यवृत्ति से, क्योंकि मुख्य वृत्ति से प्रदेश का अर्थ भाग, अवयव है। और वह निरवयव आकाश का असंभव है। इसी प्रकार विभु आकाश में शब्द भी अव्याप्यवृत्ति होता है, इसी प्रकार विभु आत्मा में बुद्धि इच्छादि भी अव्याप्यवृत्ति होते हैं, अव्याप्यवृत्तिता को प्रकट करने के लिए 'वृक्ष का प्रदेश' इत्यादि व्यवहार सिद्ध प्रदेश शब्द 'आकाश का प्रदेश, आत्मा का प्रदेश' इत्यादि में प्रयुक्त हुआ है।

है और आवरण आदि की उपलब्धि नहीं होती है।

भाष्य—उच्चारण से पहले शब्द नहीं है, क्योंकि उस की उपलब्धि नहीं होती। विद्यमान होते हुए की अनुपलब्धि आवरण (ढक जाने) आदि से होती है, पर यह बात (शब्द के विषय में) बनती नहीं। क्योंकि अनुपलब्धि के कारण, जो आवरण आदि होते हैं, उन का यहां ग्रहण नहीं होता है, अर्थात् शब्द इस से ढका हुआ है, इस लिए उपलब्ध नहीं होता, इन्द्रिय के आगे व्यवधान (आड़) है; इस लिए इन्द्रिय के साथ उस का सम्बन्ध नहीं हुआ, इत्यादि, जो अनुपलब्धि का कारण हुआ करता है, वह यहां कोई भी ज्ञात नहीं होता, इस लिए यही निश्चित है, कि उच्चारण से पहले शब्द है ही नहीं।

(प्रश्न) उच्चारण इस का व्यञ्जक है, अतः उस (व्यञ्जक) के अभाव के कारण, उच्चारण से पूर्व शब्द की अनुपलब्धि है (उत्तर) उच्चारण क्या वस्तु है? जब कहने की इच्छा होती है, तो इच्छाजन्य प्रयत्न से शरीर के अन्दर के वायु में क्रिया होती है, उस वायु का कण्ठ तालु आदि स्थानों के साथ प्रतिघात (टक्कर) होता है, उस प्रतिघात से अपने २ स्थान के अनुसार वर्णों की अभिव्यक्ति होती है। प्रतिघात है संयोग विशेष (=शब्दजनक संयोग)। और संयोग का व्यञ्जक होना पहले (१३ में) खण्डन कर दिया है, इस लिए व्यञ्जक के अभाव से अग्रहण नहीं, किन्तु अभाव से ही (अग्रहण) है। सो यह उच्चारण किया हुआ सुना जाता है, और जब सुना गया, तो 'पहले नहीं था, अब हुआ है' यह अनुमान किया जाता है। और उच्चारण के पीछे भी नहीं सुना जाता है, सो हो कर नहीं रहा है, अतएव अभाव के कारण नहीं सुना जाता है। कैसे? क्योंकि आवरण आदि की उपलब्धि नहीं है, यह कहा ही है, इसलिए उत्पत्ति और नाश धर्मवाला है शब्द। ऐसा होने पर तत्त्व पर धूल डालता

हुआ (प्रतिवादी) कहता है*—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ।१९।

उस (आवरण) की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से आवरण सिद्ध होता है† ।

भाष्य—यदि अनुपलब्धि से आवरण नहीं, तो आवरण की अनुपलब्धि भी नहीं है, क्योंकि उस की भी अनुपलब्धि है । (प्रश्न) कैसे आप जानते हैं, कि आवरण की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती है (उत्तर) इस में जानने की कौनसी बात है, यह बात तो अपने २ अनुभव सिद्ध होने से समान है। अर्थात् जैसे यह आवरण को उपलब्ध न करता हुआ अपने ही अनुभव से जान लेता है, कि मैं आवरण को नहीं उपलब्ध करता । जैसे कि दीवार से ढके हुए के (दीवार रूप) आवरण को उपलब्ध करके सब कोई अपने २ अनुभव से जानता है। यह जो आवरण की उपलब्धि है, इस की नाईं इस की अनुपलब्धि भी अनुभव सिद्ध ही है‡। ऐसा होने पर यह जो उत्तर-

---

* जो कुछ कहा गया है, वह तत्त्व है, अतएव इसका खण्डन तो हो नहीं सकता । तो भी प्रतिवादी इस का खण्डन करने के लिए जात्युत्तर से खड़ा होता है ।

† तुम कहते हो, कि आवरण होता, तो उस की उपलब्धि होती, आवरण की अनुपलब्धि से सिद्ध होता है, कि आवरण नहीं है । इसी तरह हम भी कह सकते हैं, कि आवरण की अनुपलब्धि होती, तो उपलब्ध होती, नहीं होती, इस लिए अनुपलब्धि ही नहीं है, जब अनुपलब्धि न रही, तो आवरण सिद्ध हो गया ।

‡ भाष्यकार ने प्रश्न उठा कर जातिवादी के मुख से यह कहलवा लिया है, कि आवरण की उपलब्धि की नाईं अनुपलब्धि भी अनुभव सिद्ध है । इतना कहलवा कर भाष्यकार कहते हैं, कि जब आवरण की अनुपलब्धि को अनुभवसिद्ध मान लिया, तो अब उस का अभाव नहीं कह सकते हो, इस लिए इस जात्युत्तर का कोई विषय ही नहीं रहा। अर्थात् ये दोनों सूत्र उठ ही नहीं सकते।

वाक्य है, इस का विषय दूर हो जाता है । पर जातिवादी (इस के विषय को) मान कर (आगे भी) कहता है—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धि सद्भावान्नावरणानुपपत्ति रनुपलम्भात् ॥ २० ॥

(अनुपलब्धि के) उपलब्ध न होने से भी, यदि अनुपलब्धि का सद्भाव मानो, तो आवरण की भी असिद्धि नहीं बनेगी, क्योंकि वह भी उपलब्ध नहीं होता है ।

भाष्य—जैसे उपलब्ध न होती हुई भी आवरण की अनुपलब्धि है, इसी प्रकार उपलब्ध न होता हुआ भी आवरण है । और यदि आप मानते हैं, कि उपलब्ध न होती हुई आवरण की अनुपलब्धि नहीं है, और मान कर कहते हैं, कि आवरण नहीं है, क्योंकि उस की अनुपलब्धि है । तो ऐसा मानने में भी विशेष निश्चायक नियम नहीं बन सकता है (कि अनुपलब्धि नहीं भी, और है भी)।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेर हेतुः ॥२१॥

अनुपलब्धि को उपलब्धि का अभाव रूप होने से (१९,२० में कहा हेतु) असद्धेतु है ।

भाष्य—जो उपलब्ध होता है, वह है । जो नहीं उपलब्ध होता है, वह नहीं है । सो उपलब्ध न होने वाली वस्तु असत् है, यह स्थिर हुआ । और अनुपलब्धि है उपलब्धि का अभाव, वह तो अभाव रूप होने से उपलब्ध नहीं होती । पर आवरण जो है, वह भावरूप होता है । उस की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये, नहीं होती है, इस से 'नहीं है' यह सिद्ध होता है । तब यह जो कहा है कि 'नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात' (२०) यह अयुक्त है ।

अवतरणिका—(अनित्यता स्थापन करके, अब प्रतिवादी से

कहें नित्यता के साधक हेतुओं का खण्डन करते हैं) अब, शब्द नित्य होने की प्रतिज्ञा करता हुआ, किस हेतु से प्रतिज्ञा करता है—

अस्पर्शत्वात् ॥ २२ ॥

स्पर्श रहित होने से (शब्द नित्य है)

भाष्य—स्पर्श रहित आकाश नित्य देखा गया है, वैसा है यह शब्द । (इस का खण्डन) सो यह दोनों प्रकार से व्यभिचारी हेतु है । परमाणु स्पर्श वाला हो कर भी नित्य है, और कर्म स्पर्श-रहित भी अनित्य देखा गया है । अब आगे 'अस्पर्शत्वात्' इस हेतु का (व्यभिचार दिखलाने के लिए) साध्यसाधर्म्य से उदाहरण—

न, कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥

नहीं, क्योंकि (स्पर्श रहित भी) कर्म अनित्य है ।

साध्यवैधर्म्य से उदाहरण—

नाणुर्नित्यत्वात् ॥ २४ ॥

नहीं, क्योंकि अणु (स्पर्श वाला हो कर भी) नित्य है ।

भाष्य—दोनों प्रकार के उदाहण में व्यभिचार आता है, इस लिए यह हेतु नहीं, अच्छा तो यह हेतु है—

सम्प्रदानात् ॥ २५ ॥

दिया जाने से (नित्य है शब्द)

भाष्य—जो वस्तु (किसी दूसरे को) दी जाती है, वह ठहरने वाली देखी गई है, शब्द आचार्य से शिष्य को दिया जाता है, इस लिए ठहरने वाला है (और जो उतनी देर ठहरा रहा, उस का फिर कौन नाश करेगा) ।

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २६ ॥

उन के अन्तराल में (शब्द की) अनुपलब्धि से (दिया जाना) अहेतु है।

भाष्य—जिस से दिया जाता है, और जिस को दिया जाता है, उन दोनों के अन्तराल में, इस का ठहराव किस लिङ्ग से ज्ञात होता है। दिया हुआ जो है वह ठहरा रह कर देने वाले से अलग होता है, और संप्रदान को प्राप्त होता है, यह बात अवर्जनीय है (इस लिए दोनों के अन्तराल में उस की स्थिति का प्रमाण करना चाहिये)।

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

अध्यापन (लिङ्ग) है, इस लिए (अन्तराल में स्थिति का) प्रतिषेध नहीं।

भाष्य—अध्यापन लिङ्ग है। यदि (शिष्य को) शब्द दिया न जाए, तो अध्यापन नहीं हो सकता।

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनाद प्रतिषेधः * ॥ २८ ॥

दोनों पक्षों में से अध्यापन बन सकने से (२६ में कहे हेतु के प्रतिषेध का) प्रतिषेध नहीं है।

---

* मुद्रितन्याय दर्शन में इस को सूत्र करके नहीं लिखा, पूर्व सूत्र के भाष्य में ही पढ़ा है। पर 'अध्यापनाद प्रतिषेधः' जब यह पूर्व पक्ष सूत्र है, तो इस का उत्तर सूत्र भी अवश्य होना चाहिये। मुद्रित न्याय सूचीनिबन्ध में इस को सूत्रत्वेन पढ़ा है, और न्याय तत्त्वालोक में इस को सिद्धान्त सूत्र लिखा है। इस लिए इस को अलग सूत्र रूप में लिखा गया है।

भाष्य—समान है अध्यापन दोनों पक्षों में क्योंकि (अध्यापन) संशय से परे नहीं जाता। कि क्या आचार्यस्थ जो शब्द है, वह शिष्य को मिल जाता है, यह है अध्यापन, अथवा नाचने के उपदेश की नाईं, ग्रहण किये का अणुकरण है अध्यापन। इस प्रकार अध्यापन जो है, वह (शब्द के) दिया जाने का लिङ्ग नहीं बन सकता। अच्छा तो यह होगा।

अभ्यासात् ॥ २९ ॥

अभ्यास से

भाष्य—जिस का अभ्यास किया जाय, वह वस्तु टिकी हुई देखी गई है। जैसे पांच बार देखता है, टिका हुआ रूप बार २ देखा जाता है। इसी प्रकार शब्द में अभ्यास है-दस बार अनुवाक पढ़ा है, बीस बार पढ़ा है। इस लिए टिके हुए (शब्द का) बार २ उच्चारण अभ्यास है।

नान्यत्वेप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३० ॥

नहीं, क्योंकि भिन्न होने पर भी अभ्यास का प्रयोग होता है।

भाष्य—न टिकने पर भी अभ्यास का कथन होता है, जैसे आप दो बार नृत्य करें, तीन बार नृत्य करें। उसने दो बार नृत्य किया, तीन बार नृत्य किया। दो बार अग्निहोत्र करता है। दो बार खाता है (यहां नृत्य टिका रह कर दो बार नहीं हुआ, किन्तु पहले नृत्य से दूसरा नृत्य अन्य है, तथापि तत्सदृश होने से दो बार का प्रयोग होता है। इत्यादि) इस प्रकार व्यभिचार से (अभ्यासात्) हेतु का खण्डन होने पर भी (प्रतिवादी वाक् छल से 'अन्य' शब्द के प्रयोग का प्रतिषेध करता है।

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्य दित्यन्यताभावः ॥ ३१ ॥

अन्य जो है वह, अन्य से (अपने स्वरूप से) अन्य न होने के कारण अनन्य है, इसलिए अन्यता का अभाव है (अर्थात् अन्यता कोई है ही नहीं)।

भाष्य—यह जो तुम अन्य मानते हो, वह स्वार्थ से अनन्य है, इस लिए वह अन्य नहीं, इस प्रकार अन्यता का अभाव है। तब यह जो कहा है, कि 'अन्य होने में भी अभ्यास का प्रयोग होता है (पूर्व ३०) यह अयुक्त है। यहां शब्द (की नित्यताके) अनुमान का (सिद्धान्ती) जो प्रतिषेध कर रहा है, उस के प्रयोग (अन्य शब्द के प्रयोग) का (प्रतिवादी) प्रतिषेध करता है ॥

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षा-सिद्धिः ॥ ३२ ॥

उस के (अन्यता के) अभाव में अनन्यता नहीं बन सकती, क्योंकि उन दोनों में से एक की दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि होती है (अनन्यता की अन्यता की अपेक्षा से सिद्धि होती है, अन्यता न हो, तो अनन्यता नहीं कह सकते)।

भाष्य—पहले तो आप 'अन्य' शब्द से अन्यता उपपादन करते हैं, उपपादन करकेपीछे अन्य का खण्डनकरतेहैं,कि(अन्यजोहै वहवस्तुतः) अनन्य है। आप अन्य शब्द को मान लेते हैं, और तब भी कहते हैं, कि है वह अनन्य। (अनन्य) यह एक समासपद है। यहां अन्य शब्द प्रतिषेध (वाचक न ञ्) के साथ समस्त हुआ है। सो यदि इस समास में उत्तर पद (अन्य) है ही नहीं, तो किस का यह प्रतिषेध के साथ समास होगा। इस लिए इन दोनों अर्थात् अनन्य और अन्य शब्दों में से, एक अनन्य शब्द जो है, वह दूसरे अर्थात् अन्य शब्द की अपेक्षा से सिद्ध होता है (यदि अन्य न हो, तो किस का प्रतिषेध अनन्य हो)। तब जो कहा है कि 'अन्यता का अभाव है' (३१) यह अयुक्त है।

अवतरणिका—अच्छा तो हो शब्द की नित्यता–

विनाश कारणानुपलब्धेः ॥ ३३ ॥

क्योंकि (शब्द के) विनाश के कारण की अनुपलब्धि है ।

भाष्य—जो अनित्य है, उस का विनाश कारण से होता है, जैसे मट्टी के ढेले का कारणद्रव्य (अवयवों) के विभाग से विनाश होता है। शब्द भी यदि नित्य हो, तो उस का विनाश जिस कारण से होता है, वह उपलब्ध हो, पर उपलब्ध नहीं होता है, इस लिए नित्य है ।

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ।३३।

अश्रवण के कारण की अनुपलब्धि से लगातार श्रवण का प्रसङ्ग होगा ।

(पूर्व सूत्र का प्रतिबन्द्युत्तर–) जैसे विनाश के कारण की अनुपलब्धि से अविनाश का प्रसंग आता है, इसी प्रकार अश्रवण के कारण की अनुपलब्धि से लगातार श्रवण का प्रसंग होगा । 'व्यञ्जक के अभाव से श्रवण नहीं होगा' यदि ऐसा कहो, तो व्यञ्जक का प्रतिषेध कर चुके हैं। यदि कहो, कि विद्यमान का बिना निमित्त के अश्रवण होता है, तो विद्यमान का बिना निमित्त विनाश भी होगा। दृष्टविरोध निमित्त के बिना विनाश और अश्रवण दोनों में एक बराबर है ।

उपलभ्यमाने चानुपलब्धे रसत्वादनपदेशः ।३५।

और (सत्य तो यह है कि विनाश कारण के) उपलब्ध होते हुए, अनुपलब्धि का अभाव होने से (विनाशकारणानुपलब्धेः) अहेतु है ।

भाष्य—अनुमान से जब शब्द के विनाश का कारण उपलब्ध है, तब विनाश कारण की अनुपलब्धि न रही, इस लिए (विनाश-

कारणानुपलब्धेः) अहेतु (हेत्वाभास) है। जैसे-क्योंकि यह सींग वाला है, इस लिए घोड़ा है।

क्या अनुमान है (विनाश कारण की उपलब्धि का?) यदि यह कहो,(उत्तर है) तो सन्तान (सिलसिले) की सिद्धि। उपपादन कर दिया है शब्द का सन्तान, कि संयोग और विभाग से उत्पन्न हुआ जो शब्द है, उससे आगे और शब्द, उससे फिर और, और उस से भी और होता जाता है। उन में कार्यशब्द कारणशब्द का विरोधी होता है(अगले शब्द के उत्पन्न होने पर पहला नष्ट हो जाता है) और प्रतिघाति द्रव्य का संयोग अन्तले शब्द का नाशक होता है। यह देखी हुई बात है, कि दीवार की आड़ में निकटस्थ पुरुष भी शब्द को नहीं सुन सकता, और व्यवधान के न होने पर दूरस्थ भी सुन लेता है।

जब घण्टे पर टकोर लगाई जाय, तब बहुत ऊंचा, ऊंचा, फिर मन्द, फिर मन्दतर, इस प्रकार ध्वनि के भेद से नाना शब्दों का सन्तान लगातार सुना जाता है। वहां शब्दनित्यता के पक्ष में, एक तो (लगातार सुनाई देने की) अभिव्यक्ति का कारण होगा, जिस से कि सुनाई देने का सिलसिला बन जाय, वह कारण चाहे घण्टे में हो, वा अन्यत्र हो। तथा टिका हुआ हो, चाहे सन्तानवृत्ति हो। दूसरा, जब शब्द में भेद नहीं, तो सुनने में (तार मन्द आदि) भेद क्यों होता है, यह भी उपपादन करना होगा*। और शब्द के

---

* घड़ियाल के ताड़ने पर जो लंबे टन टन तीव्र और मन्द होते हैं,उनकी यदि अभिव्यक्ति मानो,और अभिव्यक्ति का कारण संयोग कहो तो वह संयोग तो बनेगा नहीं, क्योंकि टन टन संयोग के अनन्तर सुनाई देते रहते हैं। संयोग से भिन्न कोई कारण यदि घड़ियाल में टिका रहने वाला मानो, तो श्रुति का भेद नहीं बनेगा, क्योंकि उन सब श्रुतियों का कारण एक ही हुआ। यदि सन्तान वृत्ति मानो,

अनित्य मानने में, तो एक और निमित्त संस्कार है, जो संयोग का सहकारिकारण है (संयोग से शब्दोत्पत्ति में सहकारी कारण होता है), वह घण्टे में रहता है, और (टिका हुआ नहीं किन्तु) सन्तान में होता है, वह तीव्र और मन्द होता है, उस के चलते रहने से शब्द सन्तान चलता रहता है, उस के तीव्र और मन्द होने से शब्द की तीव्रता और मन्दता होती है, इस कारण आगे सुनने में भेद होता है।

अवतरणिका—यह जो सहकारि निमित्त संस्कार कहते हो, यह उपलब्ध नहीं होता है, अनुपलब्धि से है ही नहीं ? (इस का उत्तर देते हैं—)

पाणिनिमित्त प्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ।३६

(घडियाल के साथ) हाथ रूपी निमित्त के लगने से, शब्द का अभाव होने से अनुपलब्धि नहीं है ।

भाष्य—हाथ के कर्म से हाथ और घडियाल का संयोग होता है, उस के होने पर शब्दसन्तान नहीं उपलब्ध होता, इस लिए सुनना नहीं बनता । वहां यह अनुमान होता है, कि प्रतिघाती (रोकने वाले) द्रव्य का जो संयोग है, वह उस सहकारि निमित्त रूप संस्कार को रोक देता है, उस के रुक जाने से शब्दसन्तान नहीं उत्पन्न होता । उत्पन्न न होने पर सुनना बन्द हो जाता है। जैसे प्रतिघाती द्रव्य के संयोग से, बाण में क्रिया के निमित्तरूप

तो एक साथ अनेक शब्दों की उपलब्धि होनी चाहिये। और अन्यत्र कारण हो, तो ताडित घडियाल में ही उनकी अभिव्यक्ति हो, अन्यत्र न हो, यह नियम नहीं बनेगा । इस लिए अभिव्यक्ति पक्ष में यह टन टन का ऊंचा नीचा सिलसिला किसी तरह नहीं बन सकता, उत्पत्ति पक्ष में जैसा कि आगे उपपादन किया है, सीधा बन आता है ।

संस्कार (वेग) के रुक जाने पर गति का अभाव हो जाता है। कम्पसन्तान (कांपने का सिलसिला) जो त्वचा से ग्राह्य है, वह बन्द होजाता है। कांसे के पात्र आदि पर हाथ का स्पर्श उस में स्थित संस्कारसन्तान का अनुमापक है । इस लिए (शब्द का) निमित्तान्तर जो संस्कार है, उस की अनुपलब्धि नहीं है।

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसंगः ॥ ३७ ॥

विनाश के कारण की अनुपलब्धि से (शब्द की) अवस्थिति मानें, तो उस की (शब्द की अभिव्यक्ति की) भी नित्यता का प्रसंग होगा।

भाष्य—यदि जिस के विनाश का कारण उपलब्ध नहीं होता वह टिका रहता है, टिका रहने से उस की नित्यता आती है, तो इसी प्रकार जो ये शब्दों का सुना जाना शब्दों की अभिव्यक्तियें हैं यह मत है। उन (अभिव्यक्तियों) का भी विनाश आप सिद्ध नहीं करते, सिद्ध न करने से उन का टिका रहना सिद्ध होता है, टिका रहने से नित्यता आती है। यदि ऐसे नहीं, तो फिर विनाश कारण की अनुपलब्धि से शब्द की अवस्थिति से शब्द की भी नित्यता सिद्ध नहीं होती*।

पूर्वपक्ष—(कांसी के पात्र में) हाथ लगाने से कारण (संस्कार) के बंद होने से कांप (कम्पन) की नांई कांप के समानाधिकरण ध्वनि का अभाव होगा। व्यधिकरण में कार्य नहीं होता, इस लिए प्रतिघाति द्रव्य के लगने से समानाधिकरण का ही अभाव होगा†।

---

* इस सूत्र का विषय सूत्र ३४ में उक्त प्राय है, उपसंहार के लिए यहां फिर दुहराया है।

† समानाधिकरण, जिन का आधार एक हो। जैसे सोने का स्पर्श और रूप, दोनों एक डली में होने से समानाधिकरण हैं।

अस्पर्शत्वाद प्रतिषेधः ॥ ३८ ॥

स्पर्श रहित होने के कारण प्रतिषेध नहीं बनता ।

भाष्य—'शब्द आकाश का गुण है' इस का जो प्रतिषेध किया जाता है, यह प्रतिषेध नहीं बन सकता है। क्योंकि स्पर्श रहित द्रव्य ही शब्द का आश्रय बन सकता है। (शब्द को) रूप आदि के सामानाधिकरण न मानने में शब्दसन्तान बन सकता है (अन्यथा नहीं), इस लिये स्पर्शरहित और व्यापक द्रव्य के आश्रय है शब्द, न कि कांप के सामानाधिकरण है, यह जाना जाता है* ।

अवतरणिका—हर एक द्रव्य में रूप आदि के साथ रहता हुआ शब्द (रूपादि के) समानाधिकरण हुआ अभिव्यक्त होता है, यह नहीं बन सकता है। कैसे ?

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥

समुदाय में भिन्न २ विभाग बन सकने से भी (प्रतिषेध नहीं बन सकता) ।

भाष्य—' च=भी, से अभिप्राय है 'सन्तान के बन सकने से' इस की व्याख्या कर दी गई है। यदि रूप आदि और शब्द, हरएक

व्यधिकरण, जिन के अधिकरण अलग २ हों । शंका यह है, कि जब कांस्य पात्र को छूने से शब्द का अभाव होता है, तो शब्द का आधार कांस्यपात्र मानना चाहिये, जैसे हाथ लगाने से उस की कांप मिटी है, वह कांप उसी पात्र में है, वैसे ही शब्द भी उसी पात्र में है । इस से शब्द पांचों महाभूतों का गुण सिद्ध होता है, न कि केवल आकाश का (यह पक्ष सांख्य का है-वाचस्पति) ।

* यदि कांप के समानाधिकरण हो, तो कांप के अधिकरण से अन्यत्र शब्द की उत्पत्ति न होने से शब्दसन्तान नहीं बन सकता।

द्रव्य में इकट्ठे मिले हुए हैं, तब उस समुदाय में जो जिस प्रकार स्थित है, उसी प्रकार के (एक ही) शब्द का ग्रहण होना चाहिये, जैसे कि रूप आदि का होता है । ऐसी अवस्था में, एक तो यह विभाग, कि जो शब्द के व्यक्त होने पर एक ही आधार में अनेक प्रकार के भांति २ की ध्वनि वाले एक दूसरे से विधर्मी शब्द सुने जाते हैं। और दूसरा यह विभाग, कि एक ही प्रकार के, एक जैसी ध्वनि वाले सधर्मी शब्द भी, जो तीव्रता वा मन्दता के कारण भिन्न २ सुनाई देते हैं, यह दोनों विभाग नहीं बन सकते हैं । नाना हो कर उत्पन्न होने वालों का यह धर्म हो सकता है, एक ही हो कर व्यक्त होने वाले का नहीं । पर यह दोनों प्रकार का विभाग (देखा जाता है), इस विभाग के बन सकने से हम मानते हैं, कि हरएक द्रव्य में रूप आदि के साथ मिल कर रहता हुआ शब्द अभिव्यक्त होता है, यह ठीक नहीं है ।

(शब्द परिणाम प्रकरण ४०–५४) ।

अवतरणिका – दो प्रकार का है शब्द–ध्वनि रूप और वर्ण रूप । उन में से वर्ण रूप में–

विकारादेशोपदेशात् संशयः ॥ ४० ॥

विकार और आदेश के उपदेश से संशय होता है ।

भाष्य—(दधि+अत्र=) दध्यत्र, इ इ पन को त्याग कर य बन गया है, इस प्रकार कई तो विकार मानते हैं । और कई यह कहते हैं, कि ' इ ' के प्रयोग स्थल में जब ' इ ' स्थान छोड़ देता है (नहीं बोला जाता), तब वहां 'य' का प्रयोग होता है । अर्थात् संहिता के विषय में ' इ ' का प्रयोग नहीं होता ' य ' का प्रयोग होता है, यह आदेश है । सो ये दोनों बातें बतलाई जाती हैं । इन में यह ज्ञात नहीं होता है, कि तत्त्व क्या है ।

(आदेशवादी) तत्त्व यह है, कि आदेश का उपदेश है ' विकार का उपदेश कहो, तो अन्वय के अग्रहण से विकार का अनुमान नहीं

बनता' अन्वय हो, तो कोई धर्म निवृत्त हुआ है, और कोई उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार विकार का अनुमान हो सके, * पर (इ और य में) अन्वय का ग्रहण होता नहीं, इसलिए विकार नहीं है।

(दूसरी युक्ति) भिन्न प्रयत्न वाले वर्णों में एक के अप्रयोग में दूसरे का प्रयोग बनता है' अर्थात् 'इ' का प्रयत्न है विवृत, और 'य' का है ईषत्स्पृष्ट। सो ये दोनों जब अलग २ प्रयत्नों से उच्चारणीय हैं, तब इन दोनों में से एक के अप्रयोग में दूसरे का प्रयोग बन सकता है (न कि 'इ' य का रूप धारता है)।

(तीसरी युक्ति-) 'जो विकार नहीं, उस में (और इस में) अविशेष है'=जहां 'इ' और 'य' विकाररूप नहीं, जैसे यतते, यच्छति, प्रायँस्त (यहां य) और 'इदम्' यहां 'इ'। और जहां विकाररूप (इ, य) का उच्चारण करता है, जैसे इष्ट्वा और दध्याहर। इन दोनों स्थलों में बोलने वाले का प्रयत्न कोई भेद नहीं रखता, इस लिए आदेश बन सकता है।

(चौथी युक्ति) 'बोले जाते हुए के ग्रहण से'='इ' बोला जा कर यत्व को प्राप्त होता हुआ गृहीत नहीं होता, किन्तु इ के प्रयोग में य का प्रयोग होता है, इस लिए विकार नहीं हैं।

(आक्षेप और उस का उत्तर) 'अविकार पक्ष में शब्दानुशासन का लोप नहीं आता'=वर्ण विकृत नहीं होते हैं, इस पक्ष में शब्दानुशासन का असम्भव नहीं आता, जिस से कि वर्णविकार को अवश्य मानना ही पड़े। निःसन्देह दूसरा वर्ण, (स्थानी) वर्ण का कार्य नहीं होता, क्योंकि न इ से य और न ही य से इ उत्पन्न होती है। वर्ण जब कि अलग २ स्थान और प्रयत्नों से उत्पन्न होते हैं, तब एक

* अन्वय=अनुगति। जो मट्टी गोले में थी, वही घड़े में है। इस लिए मट्टी का गोला घड़े का कारण और घड़ा कार्य है। इस प्रकार की अनुगति इ और य में नहीं।

दूसरे के स्थान में बोले जाता है, यही युक्त है। विकार इतना ही है, कि या तो परिणाम हो वा कार्य कारणभाव हो*। पर यहां दोनों ही नहीं बन सकते, इस लिए वर्णविकार नहीं है।

(उपसंहार) वर्णसमुदाय का जैसे विकार नहीं बन सकता। वैसे वर्णविकार भी बन नहीं सकता, 'अस्तेर्भूः। ब्रुवोवचिः' (अष्टा-२।४।५२—५३) यहां जैसे (अस् और ब्रू) धातु रूप वर्णसमुदाय के स्थान किसी स्थल में (=आर्ध धातुक में) वर्णान्तर समुदाय (=भू और वच्) न परिणाम है, न कार्य है, किन्तु शब्दान्तर के स्थान में शब्दान्तर प्रयुक्त होता है, इसी प्रकार वर्ण के स्थान में वर्णान्तर होता है।

अवतरणिका—इस से भी वर्णविकार नहीं है—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४१ ॥

क्योंकि प्रकृति की वृद्धि में कार्य की वृद्धि होती है।

भाष्य—प्रकृति के पीछे चलना विकारों में देखा जाता है (थोड़ी मट्टी से छोटा पात्र और बड़ी से बड़ा बनता है) पर य में ह्रस्व दीर्घ का अनुसरण है नहीं, जिस से विकारत्व का अनुमान हो।

न्यूनसमाधिकोपलब्धे र्विकाराणामहेतुः ।४२।

(यह पूर्व हेतु पर आक्षेप है-कि प्रकृति विकार विवृद्धेः, यह) हेतु नहीं (हेत्वाभास है) क्योंकि विकार न्यून सम और अधिक होते हैं, (छोटे से बटबीज से बड़ का वृक्ष बहुत बड़ा होता है, और उस बीज से कई गुणा बड़े नारियल बीज से नारियल का वृक्ष

---

* परिणाम जैसे दूध से दही, और कार्यकारणभाव, जैसे मट्टी से घड़ा। सांख्य पक्ष में सर्वत्र ही परिणाम, और वैशेषिक पक्ष में सर्वत्र ही कार्यकारणभाव माना जाता है।

बड़ से बहुत छोटा होता है, और सोने के भूषण सोने के सम होते हैं)।

भाष्य—द्रव्यों के विकार न्यून, सम और अधिक देखे जाते हैं। उनकी नाईं यह विकार भी (इ को य) न्यून हो सकेगा। (इस का खण्डन-द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः* । दोनों प्रकार के हेतु के अभाव से दृष्टान्त साधक नहीं होता। अर्थात् इस में न तो उदाहरण के साधर्म्य से कोई हेतु है, न ही वैधर्म्य से । और हेतु द्वारा जब तक उपसंहार न हो, निरा दृष्टान्त साधक नहीं हो सकता।

'प्रति दृष्टान्त में नियम का अभाव है' अर्थात् जैसे बैल के स्थान घोड़ा बोझ ढोने के लिए लगाया जाय, तो वह उस का विकार नहीं होता, इसी प्रकार इ के स्थान, प्रयुक्त हुआ उ उसका विकार नहीं। यहां कोई नियामक हेतु नहीं, जिस से दृष्टान्त (न्यून समअधिक वाला) साधक हो, प्रति दृष्टान्त (बैल घोड़े वाला) न हो, और द्रव्य के विकारों का उदाहरण—

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥४३॥

नहीं, क्योंकि भिन्न प्रकृति वालों के विकारों में भेद होता है।

भाष्य—जो द्रव्य एक जैसे नहीं, उन का प्रकृति होना भेद

---

* वाचस्पति मिश्र के मत में यह सूत्र है। उस ने इस से पूर्व 'अस्य प्रत्याख्यानसूत्रम्' ऐसा अवतरण देकर इस को लिखा है, और न्याय सूची में सूत्र मध्ये पढ़ा है। पर मुद्रित भाष्य में यह भाष्य में आया है, और न्यान वार्तिक में भी इस को सूत्रमध्ये नहीं पढ़ा। और सब से बढ़ कर यह कि सूत्र ४२ का खण्डन सूत्र 'नातुल्यप्रकृतीनां विकार विकल्पात्' ही स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि इस में खण्डन वाचक 'न' पद आदि में स्पष्ट है। इस लिए हमने इस को 'संग्रह वाक्य' रक्खा है सूत्र नहीं।

रखता है, और विकार प्रकृति के अनुसार होता है। पर य इवर्ण के अनुसार होता नहीं। इस लिए द्रव्य का विकार (इ को य में) उदाहरण नहीं बनता (इस पर आक्षेप]

द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्ण विकारविकल्पः।४४।

द्रव्य के विकार में विषमता की नांई वर्ण के विकार में भेद होता है।

भाष्य—जैसे द्रव्य होने से सब प्रकृतियों के तुल्य होने पर भी, उन के विकारों की विषमता होती है, इसी प्रकार वर्णरूप से तुल्य होने पर भी विकारों का भेद होगा (इस का खण्डन-)

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

नहीं, क्योंकि विकार का धर्म (वर्णों में) नहीं बनता।

भाष्य—यह है विकार का धर्म, कि द्रव्यत्वेन द्रव्यसामान्य होने पर यदात्मक द्रव्य हो मट्टी वा सोना, उस आत्मा (स्वरूप) का तो अन्वय (अनुगति) होता है, किन्तु जब पूर्वव्यूह रचना विशेष) निवृत्त हो जाता है, और दूसरा व्यूह उत्पन्न होता है, उस को विकार कहते हैं। पर वर्णत्वेन वर्णसामान्य में कोई भी एक स्वरूप अन्वयी नहीं, जो इ को त्यागता है और य बनता है। ऐसी अवस्था में द्रव्यत्व के होते हुए विकार की विषमता होने पर भी, जैसे बैल (के स्थान नियुक्त घोड़ा बैल) का विकार नहीं, क्योंकि विकार के धर्म उस में नहीं बन सकते, इसी प्रकार इवर्ण का य विकार नहीं, क्योंकि विकार का धर्म उस में नहीं घटता है।

अवतरणिका—इस से भी वर्ण विकार नहीं है—

विकार प्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४६ ॥

(इस से भी वर्ण विकार नहीं है) क्योंकि जो विकार को

प्राप्त हुए हैं, उन की फिर (पहले रूप में) प्राप्ति नहीं होती (जैसे दूध से हुआ दही फिर दूध नहीं बनती)।

भाष्य—फिर प्राप्ति बन नहीं सकती। कैसे? क्योंकि फिर प्राप्ति का कोई अनुमान नहीं है। पर इकार यकार बन कर फिर इकार हो जाता है। तो क्या फिर, इ के स्थान में य का प्रयोग और अप्रयोग होता है, इस में अनुमान नहीं है, यह नहीं है।

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४७ ॥

सुवर्ण आदि की फिर प्राप्ति होती है, इसलिए यह हेतु नहीं।

भाष्य—(फिर प्राप्ति का) अनुमान नहीं यह नहीं। क्योंकि यह अनुमान है, कि सुवर्ण कुण्डलपन को त्याग रुचक (चांपकली) बन जाता है, रुचकपन को त्याग कर फिर कुण्डल बन जाता है। इसी प्रकार इ भी यण् में यत्व को प्राप्त हुआ फिर इ हो जाता है, इस लिए व्याभिचार से अनुमान नहीं बनता, कि जैसे दूध दही भाव को प्राप्त हुआ दूध नहीं होता क्या इस प्रकार वर्णों की फिर उस रूप में प्राप्ति नहीं होती, अथवा सुवर्ण की नाई फिर प्राप्ति होती है। (आक्षेप-) सुवर्ण का उदाहरण नहीं बन सकता, क्योंकि उस के विकार सुवर्णत्व से अलग नहीं होते। टिका हुआ ही सुवर्ण द्रव्य हट जाने वाले धर्म को लेकर धर्मी होता है (कुण्डल सुवर्ण का धर्म है, सुवर्ण धर्मी है). इस प्रकार (इ से भिन्न) कोई शब्द स्वरूप ऐसा नहीं, जो हटते हुए इपन से और उत्पन्न होते हुए यपन (इन दो धर्मों से) धर्मी जाना जाय, इस लिए सुवर्ण का उदाहरण नहीं बन सकता है। (इस पर आक्षेप-) 'वर्ण के विकार वर्णत्व से अलग नहीं होते, इस लिए पूर्व प्रतिषेध ठीक नहीं' अर्थात् वर्णविकार भी वर्णत्व से व्याभिचार नहीं खाते, जैसे कि सुवर्ण के विकार सुवर्णत्व से। (उत्तर) 'सामान्य (=जाति) वाले का धर्मों से सम्बन्ध होता है, न कि सामान्य का' =कुण्डल और रुचक सुवर्ण

के धर्म हैं; न कि सुवर्णत्व के' इस प्रकार इ और य किस वर्ण के धर्म हैं (अर्थात् किसी के नहीं ये स्वयं दो अलग २ वर्ण हैं) वर्णत्व जो है, वह तो सारे वर्णों का सामान्यधर्म है, उस के ये दोनों धर्म हो नहीं सकते। हटता हुआ धर्म उत्पन्न होते हुए की प्रकृति नहीं होता, सो निवृत्त होता हुआ इ उत्पन्न होते हुए य की प्रकृति नहीं हो सकता।

अवतरणिका—इस से भी वर्णविकार नहीं बन सकता–

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ।४८।

(शब्द की) नित्यता में तो विकार बनता नहीं और अनित्यता में उस का टिका रहना नहीं बनता।

भाष्य—वर्ण नित्य हैं, इस पक्ष में तो इ और य दोनों के नित्य होने से (कोई किसी का) विकार नहीं बन सकता। नित्य होने में जब अविनाशी हुए, तो कौन किस का विकार हो। और 'वर्ण अनित्य हैं' यदि यह पक्ष लो, तो इस प्रकार भी वर्णों का टिका रहना नहीं बन सकता।

(प्रश्न) वर्णों का टिका न रहना क्या है (उत्तर) उत्पन्न होकर ही नष्ट होजाना। इ जब उत्पन्न हो कर नष्ट होजाता है, तब य उत्पन्न होताहै, और य जब उत्पन्न होकर नष्ट होजाताहै, तब इउत्पन्न होताहै, तब कौनकिसका विकार हो। यह बात अवग्रह करके सन्धि करने में और सन्धि करके अवग्रह करने में जाननी चाहिये (जैसे दिविऽइव' ऐसा अवग्रह दिखला कर सन्धि दिखलाई जाती है दिवीव। और दिवीव इस प्रकार संहित रूप दिखला कर अवग्रह दिखलाया जाता है, दिविऽइव)' इस पर जाति वादी आक्षेप करता है]।

नित्यानामतीन्द्रियत्वात् तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ४९ ॥

कई नित्यों के अतीन्द्रिय होने से, उन (नित्यों) के धर्मों का भेद होने से वर्णविकारों का प्रतिषेध नहीं बनता (अर्थात् जब नित्य परमाणु आदि अतीन्द्रिय और नित्य भी गोत्व आदि इन्द्रियग्राह्य हैं, इस प्रकार जब नित्यों में भी कई धर्मों का आपस में भेद पाया जाता है, तो ऐसा मानने में कोई रुकावट नहीं रहेगी, कि यद्यपि और नित्य तो विकार नहीं होते, तथापि वर्ण नित्य हो कर भी विकार हैं)

भाष्य—वर्ण नित्य हैं, इस लिए विकृत नहीं होते, यह प्रतिषेध ठीक नहीं । क्योंकि जैसे नित्य होने पर भी कोई वस्तु अतीन्द्रिय है (जैसे परमाणु आदि) तो भी वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं । इसी प्रकार नित्य होने पर भी कोई वस्तु विकृत नहीं होती, पर वर्ण विकृत होते हैं (यह विकल्प सम जाति है,इसका खण्डन-) 'तद्धर्मविकल्पात्'=उन के धर्मों का भेद होने से. यह जो हेतु दिया है, यह अहेतु है, क्योंकि (नित्यता और विकार का) विरोध है । नित्य जो है, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, उत्पत्ति नाश से रहित नित्य होता है, और अनित्य वह होता है, जो उत्पत्ति और नाश से युक्त हो । और विकार उत्पत्ति नाश के बिना होता नहीं, सो यदि वर्ण विकृत होते हैं, तो नित्यता इन की निवृत्त हो जाती है, और यदि नित्य हैं, तो विकारशीलता निवृत्त हो जाती है । सो यह 'धर्म विकल्प' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है (अर्थात् अतीन्द्रिय होना वा इन्द्रियग्राह्य होना इस का नित्यता के साथ कोई विरोध नहीं, पर विकार और नित्यता का परस्पर विरोध है]

अवतरणिका—अब अनित्य पक्ष में समाधान (करते हैं-)

अनवस्थायित्वेच वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारोपपत्तिः ॥ ५० ॥

और न टिकने वाला मानने में वर्णों की उपलब्धि की नाईं

उन का विकार भी बन सकेगा (अर्थात् जैसे अस्थिर भी वर्ण सुने जाते हैं, वैसे उन का विकार भी बन सकेगा-यह साधर्म्यसमा जाति है)।

भाष्य—जैसे अवस्थित न रहने वाले भी वर्णों का श्रवण होता है, इसी प्रकार उन का विकार भी होता है। (इस जात्युत्तर का खण्डन-) 'असम्बन्ध से असमर्थ है' अर्थात् अर्थ की ज्ञापक वर्णोपलब्धि का विकार के साथ सम्बन्ध न होने से समर्थ नहीं, जिस से कि वह ग्रहण हो कर वर्ण विकार का अनुमान कराए (अर्थात् वर्णोपलब्धि का वर्णविकार के साथ कोई व्याप्तिसम्बन्ध नहीं)। ऐसी अवस्था में जैसे यह होता है, कि पृथिवी जैसे गन्धगुण वाली है, वैसे शब्द सुख आदि गुणों वाली भी है' इसी प्रकार का यह कथन है। वर्णोपलब्धि जो है, वह वर्ण की निवृत्ति में वर्णान्तर के प्रयोग की कोई साधक नहीं । यह जो इ की निवृत्ति में य का प्रयोग है, यदि यह वर्ण की उपलब्धि से सिद्ध हो, तब वहां उपलब्ध होने वाला य बन गया है, यह ग्रहण किया जाय, इस लिए वर्णों की उपलब्धि वर्णविकार का हेतु नहीं (इस प्रकार इन दोनों जात्युत्तरों का भाष्यकार स्वयं खण्डन करके आगे सूत्रकार कृत खण्डन दिखलाते हैं-)

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्च प्रतिषेधः ॥ ५१ ॥

विकार धर्मी होने में तो नित्यता नहीं बन सकती, और (कुछ काल टिका रह कर) कालान्तर में विकार बन सकता है, इस लिए (४९, ५० में कहा) प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—'तद्धर्म विकल्पात्' (४९) यह प्रतिषेध ठीक नहीं। विकार धर्मी कोई भी वस्तु नित्य उपलब्ध नहीं होती। 'वर्णोपलब्धि

की नाईं' (५०) यह प्रतिषेध ठीक नहीं । अवग्रह में 'दधि अत्र' ऐसा प्रयोग करके देर तक ठहर कर उस के पीछे संहिता में प्रयोग करता है दध्यत्र । इ के निवृत्त होने के बहुत देर पीछे प्रयुक्त हुआ यह य किस का विकार जाना जाय, कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है (वैशेषिक १ । २ । १) यह नियम लागू है (इस लिए इ की निवृत्ति में बोला गया य, इ का कार्य नहीं बन सकता)

अवतरणिका—इस से भी वर्णविकार नहीं बन सकता—

प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् ॥ ५२ ॥

क्योंकि वर्णविकारों की प्रकृति का नियम नहीं (पाया जाता)

भाष्य—इ के स्थान य सुना जाता है, और य के स्थान इ विधान किया जाता है, जैसे विध्यति । सो वर्णों का प्रकृतिविकार भाव होता, तो उस की प्रकृति का नियम होता । (लोक में) तो जो कोई भी विकारधर्मी है, उस की प्रकृति का नियम देखा गया है (जैसे दूध से दही बनता है, दही से दूध नहीं) ।

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५३ ॥

(पूर्व हेतु का छलवादी वाक् छल से खण्डन करता है-) अनियम में नियत होने से अनियम कोई) है ही नहीं (अर्थात् अनियम अपने आप में तो नियत है, और जो नियत है, वह अनियम कैसे ?) ।

भाष्य—यह जो प्रकृति का अनियम कहा है, वह नियत है, अर्थात् अपने विषय में नियम से रहता है, और नियत होने से अनियम नहीं कहला सकता । ऐसी अवस्था में अनियम कोई है ही नहीं । तब यह जो कहा है 'प्रकृत्यनिमात्=प्रकृति के अनियम से (५२) ' यह ठीक नहीं' । (इस का खण्डन-) ।

नियमानियमविरोधा दनियमे नियमाच्च प्रतिषेधः ॥ ५४ ॥

क्योंकि नियम और अनियम परस्पर विरुद्ध हैं, इस लिए 'अनियम में नियम से' यह प्रतिषेध नहीं बनता।

भाष्य–'नियम' यह तो एक बात का अंगीकार है, और 'अनियम' यह उस का प्रतिषेध है। सो अंगीकार और निषेध का परस्पर विरोध होने से अभेद नहीं हो सकता। अनियम जो है, वह अपने आप में नियत होने से नियम नहीं हो जाता। यहां (अनियम को नियम कहने में) वस्तु के वैसा होने का निषेध नहीं किया, किन्तु वस्तु को वैसा मान कर नियम शब्द से उस का कथन करते हुए केवल यह सिद्ध किया है, कि नियत होने से [यहां] नियम शब्द बनता है (अनियम शब्द नहीं) (अभिप्राय यह है, अर्थात् छलवादी कहता है, कि अनियम कोई है ही नहीं, पर असल बात तो ज्यों की त्यों बनी है, कि इ य और य इ हो जाता है, यह बात प्रकृतिविकृति भाव में नहीं होती, दूध दही हो जाता है, दही दूध नहीं होता। इस लिए वर्णविकार नहीं होता)।

अवतरणिका—सो यह परिणाम से वा कार्यकारणभाव से तो वर्णविकार नहीं बनता, किन्तु—

गुणान्तरापत्त्युपमर्द ह्रासवृद्धि लेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५५ ॥

गुण का बदलना, और का और हो जाना, छोटा होना, बड़ा होना, थोड़ा रह जाना, और बढ़ जाना, इन हेतुओं से विकार बन सकने से वर्णविकार होता है।

भाष्य–(अभिप्राय यह है, कि परिणाम की रीति पर वा कार्य कारणभाव की रीति पर तो वर्णविकार नहीं बन सकता, किन्तु)

स्थानी आदेश भाव से एक के अप्रयोग में दूसरे का प्रयोग जो है, यह विकार शब्द का अर्थ यहां बन जाता है। इसके ये भेद हैं, (१) गुण का बदल जाना, जैसे उदात्त के स्थान अनुदात्त इत्यादि (२) और का और हो जाना, एक रूप की निवृत्ति हो कर रूपान्तर का हो जाना, जैसे (अस्ति के स्थान भू) । (३) छोटा होना, दीर्घ के स्थान ह्रस्व (४) बड़ा होना,-ह्रस्व के स्थान दीर्घ, वा उन दोनों के स्थान प्लुत (५) छोटा होना, जैसे 'स्तः' यह 'अस्' का रूप है (६) बड़ा होना, आगम, जो प्रकृति वा प्रत्यय को होता है (जैसे अभवत्, देवानाम्) ये भेद विकार हैं, यही आदेश हैं, ये यदि (इस प्रकार) विकार बन सकते हैं, तो वर्णविकार हैं, (परिणाम वा कार्यकारण भाव से नहीं)।

शब्द शक्ति परीक्षा प्रकरण (५६—६६)

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ५६ ॥

वे (वर्ण) जिन के अन्त विभक्ति है, पद होते हैं।

भाष्य—जहां जैसा देखने में आता है, इस प्रकार विकृत हुए ये वर्ण, विभक्त्यन्त हुए पद संज्ञा वाले होते हैं। विभक्ति दो प्रकार की होती है-नामिकी और आख्यातिकी । 'ब्राह्मणःपचति' यह उदाहरण है। (यदि विभक्त्यन्त पद हैं) अच्छा तो उपसर्ग और निपात पदसंज्ञक नहीं, उन के लिए और लक्षण कहना चाहिए। (उत्तर) उन की पदसंज्ञा के लिए नामिकी विभक्ति का अव्यय से परे लोप बतलाया गया है (उन से विभक्ति लोप का) पद से अर्थ की प्रतीति होती है, यह प्रयोजन है।

अवतरणिका—नाम पद का अधिकार करके अर्थ की परीक्षा (करते हैं) 'गौः' यह पद उदाहरण है—

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशयः ॥ ५७ ॥

(शब्द) व्यक्ति, आकृति और जाति की सन्निधि में बोला जाता है, इस लिए उस के अर्थ में संशय है (कि इन में से कौन अर्थ है)।

भाष्य—सन्निधि का अर्थ है अलग न हो कर रहना। अलग न हो कर रहने वाले व्यक्ति, आकृति और जाति में 'गौ' यह पद बोला जाता है। वहां यह ज्ञात नहीं होता है, कि क्या इन में से कोई एक पदार्थ (पद का अर्थ) है, अथवा सब हैं।

अवतरणिका—(व्यक्तिवादी-) शब्द के प्रयोग के सामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय होता है, इस हेतु से—

याशब्द समूह त्यागपरिग्रह संख्या वृद्ध्यप चयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥ ५८ ॥

या शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास, और अनुबन्ध इन सब का व्यक्ति में प्रयोग होने से व्यक्ति है (पदार्थ)

भाष्य—व्यक्ति पदार्थ है। क्योंकि या शब्द आदि का व्यक्ति में प्रयोग होता है। उपचार का अर्थ प्रयोग है। (१-या शब्द) 'जो गौ खड़ी है, जो गौ बैठी है'। यह वाक्य (-एक गौ को दूसरी गौओं से निखेरने वाला वाक्य) सब गौओं में (जाति के) अभिन्न होने से जाति का वाचक नहीं, किन्तु भिन्न होने से द्रव्य [व्यक्ति) का वाचक है। [२-] इसी प्रकार 'गौओं का समूह' यहां भेद बतलाने से द्रव्य का कथन है, जाति का नहीं, क्योंकि वह तो भेदरहित है, [३] 'वैद्य को गौ देता है' यहां त्याग द्रव्य का होता है, न कि जाति का, क्योंकि वह अमूर्त होती है। [४] परिग्रह-अपना होने का सम्बन्ध, जैसे 'कौण्डिण्य की गौ, ब्राह्मण की गौ' यहां द्रव्य का

कथन हो, तो द्रव्य के भिन्न होने से सम्बन्ध का भेद हो सकता है, पर जाति सब में एक है [५] संख्या-जैसे 'दस गौएं, बीस गौएं' यहां द्रव्य जो भिन्न है, वह गिना जाता है, जाति नहीं, क्योंकि वह अभिन्न है [६] वृद्धि--कारण वाले द्रव्य के अवयवों का बढ़ना, जैसे 'गौ बड़ी हो गई है' जाति निरवयव है [उस में बढ़ना नहीं बनता] [७] इस से [बढ़ने से] अपचय=घटना भी व्याख्या किया गया [८] वर्ण-जैसे 'शुक्ल गौ, कपिलागौ' द्रव्य में गुण का सम्बन्ध होता है, जाति में नहीं। [९] समास-जैसे 'गौओं के लिए हितकर है। गौओं के लिए सुख कर है' द्रव्य को सुख आदि का योग होता है, जाति को नहीं [१०] अनुबन्ध=अपने जैसी उत्पत्ति का सिलसिला जैसे 'गौ गौ को उत्पन्न करती है,' यह बात उत्पत्ति धर्म वाला होने से द्रव्य में बन सकती है, जाति में नहीं, क्योंकि वह इस से उल्टा है [उत्पत्ति धर्म वाली नहीं] द्रव्य और व्यक्ति एकार्थक है।

अवतरणिका—इस का प्रतिषेध—

न तदनवस्थानात् ॥ ५९ ॥

नहीं, उस में [व्यक्ति में] [या शब्द आदि की] स्थिति न होने से।

भाष्य—व्यक्ति पदार्थ नहीं, क्योंकि [निरी व्यक्ति में पदार्थ की] स्थिति नहीं है। या शब्द आदि से जो दूसरों से भिन्न किया गया है, वह गो शब्द का अर्थ है 'जो गौ खड़ी है, जो गौ बैठी है' यहां सामान्य व्यक्तिमात्र जाति के बिना नहीं कही जाती, किन्तु [गोत्व] जाति से विशिष्ट [व्यक्ति कही जाती है] इसलिए निरा व्यक्ति पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार समूह आदि के विषय में जानना चाहिये।

अवतरणिका—[प्रश्न] यदि व्यक्ति पदार्थ नहीं, तो कैसे

व्यक्ति में प्रयोग होता है [उत्तर] कारण वश वह न होने पर भी उस का प्रयोग देखा जाता है, जैसे—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।६०

सहचार, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग साधन और आधिपत्य इन निमित्तों से ब्राह्मण, मञ्च, कट, राजा, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न और पुरुष इन शब्दों में न वह होने पर भी उस का प्रयोग होता है।

भाष्य—न वह होने पर भी उस का प्रयोग होता है अर्थात् न उस शब्द वाले [अर्थ] का उस शब्द से कथन होता है। [१] सहचार से—जैसे 'यष्टिकां भोजय=लाठी को भोजन करा' यहां लाठी का सहचारी [साथ घूमने वाला] जो ब्राह्मण है, वह कहा गया है [२] स्थान से—जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति=मचान पुकारते हैं' [यहां मचान शब्द से] मचानों पर स्थित जो पुरुष हैं, वे कहे गये हैं [३] तादर्थ्य [उस के लिए होना] से—जैसे चटाई के लिए जो वीरण हैं, उन को जब [चटाई के रूप में] रचा जा रहा हो, तो कहा जाता है 'कटं करोति=चटाई बना रहा है' [४] वृत्त से [वर्ताव से] जैसे 'यमो राजा, कुबेरो राजा=यह राजा यम है, कुबेर है' अर्थात् उन की नाईं बर्तता है [पूरा न्यायकारी है इस वर्ताव से यम कहा है और प्रजा को धन से भरपूर कर रहा है, इस से कुबेर कहा है] [५] मान से, जैसे आढक से मिने हुए सत्तू 'आढकसक्तवः=सत्तू एक आढक हैं' [कहा जाता है] [६] धारण से, जैसे तुला में रक्खा हुआ चन्दन तुला चन्दन [कहा जाता] है

[६] समीपता से, जैसे गङ्गायां गावश्चरन्ति=गङ्गा पर गौएं चरती हैं ' यहां समीप का देश [गङ्गा शब्द से] कहा गया है [७] योग से, जैसे काले रंग से युक्त शाटक [धोती] कृष्णा=काली कही जाती है, [८] साधन से, जैसे ' अन्नं प्राणाः=अन्न प्राण हैं ' [प्राण का साधन हैं] [९] आधिपत्य=अधिष्ठाता होने से, जैसे ' अयं पुरुषः कुलम् ' अयं गोत्रम्=यह पुरुष कुल है, यह गोत्र है [कुल वा गोत्र का अधिष्ठाता है]। वहां [जो गौ खड़ी है इत्यादि वाक्य में] सहचार से वा योग से जाति शब्द व्यक्ति में प्रयुक्त होता है।

अवतरणिका—अच्छा तो यदि 'गौ' इस पद का व्यक्ति अर्थ नहीं। हो तब—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ६१

आकृति [पदार्थ], क्योंकि द्रव्यों की व्यवस्था [अलग २ पहचान] की सिद्धि उस की [आकृति की] अपेक्षा से होती है।

भाष्य—आकृति पदार्थ है। कैसे ? क्योंकि उस की अपेक्षा से द्रव्यों की व्यवस्था सिद्ध होती है । द्रव्य [गौ आदि] के जो अवयव हैं [धड़ पांव आदि] और उन अवयवों के जो अवयव हैं [नाभि, अंगुली आदि] उन की नियत रचना का नाम आकृति है। उस [आकृति] के ग्रहण होने पर द्रव्य की व्यवस्था की सिद्धि होती है कि यह गौ है, यह घोड़ा है। न ग्रहण होने पर नहीं। सो जिस के ग्रहण से द्रव्यों की व्यवस्था सिद्ध होती है, उस को शब्द कहने योग्य है, वह इस का अर्थ बनता है [इस का खण्डन भी वहीं बन जाता है ' न तदनवस्थानात् ' इस से भाष्यकार कहते हैं] यह नहीं बन सकता है, जिस का जाति के साथ योग है, वह जाति-विशिष्ट हुआ यहां गौ शब्द से कहा जाता है। और अवयव रचना का जाति के साथ योग नहीं, तब किस का है ? नियत अवयव

रचना वाला जो द्रव्य है, उस का है (आकृति का नहीं), इस लिए आकृति पदार्थ नहीं । हो तब जाति पदार्थ—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६२ ॥

व्यक्ति आकृति से युक्त भी जो मट्टी की गौ है, उस में प्रोक्षण आदि की प्राप्ति नहीं होती, इस लिए जाति (पदार्थ है)

भाष्य—जाति पदार्थ है, क्योंकि (गौ की) व्यक्ति और आकृति से युक्त भी जो मट्टी की गौ है, उस में (शास्त्रविहित) प्रोक्षण आदि की प्राप्ति नहीं होती । 'गौ को प्रोक्षण कर, गौ ला, गौ दे' ये काम मट्टी की गौ में नहीं किये जाते, क्योंकि उस में (गोत्व) जाति का अभाव है । है वहां (गौ की) व्यक्ति, और है वहां (गौ की) आकृति । अब जिस के अभाव से वहां (अर्थ की) प्रतीति नहीं होती, वह पदार्थ होना चाहिए (अर्थात् जाति)।

नाकृति व्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः

नहीं, क्योंकि जाति की अभिव्यक्ति आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से होती है ।

भाष्य—जाति की अभिव्यक्ति (पता लगना) आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा रखता है । आकृति और व्यक्ति के ग्रहण किये बिना निरी जातिमात्र कभी ज्ञात नहीं होती, इस लिए जाति पदार्थ नहीं । यह भी नहीं हो सकता, कि पदार्थ कोई हो ही न, तब पदार्थ क्या है ?

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६४ ॥

व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों मिल कर पदार्थ है ।

भाष्य—तु शब्द विशेष बतलाने के लिए है। क्या विशेष बतलाया है? प्रधान और अङ्ग होकर आनियम से पदार्थ होना। जब (व्यक्तियों के) भेद की विवक्षा हो, और विशेष का ज्ञान हो, तब तो व्यक्ति प्रधान होती है, और जाति और आकृति अङ्ग होते हैं (जैसे जो गौ खड़ी है इत्यादि में)। और जब भेद अविवक्षित हो, और सामान्य का ज्ञान हो, तब जाति प्रधान होती है, और व्यक्ति और आकृति अंग होते हैं (जैसे इस वर्ष बहुत धान हुआ है)। ये दोनों प्रकार का (प्रधान अंगभाव) बहुधा प्रयोगों में पाया जाता है। आकृति की प्रधानता ढूंढनी चाहिये*।

अवतरणिका—(प्रश्न) अच्छा तो कैसे जाना जाता है, कि व्यक्ति आकृति और जाति तीनों अलग २ हैं (उत्तर) लक्षणों के भेद से। उन में से पहले—

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयोमूर्तिः ॥ ६५ ॥

गुण विशेषों का आश्रय जो मूर्ति (परिच्छिन्न द्रव्य) है, वह व्यक्ति है।

भाष्य—जो व्यक्त है, वह व्यक्ति है, अर्थात् जो (द्रव्य) इन्द्रिय ग्राह्य है। हर एक द्रव्य व्यक्ति नहीं किन्तु गुण विशेष जो हैं अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व, संस्कार और परिच्छिन्न परिमाण, इन का जो यथा सम्भव आश्रय है, वह द्रव्य मूर्ति है, क्योंकि उस के अवयव परस्पर संयुक्त होते हैं।

आकृतिर्जातिलिंगाख्या ॥ ६६ ॥

आकृति वह है, जो जाति और (जाति के) लिङ्गों की ज्ञापिका है।

---

* 'पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्ताम्' = पीठी की गौएं बनाई जाएं यहां आकृति की प्रधानता है (न्याय वार्तिक)

भाष्य—जिससे (गोत्व आदि) जाति, और जातिके लिङ्ग (मुख आदि अवयव पहचाने जातेहैं, उसको आकृति जाने। और वह द्रव्यके अवयवों और उनके अवयवोंकी जोनियत रचनाहै, उससे कोई अलग वस्तुनहीं। द्रव्यों के अवयव (शिर आदि) जो नियत अवयव रचना वाले हैं, वे जाति का लिङ्ग होते हैं, जैसे सिर से पाओं से गौ का अनुमान करते हैं। द्रव्य के अवयवोंकी नियत रचना के होतेहुए गोत्व की प्रतीति होतीहै। औरजहां जातिकी व्यञ्जक आकृति नहीं होती जैसे मट्टी, सोना, चांदी इत्यादि, उन में आकृति निवृत्त हो जाती है, * पदार्थ नहीं होता (अर्थात् वहां जाति और व्यक्ति ही पदार्थ होते हैं आकृति पदार्थ नहीं होती)।

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ६७ ॥

(भिन्नों में) समान बुद्धि के उत्पन्न करने वाली जाति है।

भाष्य—जो भिन्न २ व्यक्तियों में समान बुद्धि को उत्पन्न करती है (जैसे यह गौ है, वह गौ है, ऐसी समान बुद्धि)। जिस से अनेक आपस में एक दूसरे से अलग नहीं होते (अर्थात् एक ही नाम से बोले जाते हैं) जो अर्थ अनेकों में एकाकार प्रतीति का निमित्त है, वह सामान्य है, और जो किसी से भेद और किसी से अभेद कराती है, वह सामान्य विशेष जाति है (जाति के दो भेद हैं, सामान्य और सामान्यविशेष। पशु जाति सामान्य है, जो गौ घोड़े आदि भिन्न जाति वालों की व्यापक जाति है। गौ आदि सामान्य-विशेष जाति हैः क्योंकि गौ प्रतीति सारी गौओं में एक जैसी होती है पर घोड़े से यह प्रतीति निवृत्त हो जाती है।

इति वात्स्यायनीय न्यायभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः

---

* आकृति के विषय में यह नियम है, कि वह सदा जाति की व्यञ्जक होती है, जाति के विषय में यह नियम नहीं, कि हरएक जाति आकृति से ही जानी जाती है, क्योंकि सोने चांदी के आकार में कोई भेद न होने पर भी रंग आदि से जाति का भेद ज्ञात होता है।

अध्याय ३ आह्निक १

१ म प्रकरण—आत्मा इन्द्रियों से अलग है,

परीक्षा कियेगएप्रमाण,अब प्रमेय की परीक्षा करतेहैं,और वह है आत्मा आदि, इसलिए आत्मा की विवेचना की जाती है,कि देह, इन्द्रिय,बुद्धि और वेदना का संघातमात्र है आत्मा, अथवा उन से अलग है। (प्रश्न) संशय क्यों हुआ? (उत्तर) क्योंकि व्यपदेश (कहने का ढंग) दोनों प्रकार से बन जाता है, व्यपदेश का अर्थ है क्रिया और करण का कर्ता के साथ सम्बन्ध का बतलाना। वह दो प्रकार का है। एक तो अवयव के साथ समुदाय का (व्यपदेश) जैसे 'जड़ों से वृक्ष खड़ा रहता है' खम्भों से मन्दिर थमा रहता है। दूसरा—अन्य के साथ अन्य का व्यपदेश होता है, जैसे 'कुल्हाड़े से काटता है, दीपक से देखता है'। अब यह व्यपदेश जो है कि 'नेत्र से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से विचारता है, शरीर से सुख दुःख अनुभव करता है। यहां यह निश्चित नहीं होता, कि अवयव (नेत्र आदि) से समुदाय जो देह आदि का संघात है, उस का व्यपदेश है' अथवा अन्य से अन्य का अर्थात् उन (देह आदि) से अलग का। (निर्णय) अन्य से यह अन्य का व्यपदेश है। कैसे?

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

देखने और छूने से एक अर्थ के ग्रहण से।

भाष्य—देखने से कोई अर्थ ग्रहण किया है, फिर छूने से भी वही अर्थ ग्रहण किया जाता है। कि 'जिस को मैंने नेत्र से देखा है, उसी को त्वचा से छूता हूं।वा जिस को त्वचा से छुआ है,उसी को नेत्र से देखता हूं'। एक (अर्थ) को विषय करने वाली ये जो दो प्रतीतियें हैं, इन का प्रतिसन्धान तब हो सकता है, जब दोनों

प्रतीतियों का कर्ता (इन दोनों इन्द्रियों से अलग कोई) एक हो। और वह एक कर्ता न संघात हो सकता है, न ही कोई इन्द्रिय हो सकता है। सो वह, जो कि नेत्र से और त्वचा से एक अर्थ का ग्रहण करने वाला, (नेत्र और त्वचा रूपी-) भिन्न विमित्त वाली, एक विषय वाली, अतएव अभिन्न कर्ता वाली दो प्रतीतियों को मिला ता है, वह अलग आत्मा है। (प्रश्न) अच्छा इन दोनों प्रतीतियों का वह एक कर्ता इन्द्रिय ही क्यों नहीं (उत्तर) इन्द्रिय (हर एक) अपने २ विषय का ग्राहक होता है, दूसरा इन्द्रिय दूसरे के विषय का ग्राहक नहीं होता, इस लिए वह ऐसी भिन्न प्रतीतियों की योग्यता नहीं रखता, जिन का कर्ता अभिन्न हो (अर्थात् त्वचा जब छू ही सकती है, तो वह देखने का स्मरण नहीं कर सकती, इस लिए त्वचा यह निश्चय नहीं करा सकती, कि यह वही वस्तु है, जिस को मैंने देखा था, क्योंकि त्वचा ने कभी देखा ही नहीं। इत्यादि)। (प्रश्न) अच्छा तो वह (दो प्रतीतियों का) कर्ता संघात ही क्यों न हो (उत्तर) ऐसी दो प्रतीतियें, जिन के निमित्त भिन्न हैं, और हैं मिली हुई, उन का जानने वाला कोई एक है जो स्मृति पूर्वक उन दो प्रतीतियों को मिला देता है, संघात नहीं, क्योंकि संघात में भी यह दोष हटा नहीं, कि एक के ग्रहण किये विषय का दूसरे को प्रतिसन्धान नहीं होता, जैसे (एक इन्द्रिय के विषय का) दूसरे इन्द्रिय से

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

नहीं, विषय की व्यवस्था से।

भाष्य—(पूर्वपक्षी) देहादि संघात से अलग कोई चेतन नहीं। क्यों? इस लिए, कि विषयों की व्यवस्था है। इन्द्रियोंके विषय अपने २ नियत हैं। नेत्र न हो, तो रूप का ग्रहण नहीं होता, हो, तो होता है। जो जिस के न होते नहीं होता, और होते हुए होता है,

यह उस का है; ऐसे जाना जाता है। इसलिए रूप का ग्रहण नेत्र का (धर्म) है । नेत्र रूप को देखता है । इसी प्रकार घ्राण आदि के विषय में भी (जानना) । सो ये इन्द्रिय अपने २ विषय के ग्रहण से चेतन हैं, क्योंकि इन्द्रियों के होने और न होने में विषयग्रहण का होना और न होना होता है। ऐसी अवस्था में अन्य चेतन से क्या प्रयोजन है ? (इस के खण्डन में सिद्धान्त भाष्य) 'संदिग्ध होने से यह असद्धेतु है' अर्थात् यह जो इन्द्रियों के होने और न होने में विषयग्रहण का होना न होना है, यह क्या इस लिए है, कि इन्द्रिय चेतन हैं, वा इसलिए, कि चेतन के साधन हैं, क्योंकि ग्रहण का निमित्त हैं (जैसे दीपक-) यह संदेह होता है। इन्द्रिय (स्वयं चेतन न हो कर) यदि चेतन के उपकरण हों, तो भी यह बात उनके होने न होने में विषय ग्रहण का होना न होना) होनी ही चाहिये, क्योंकि वे ग्रहण का निमित्त जो हैं। और जो कहा है ' विषय की व्यवस्था से '-

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ।३।

उन (विषयों) की व्यवस्था से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इस लिए (पूर्वसूत्रोक्त) प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—यदि कोई एक इन्द्रिय अनियत विषयों वाला, सबका जानने वाला सब विषयों का ग्रहण करने वाला चेतन होता, तो फिर कौन उस से अलग चेतन का अनुमान कर सकता। पर जिस लिए इन्द्रिय, अपने २ नियत विषयों वाले हैं इस से उन से अलग चेतन, सब का जानने वाला, सब विषयों का ग्राहक, विषयों की व्यवस्था को उलांघ कर सबका ग्रहण करनेवाला अनुमान किया जाता है। और इस विषय में इस से इन्कार हो ही नहीं सकता, कि यह प्रत्यभिज्ञा चेतन का धर्म है। कि जैसे किसी वस्तु के रूप को देख कर उस में पूर्वानुभूत रस वा गन्ध का अनुमान करता है, और गन्ध को

जान कर रूप रस का अनुमान करता है। इसी प्रकार दूसरे विषयों में भी जानना। रूप को देख कर गन्ध को सूंघता है, गन्ध को सूंघ कर रूप को देखता है। सो इस प्रकार (रूप से रस, वा रस से रूप का अनुमान इत्यादि) अनियत क्रम वाला, सब विषयों का ग्रहण, एक आधार वाला और एक कर्ता वाला इस के पूर्वापर को मिलाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, और संशय इन नाना विषयक प्रतीतियों को अपनी की हुई जान कर मिलाता है, और मिला कर तत्त्व को जानता है। सब विषयों वाले शास्त्र को सुन कर अर्थ को, जो श्रोत्र का विषय नहीं, जान लेता है। क्रम से होने वाले वर्णों को सुन कर, उन के पदों और वाक्यों का मिलान कर, शब्द अर्थ की व्यवस्था को जानता हुआ अनेक विषय वाले अर्थ-समुदाय को जो एक २ इन्द्रिय से ग्रहण किया जाने को अशक्य है ग्रहण करता है। सो यह व्यवस्था जो कि सब विषयों के एक ही ज्ञाता के होते हुए हो सकती है, यह सविस्तर नहीं कही जासकती। नमूना मात्र उदाहृत की है। ऐसी अवस्था में जो यह कहा है, कि इन्द्रियों की चेतनता के होते हुए और चेतन से क्या प्रयोजन? यह अयुक्त है।

(२ य प्रकरण-शरीर से अलग है आत्मा)

अवतरणिका—इस हेतु से आत्मा देहादि से अलग है, देहादि का संघातमात्र नहीं कि—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

शरीर के दाह में पातक के अभाव से।

भाष्य—* 'शरीर' शब्द से यहां शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और

* यह वक्ष्यमाण आक्षेप उन बौद्धों पर है, जो देहादि संघात को आत्मा मान कर, कर्म फल, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानते हैं।

वेदना का संघात, जो प्राणीभूत है, वह ग्रहण किया जाता है। प्राणीभूत जो शरीर है, उस का दाह करने वाले को, (पातक का अभाव होगा) प्राणी की हिंसा से उत्पन्न हुआ पाप पातक कहलाता है, उस का अभाव (इस प्रकार) होगा, कि कर्ता का तो उसके फल से सम्बन्ध नहीं होगा, और जो कर्ता नहीं, उस का सम्बन्ध होगा। क्योंकि शरीर इन्द्रिय बुद्धि और वेदना के प्रवाह पक्ष में जो संघात (आगे जाकर) उत्पन्न होता है, वह और है, और जो बन्द होता है, वह और है। उत्पत्ति विनाश का सन्तानरूप जो प्रवाह है, वह भेद को बाधता नहीं है, क्योंकि देहादि का संघात भेद का आश्रय है (देह आदि संघात सदा भिन्न २ होता रहता है) वह भेद का आधार निःसन्देह है। ऐसी अवस्था में जो देहादि का संघात प्राणी रूप हुआ दूसरे की हिंसा करता है, वह हिंसा के फल से सम्बद्ध नहीं होता, और जो सम्बद्ध होता है, उसने हिंसा की नहीं। सो इसप्रकार प्राणी का भेदमानने में कृतहानऔर अकृताभ्यागम (किये कर्म का फल न मिलना और न किये का मिलना) दोष आता है। जब प्राणी की उत्पत्ति और प्राणी का विनाश माना, तो प्राणियों की सृष्टि में कर्म निमित्त न हुए, तब मुक्ति के लिए ब्रह्मचर्यवास भी न हो। सो यदि देहादि संघात मात्र जीव हो, तो शरीर के दाह में पातक न हो, और यह इष्ट है नहीं। इस लिए देहादि संघात से भिन्न है आत्मा, जो नित्य है।

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

सात्मक (देह) के दाह में भी उस का (पातक का) अभाव होगा, क्योंकि वह (आत्मा) नित्य है।

केवल देहात्मवादी के लिए यह आक्षेप निष्प्रयोजन है, क्योंकि उन के मत में पाप पुण्य कोई है ही नहीं।

भाष्य–जिस के मत में नित्य आत्मा से सात्मक शरीर दग्ध होता है उसके मत में भी, शरीर के दाह में दाह करने वाले को पाप नहीं होगा। क्यों? इसलिए, कि आत्मा नित्य है। नित्य को कभी कोई मार सकता ही नहीं, और यदि मारा जाता है, तब इसकी नित्यता नहीं हो सकती । सो यह एक पक्ष में तो हिंसा निष्फल है, दूसरे पक्ष में बन ही नहीं सकती। (उत्तर–)

न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

नहीं, क्योंकि कार्य (=भोग) के आयतन (शरीर) और (विषय ज्ञान के कर्ता) इन्द्रियों का वध (हिंसा है)।

भाष्य—हम यह नहीं कहते, कि नित्य आत्मा का वध हिंसा है, अपितु, अविनाशी आत्मा के भोग का आश्रय जो शरीर है, उस का, और अपने २ विषयों के कर्ता इन्द्रिय जो हैं, उन का बध हिंसा है। बध है चोट देना, पीड़ा देना, विकल हो जाना, सिलसिले का टूटना वा नाश। कार्य है, सुख दुःख का अनुभव, उस का आश्रय-आयतन=अधिष्ठान शरीर है, सो कार्य का आश्रय जो शरीर, और अपने २ विषयों की उपलब्धि के कर्ता जो इन्द्रिय हैं, उन का बध हिंसा है, न कि नित्य आत्मा का। तब जो यह कहा है 'तद्भावः सात्मकप्रदाहेपि तन्नित्यत्वात्' (५) यह अयुक्त है। और जिस के पक्ष में जीव का नाश हिंसा है, उस के पक्ष में कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आता है। इतना ही हो सकता है, कि या तो जीव का नाश हिंसा हो, अथवा अविनाशी आत्मा के शरीर और इन्द्रियों के बध का नाम हिंसा हो, और कोई प्रकार नहीं हो सकता है। सो इन में से जीव का नाश तो प्रतिषिद्ध है, तब जैसा कहा है, उस के बिना और क्या शेष रहा।

अथवा 'कार्याश्रयकर्तृबधात्' अर्थात् कार्याश्रय है देह इन्द्रिय बुद्धि का संघात, उस में बैठ कर नित्य आत्मा सुख दुःख का अनु-

भव करता है, उस अनुभव का आश्रय=अधिष्ठान आयतन वह संघात है, वही कर्ता है, उस से भिन्न नहीं, क्योंकि उसी के कारण सुख दुःख के अनुभव की सिद्धि होती है, उस के बिना नहीं। उस (संघात) का वध चोट पीड़ा वा मारना हिंसा है, न कि नित्य आत्मा का नाश। अतएव जो कहा है 'तदभावः सात्मकप्रदाहेपि-तन्नित्यत्वात्' (५) यह ठीक नहीं।

अवतरणिका—इस से भी देहादि से अलग है आत्मा।

सव्यदृष्टस्येतरेणप्रत्यभिज्ञानात् ॥७॥

बाएं से देखे की दूसरे (दाएं) से प्रत्यभिज्ञा होती है।

भाष्य—पहले पिछले ज्ञानों का एक विषय में जो मेल का ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञा है। जैसे 'उसी को अब देख रहा हूं, जिस को पहले देखा है' अथवा 'यह वही अर्थ है'। बाएं नेत्र से देखे की दाएं नेत्र से प्रत्यभिज्ञा होती है, कि 'जिस को देखा था, उसी को अब देखता हूं'। इन्द्रियों के चेतन मानने में यह प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि दूसरे से देखे की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। और यह प्रत्यभिज्ञा तो होती है, इस से सिद्ध है, कि इन्द्रियों से अलग है चेतन (जिस को प्रत्यभिज्ञा होती है। इन्द्रिय चेतन होते, तो एक नेत्र से देखे की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा न होती) (इस पर आक्षेप—)

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ।८।

नहीं, क्योंकि नास की हड्डी के व्यवधान वाले एक ही (नेत्र) में दो होने का अभिमान है।

भाष्य—नेत्र एक है, जिस के मध्य में नास की हड्डी का व्यवधान है, उस (नेत्र) के दोनों सिरे (नास के दोनों ओर)

ग्रहण किये हुए दो होने का अभिमान बना देते हैं, जैसे लम्बे तालाव के मध्य में पुल का व्यवधान हो (तो दो अलग २ तालाब प्रतीत होते हैं) (इस का परिहार—)

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥९॥

एक के विनाश में दूसरे के विनाश न होने से एकत्व नहीं है

भाष्य—एक नेत्र मारा जाने वा उखाड़ दिया जाने पर दूसरा नेत्र विद्यमान रहता है, क्योंकि वह अपने विषय को ग्रहण करता है' इस से एक के मध्य में व्यवधान नहीं बनता।

अवयवनाशेप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥१०॥

यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि अवयव के नाश में भी अवयवी की उपलब्धि होती है।

भाष्य-(आक्षेप) 'एकविनाशे द्वितीयाविनाशात्' (९) यह हेतु ठीक नहीं। क्योंकि वृक्ष की कई शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष उपलब्ध होता ही है (परिहार—)

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

दृष्टान्त के विरोध से प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—कारणद्रव्य के विभाग में कार्यद्रव्य बना नहीं रहता, क्योंकि ऐसा मानने में नित्यता का प्रसंग आता है। बहुत से अवयवियों में से जिस के कारणद्रव्य अलग २ हो गए, उस का विनाश हो जाता है, जिन के कारणद्रव्य अलग २ नहीं हुए, वे बने रहते हैं।

अथवा दृष्टान्त विरोध का अर्थ है, दृश्यमान अर्थ का विरोध। मरे हुए के सिर के कपाल में दो गढ़े, नास की हड्डी से व्यवधान वाले, नेत्र के जो स्थान हैं, वे दोनों अलग २ गृहीत होते हैं, यह बात नासा की हड्डी से व्यवधान वाले एक में नहीं बन सकती॥

अथवा, एक के विनाश का नियम नहीं होगा (समुदाय में से एक के नाश में समुदाय नहीं रहेगा) पर ये दो अर्थ, जिन के परदे और नाश अलग २ हैं, एक दूसरे से भिन्न हैं। किञ्च-एक नेत्र के पीड़ने से नेत्र की रश्मियों का विषय के साथ सम्बन्ध दो तरह का हो जाता है (एक नेत्र की रश्मियों का एक प्रकार से, दूसरे का दूसरे प्रकार से) इस से वह दृश्य (हरएक नेत्र से) एक दूसरे से भिन्न सा प्रतीत होता है, यह बात [नेत्र के] एक होने में नहीं बनती। और पीड़ना बन्द करने में फिर अभिन्न प्रतिसन्धान होता है इस लिये एक को व्यवधान नहीं बन सकता । अनुमान से भी जाना जाता है, कि देहादि संघात से अलग है आत्मा—

इन्द्रियान्तर विकारात् ॥ १२ ॥

क्योंकि दूसरे इन्द्रिय में विकार होता है।

भाष्य—कोई खट्टा फल जो है, उस के रस के साथ रहने वाला जो रूप वा गन्ध है, उस का किसी इन्द्रिय से ज्ञान हो, तो उसी समय दूसरे इन्द्रिय (रसना) का विकार देखने में आता है। अर्थात् रस की स्मृति आ जाने पर रस की लालसा से लाल टपक पड़ती है। इन्द्रियों को चेतन मानने में इस बात की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य के देखे की अन्य को स्मृति नहीं होती। (इस पर आक्षेप—)

न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात् । १३ ।

नहीं, क्योंकि स्मृति स्मर्तव्य (वस्तु) के विषय में ही होती है।

भाष्य—स्मृति नाम एक धर्म है,जो अपने निमित्त (संस्कार) से उत्पन्न होता है, उसका विषय स्मर्तव्य अर्थ होता है, यह विकार उस (स्मृति) का उत्पन्न किया हुआ है, न कि आत्मा का (परिहार-)

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः । १४ ।

उस (स्मृति) को आत्मा का गुण होने से प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—आत्मा का गुण हो कर ही स्मृति का अस्तित्व होने से आत्मा का प्रतिषेध नहीं होसकता। यदि स्मृति आत्मा का गुण है, तब तो स्मृति बन जाती है, क्योंकि दूसरे के देखे को दूसरा नहीं स्मरण करता। और यदि इन्द्रियों को चेतन मानें, तो विषयज्ञान के कर्ता (इन्द्रिय) नाना हुए, उन को एक दूसरे के ज्ञान का प्रतिसन्धान नहीं हो सकता, और प्रतिसन्धान मानें, तो विषय की व्यवस्था (अपने २ नियत विषय के ही ग्राहक होना) नहीं बन सकती। अतएव भिन्न २ साधनों वाला अनेक अर्थों का द्रष्टा एक चेतन है, जो पूर्व दृष्ट अर्थ को स्मरण करता है। एक जो अनेक अर्थों का द्रष्टा है, उस आत्मा का गुण है स्मृति, इस लिए (स्मृति पूर्वक) दो ज्ञानों का प्रतिसन्धान (मेल) हो सकता है, इस से विपर्यय में नहीं हो सकता। स्मृति के आश्रय ही प्राणधारियों के सारे व्यवहार होते हैं। यह 'इन्द्रियान्तर विकार' जो आत्मा का लिङ्ग कहा है, उदाहरणमात्र है।

'अपरिसंख्यानाच्चस्मृतिविषयस्य' * स्मृति के विषय को पूरा न समझने से। अर्थात् स्मृति के विषय को पूरी तरह न जानकर यह कहा है, 'न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' यह जो स्मृति अगृह्यमाण

---

* 'अपरि...स्य' यह मुद्रित पुस्तक में सूत्रत्वेन मुद्रित हुआ है। पर यह सूत्र नहीं, भाष्य है। न्यायसूचीनिबन्ध, वार्तिक, तात्पर्य टीका और न्यायतत्त्वालोक इन में कहीं भी इस को सूत्र नहीं माना। विश्वनाथ पञ्चानन ने भी इस के सूत्र होने का सन्देह इस प्रकार दिखलाया है 'इदं न सूत्रंकिन्तु भाष्यमितिकेचित्'।

अर्थ (उस समय अनुभव न होते हुए) के विषय में होती है। कि 'मैंने उस अर्थ को जाना था' यह स्मृति ज्ञाता और ज्ञान से विशिष्ट पूर्व जाने अर्थ को विषय‡ करती है, निरा अर्थ मात्र को नहीं। 'उस अर्थ को मैंने जाना था' 'मैं उस अर्थ को जान चुका हूं' 'वह अर्थ मेरा जाना हुआ है' 'उस अर्थ में मुझे ज्ञान हो चुका है' यह चार प्रकार का वाक्य स्मृति के विषय का बोधक समान अर्थ वाला है । सब में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय पाया जाता है,§ अब जो प्रत्यक्ष अर्थ में स्मृति होती है, उस से (वक्ष्यमाण) तीन ज्ञानों का एक अर्थ में प्रतिसन्धान पाया जाता है, अतएव वे समान कर्ता वाले हैं, न तो ये ज्ञान अलग २ कर्ता वाले हो सकते हैं, न बिना कर्ता के हो सकते हैं, किन्तु एक कर्ता वाले हो सकते हैं। 'उसी अर्थ को मैंने पहले देखा था, जिस को अब देख रहा हूं' यहां मैंने देखा था' इस से (एक ज्ञान) देखना, (दूसरा) देखने का अनुभव (ये दो ज्ञान पाये जाते हैं)

---

† स्मृति का विषय दो प्रकार का है गृह्यमाण और अगृह्यमाण। गृह्यमाण वह है, जो स्मृति के साथ अनुभव हो रहा है, जैसे 'यह वह देवदत्त है' यहां 'यह' प्रत्यक्ष अनुभव का और 'वह' स्मृति का द्योतक है। और अगृह्यमाण वह है, जो निरी स्मृति हो।

‡ अर्थात् इस स्मृति का विषय पूर्वानुभूत अर्थमात्र नहीं, किन्तु 'मैंने जानाथा' इन दो वचनों से ज्ञाता और ज्ञान भी विषय हो रहा है। इस लिए स्मृति स्मर्तव्य मात्र को विषय नहीं कराती, किन्तु ज्ञाता को भी विषय कराती है।

§ यूं तो चारों वाक्य ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय अर्थ इन तीनों के द्योतक हैं, तथापि प्रथम वाक्य में ज्ञानक्रिया प्रधान है, दूसरे में ज्ञाता प्रधान है, तीसरे में अर्थ प्रधान है, चौथे में ज्ञान अर्थ दोनों प्रधान हैं।

क्योंकि जबतक अपने देखने का अनुभव न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैंने देखा था'। सो ये दो ज्ञान हुए। और 'जिस को अब देख रहा हूं' यह तीसरा ज्ञान है। इस प्रकार एक अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त हुआ न बिना कर्ता के है, न अलग २ कर्ता वाला है, किन्तु एक कर्ता वाला है (अर्थात् तीनों ज्ञानों का कर्ता एक ही हो; तब यह प्रतिसन्धान हो सकता है, अन्यथा नहीं)। सो यह स्मृति का विषय पूरा न जान कर यूं ही एक विद्यमान प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिषेध किया है, कि 'आत्मा नहीं है, क्योंकि स्मृति का विषय स्मर्तव्य है'। (१३) क्योंकि न तो यह स्मृतिमात्र है (इस में प्रत्यक्ष अनुभव सम्मिलित है) और न ही स्मर्तव्यमात्र इस का विषय है (किन्तु ज्ञाता और ज्ञान भी हैं)। यह जो ज्ञानों का मिलाप है, यह (सूत्र में कहे) स्मृति के मिलापकी तरह इन सबको जाननेवाले एक का धर्म है। एक यहही ज्ञाता सब का जानने वाला सारे ज्ञानों का प्रतिसन्धान करताहै कि 'उस अर्थ को मैं जानूंगा, उस अर्थ को मैं जानता हूं, उस अर्थ को मैंने जाना था'। और जानना चाहता हुआ देर तक न जान कर पीछे निश्चय करता है कि 'जान लिया है'। इसी प्रकार तीनों कालों से युक्त और स्मरण की इच्छा से युक्त जो स्मृति है, उस का प्रतिसन्धान करता है। यदि संस्कारसन्तानमात्र (विज्ञान सन्तानमात्र) जीव हो, तो संस्कार तो उत्पन्न हो २ कर नष्ट होते रहते हैं, तब इस पक्ष मे कोई भी एक संस्कार ऐसा नहीं हो सकता, जो तीनों कालों से युक्त ज्ञान वा स्मृति का अनुभव करे। और (पहले पिछले) अनुभव के बिना, ज्ञान और स्मृति का 'मैं, मेरा' इस प्रकार का प्रतिसन्धान नहीं बन सकता है, जैसे कि दूसरे देह में। इस से अनुमान होता है, कि है एक सब के जानने वाला, जो हर एक देह में अपने २ ज्ञान के सन्तान और स्मृति के सन्तान का प्रतिसन्धान करता है,

जिस के काम का दूसरे शरीरों में अभाव होने से (वहां) प्रतिसन्धान नहीं होता है* ।

[प्रकरण ३ आत्मा मन से अलग है । सूत्र १५-१७]

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ।१५।

(आत्मा अलग कोई) नहीं, क्योंकि आत्मा के साधन के हेतु मन में घट जाते हैं ।

भाष्य-देहादि के संघात से अलग आत्मा नहीं है । क्यों ? इसलिये कि आत्मा के साधक हेतु मन में घट जाते हैं । 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (१) इत्यादि जो आत्मा के प्रतिपादक हेतु कहे हैं, वे मन में घटते हैं, क्योंकि मन सब को विषय करता है, इस लिए शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि के संघात से अलग कोई आत्मा नहीं है ।

(उत्तर—)

---

*पूर्व काल में ज्ञात हुए, वर्तमान काल में ज्ञात होते हुए, भविष्यत् में ज्ञात हो जाने वाले का एक दूसरे के साथ मिलान तभी होगा, जब ज्ञाता एक हो । दूसरों के जाने हुओं का मिलान दूसरा नहीं कर सकता, जब तक कि पुस्तकादि द्वारा वह भी उस का अनुभव का विषय न हो जाय । इसी प्रकार जानने की इच्छा से बहुत देर तक के प्रयत्न के अनन्तर जानना भी उतनी देर तक एक ही जानने वाले की तावत्काल स्थिति का द्योतक है । इसी प्रकार स्मृति भी तीनों कालों से सम्बन्ध रखनेवाली एक स्मर्ता की द्योतक है । देह से अलग आत्मा न मानने में तो यह बन सकता ही नहीं, किन्तु बौद्धों के संस्कारवाद में भी यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि उन के पक्ष में यद्यपि विज्ञान के संस्कारों का सन्तान (सिलसिला) कभी नहीं टूटता, तथापि विज्ञान जब बदलता रहता है, तो वही न रहने से ज्ञान वा स्मृति का प्रतिसन्धान उस से नहीं बन सकता ।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ।१६।

(मनको) ज्ञाता के ज्ञान का साधन बन जाने से नाम का भेदमात्र होगा।

भाष्य—ज्ञाता के ज्ञान के साधन युक्तियुक्त हैं। जैसे 'नेत्र से देखता है, घ्राण से सूंघता है, त्वचा से स्पर्श करता है'। इसी प्रकार सब विषयों के मन्ता का, सबको विषय करने वाला, मति का साधन अन्तःकरण भी है, जिस से यह मनन करता है। ऐसा होने में (जब मन्ता और मति साधन दो अलग २ हो गए तब) 'ज्ञाता' का 'आत्मा' यह नाम आपने न सहारा, और 'मन' नाम मान लिया, तथा मन का मन नाम न मान कर मतिसाधन मान लिया। यह तो एक नाम अलग रख लेनेका ही भेद बना। वस्तुमें कोई विवाद न हुआ। 'और यदि (मति के साधन का) प्रत्याख्यान (इन्कार) करो, तो सारे इन्द्रियों के लोप का प्रसंग होगा।' अर्थात् अब यदि सब के समझने वाले मन्ता के, सबको विषय करने वाले मतिके साधन का प्रात्याख्यान करते हो, कि 'नहीं है'। तब रूप आदि विषयों के ग्रहण के साधन भी नहीं हैं, तब सारे इन्द्रियों के विषयों का लोप आता है।

नियमश्च निरनुमानः ॥ १७॥

नियम बिना अनुमान के है।

भाष्य—यह जो नियम [तुमने] माना है, कि रूप आदि के ग्रहण के साधन तो इस (आत्मा) के हैं, पर सबको विषय करनेवाला मति साधन इसका कोई नहीं है। यह नियम बिना अनुमान के है, इस विषय में कोई अनुमान नहीं है, जिस से हम नियम को स्वीकार करें॥

दूसरा—रूपादि से अलग एक विषय हैं सुख आदि, उनकी

उपलब्धि में भी किसी और साधनका होना आवश्यकहै। जैसे नेत्र से गन्ध नहीं ग्रहण कियाजाता, इसलिए एक और साधन घ्राण माना जाता है, इसी प्रकार नेत्र और घ्राण दोनों से रस गृहीत नहीं होता, इस लिए एक और साधन रसना माना जाता है, इसी प्रकार शेष [इन्द्रियों] के विषय में जानना । तथा नेत्र आदि [पांचों बाह्य इन्द्रियों]से सुख आदि गृहीत नहीं होते, सो इनके लिए एक औरभी साधन होना चाहिये। उस साधन का लिङ्ग है [रूप गन्ध आदि] ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न न होना । जो सुख आदि की उपलब्धि में साधन है, उस का लिङ्ग है ज्ञानों का एक साथ न होना । उस का एक इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष और (उसी काल में) दूसरे के साथ असन्निकर्ष से एक साथ नाना ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। सो यह जो कहा है 'नात्मप्रतिपत्ति हेतूनां मनसि सम्भवात्' यह अयुक्त है।

(प्रकरण४—आत्मा नित्य है । १८—२६)

अवतरणिका—अच्छा, तो यह जो देहादिसंघात से अलग है, यह क्या नित्य है, कि अनित्य है । संशय कैसे हुआ ? क्योंकि दोनों प्रकार से देखने में आता है, इस से संशय है। विद्यमान वस्तु दोनों प्रकार से होतीहै, नित्य वा अनित्य। सो आत्माकी विद्यमानता प्रतिपादन करने पर यह संशय नहीं मिटा । (उत्तर) आत्मा के साधक हेतुओं से ही देह के बदलते रहने से इस आत्मा का टिका रहना तो सिद्ध हो चुका है, अब यह कहते हैं, कि देह के नाश के अनन्तर भी टिका रहता है, कैसे (उत्तर—)

पूर्वाभ्यस्त स्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक संप्रतिपत्तेः । १८ ।

उत्पन्न हुए (बालक) को पूर्व अभ्यास किये (विषयों की) स्मृति के संस्कारों से हर्ष भय शोक की प्राप्ति से (आत्मा नित्य है)।

भाष्य—उत्पन्न हुआ यह छोटा बच्चा, इस जन्म में हर्ष भय और शोक के कारणों को ग्रहण किये बिना ही हर्ष भय और शोक को अनुभव करता है, जो कि (रोना हंसना कांपना आदि) लिङ्गों से अनुमान किये जाते हैं। ये स्मृति के संस्कारों से उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। और स्मृति के संस्कार पहले अभ्यास के बिना नहीं होते। और (जात मात्र बच्चे को) पहले अभ्यास पूर्व जन्म के होते हुए होता है अन्यथा नहीं, इस से यह सिद्ध होता है, कि यह (आत्मा) शरीर नाश के पीछे भी टिका रहता है (तभी अगले जन्म में उस को जन्मते ही हर्ष भय शोक अनुभव होते हैं)।

पद्मादिषुप्रबोध संमीलनविकारवत् तद्विकारः ।१९

पद्म आदियों में खिलने और बंद होने के विकार की नाईं उस का विकार होता है।

भाष्य—(आक्षेप–) पद्म आदि अनित्य द्रव्यों में जैसे खिलना और मिचना ये विकार होते हैं, इसी प्रकार आत्मा अनित्य भी हो, तो उस के भी हर्ष भय शोक की प्राप्ति रूपी विकार होंगे।

(आक्षेप का परिहार–) 'हेतु के अभाव से अयुक्त है' अर्थात् यह हेतु है, कि जिस से पद्म आदियों में खिलने और मिचने के विकार की नाईं अनित्य आत्मा को हर्षादि की प्राप्ति होती है'। इस प्रकार यहां न तो उदाहरणके साधर्म्य से साध्यसाधन हेतु कोई दियाहै, न वैधर्म्य से। सो हेतु के अभाव से यह असम्बद्ध अर्थ वाला अपार्थक निग्रहस्थान (५।२।१०) ठहरता है। 'दृष्टान्त से हर्ष आदि के निमित्तकी निवृत्ति नहीं होगई'। अर्थात (यौवनमें) यह जो अभ्यस्त विषयों में हर्षादि का अनुभव स्मृति के संस्कारों से होता हुआ हर एक आत्मा में ग्रहण किया जाता है, यह अनुभव पद्म आदि के

खिलने मिचने के दृष्टान्त से निवृत्त नहीं हो जाता। जैसे यह निवृत्त नहीं होता, वैसे जातमात्र बालक का भी (हर्ष आदि का निमित्त दृष्टान्त से निवृत्त नहीं होता)। पत्तों का विभाग है खिलना और संयोग है मिचना, ये दोनों (पत्तों की) क्रिया से उत्पन्न होते हैं, और (पत्तों में) क्रिया जो है, उस का हेतु उस क्रिया से अनुमान किया जाता है। ऐसी अवस्था में दृष्टान्त से प्रतिषेध किस बात का हुआ (क्योंकि जैसे दृष्टान्त में खिलना मिचना अपने नियत कारण से होता है, वैसे जातमात्र को हर्ष भय शोक भी उसी निमित्त से होंगे, जो उन के लिए नियत है)। और यदि कहो, कि पद्म आदि में खिलने और मिचने का विकार बिना किसी निमित्त के होता है, इसी प्रकार आत्मा को भी हर्ष आदि की प्राप्ति बिना निमित्त के हो। तो यह—

नोष्णशीतवर्षकाल निमित्तत्वात् पञ्चात्मक विकाराणाम् ॥ २० ॥

नहीं, क्योंकि पांच तत्त्वों के जो विकार हैं, उन सब के निमित्त उष्ण, शीत वा वर्षाकाल होते हैं।

भाष्य—पांच भूतों के मेल से बने पद्म आदि के जो खिलना मिचना आदि विकार हैं, वे उष्ण आदि के होते हुए होते हैं, और न होते हुए नहीं होते, इसलिए इन निमित्तों से होते हैं, बिना निमित्त के नहीं। इसी प्रकार हर्ष आदि विकार भी किसी निमित्त से हो सकते हैं, बिना निमित्त के नहीं। और निमित्त (हर्ष आदि का) पूर्व अभ्यास किये (विषयों की) स्मृति के संस्कारों के सिवाय और कुछ नहीं। सो निरे (पद्म आदि) दृष्टान्त से आत्मा की उत्पत्ति और नाश के कारण का अनुमान नहीं हो सकता। न ही हर्ष आदि की बिना निमित्त के उत्पत्ति होती हैं, और न ही हर्ष आदि का कोई

और निमित्त है। जैसे (पद्म के खिलने आदि का) उष्ण आदि के सिवाय कोई निमित्त नहीं, इस लिए यह (सूत्र २० में कहा) अयुक्त है।

अवतरणिका- इस से भी आत्मा नित्य सिद्ध होता है, कि—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात् ॥२२॥

पूर्व जन्म में किये आहार के अभ्यास के कारण (बछड़े को) दूध की अभिलाषा होती है।

भाष्य—जातमात्र बछड़े की (माता के थनों में) प्रवृत्ति जितलाती है, कि इस को दूध की अभिलाषा हुई है, वह अभिलाषा आहार के अभ्यास के बिना नहीं हो सकती। (प्रश्न) किस युक्ति से? (उत्तर) यह देखा जाता है, कि भूख से पीड़ित हुए प्राणियों को (भूख निवृत्ति के लिए) पूर्व किये आहार के अभ्यास से उत्पन्न हुए स्मृति के संस्कारों से आहार की अभिलाषा होती है। सो यह (दूध की अभिलाषा) जातमात्र बछड़े को बन नहीं सकती, जब तक पूर्वशरीर में उस का अभ्यास न माना जाय। इस से अनुमान होता है, कि पहले भी इस का कोई शरीर हो चुका है, जहां इसने आहार का अभ्यास किया है। सो यह आत्मा पूर्व शरीर से अलग हो कर शरीरान्तर में प्राप्त हुआ, भूख से पीड़ित हुआ, पहले अभ्यास किये आहार का स्मरण करता हुआ, स्तनों से दूध की अभिलाष करता है। इस से सिद्ध है, कि देह के नाश से आत्मा नष्ट नहीं होता है, देहनाश के पीछे भी रहता है। (इस पर आक्षेप-)

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत् तदुपसर्पणम् ।२३।

लोहे के चुम्बक की ओर चलने की नाईं उस का (बछड़े का गौ की ओर) चलना होता है।

भाष्य—जैसे लोहा बिना अभ्यास के चुम्बक की ओर चलता

है, इसी प्रकार आहार के अभ्यास के विना ही बालक दूध की अभिलाषा करता है । (परिहार—)

अवतरणिका—यह जो लोहे का चुम्बक की ओर चलना है, क्या यह विना निमित्त के है, वा किसी निमित्त से होता है।

विना निमित्त के तो—

नान्यत्रप्रवृत्त्यभावत् ॥ २४ ॥

नहीं, क्योंकि अन्यत्र (=ढेले आदि में) प्रवृत्ति नहीं होती।

भाष्य—यदि विना निमित्त के होता, तो ढेला आदि भी चुम्बक की ओर चल देते, क्योंकि (लोहा ही चले, ढेला न चले इस) नियम में कोई भी कारण नहीं होगा। और यदि निमित्त से है, तो वह किस (लिङ्ग) से उपलब्ध होता है? क्रिया इस बात का लिङ्ग है, कि उस में क्रिया का कोई हेतु है, और क्रिया का नियम (लोहे में ही हो, ढेले में न हो) इस बात का लिङ्ग है, कि उस में क्रिया के हेतु का नियम है, इस कारण से अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। तो बाल की भी प्रवृत्तिरूप नियतक्रिया उपलब्ध होती है। यह दूध की अभिलाषा आहार के अभ्यास से उत्पन्न हुए स्मृतिसंस्कारों के सिवाय किसी का लिङ्ग नहीं। (२३ में कहे) दृष्टान्त से निमित्त का उपपादन किया है, कि विना निमित्त के किसी की उत्पत्ति नहीं होती। और दृष्टान्त जो है, वह (आहार की) अभिलाषा के उस हेतु को बाध नहीं सकता, जो जगत् में देखा जाता है। इस लिए लोहे का चुम्बक की ओर चलना (पूर्व जन्म के निषेध में) दृष्टान्त नहीं बनता। लोहे की भी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती, लोहा कभी भी ढेले की ओर नहीं चलता। यह नियम किस से किया गया है। यदि कारण के नियम से, और कारण के नियम का लिंग है क्रिया का नियम (चुम्बक की ओर ही चलने से चुम्बक में ही लोहे को खींचने का कारण है,

ढेले में नहीं)। तो बालक की भी नियत विषय (आहार) में जो अभिलाषा है, वह कारण के नियम से ही होनी चाहिये। और वह कारण अभ्यास किये हुए का स्मरण है वा कुछ और है यह भेद दृष्ट से पता लग सकता है। दृष्ट यह है, कि प्राणियों को आहार की जो अभिलाषा होती है, वह अभ्यस्त के स्मरण से ही होती है।

इस से भी नित्य है आत्मा। किस से?

वीतरागजन्मा दर्शनात् ॥ २५ ॥

वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता (हर एक प्राणी राग से युक्त हुआ जन्मता है, और राग पूर्वानुभूत विषयों की स्मृति के विना नहीं होता है, इस लिए हरएक जन्मधारी किसी पूर्वजन्म को भोग कर ही आता है यह अनुमान होता है)।

भाष्य—राग वाला हुआ जन्मता है, यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। यह जब जन्मता है, तो राग से युक्त हुआ जन्मता है। और राग का कारण होता है पूर्व अनुभव किये विषयों का स्मरण। और विषयों का पूर्वानुभव किसी अन्य जन्म में शरीर के बिना हो नहीं सकता। सो यह आत्मा पूर्वशरीर में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुआ उन २(विषयों) में रक्त होता है। इस प्रकार यह राग दो जन्मों को मिलाने वाली सीमा है। इस प्रकार उस पूर्व शरीर का भी उस से पूर्वले से, और उसका भी उस से पूर्वले से, इत्यादि प्रकार से चेतन आत्मा का शरीर से योग अनादि सिद्ध होता है। और अनादि से ही राग का सिलसिला है, इसलिए नित्यता सिद्ध है। (आक्षेप—)

अवतरणिका—भला यह कैसे ज्ञात होता है, कि जातमात्र को पूर्व विषयों के स्मरण से राग उत्पन्न हुआ है, न कि—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की नाईं उस की उत्पत्ति है ।

भाष्य–जैसे उत्पत्ति धर्म वाले (घटादि) द्रव्यों के गुण (रूप आदि) अपने कारण (कपाल के रूप आदि) से उत्पन्न होते हैं, वैसे उत्पत्ति धर्म वाले आत्मा का राग भी किसी से उत्पन्न होता है। यह पूर्व कहे का अनुवाद उदाहरण के लिए है* ।

न संकल्पनिमितत्त्वा द्रागादीनाम् ॥२७॥

नहीं, क्योंकि राग आदि का निमित्त संकल्प होता है ।

भाष्य—सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की नाईं आत्मा की वा राग आदि की उत्पत्ति नहीं होती । क्यों ? इस लिए कि राग आदि का निमित्त संकल्प है । यह राग विषयों का बार २ सेवन करते हुए प्राणियों को उन के संकल्प से उत्पन्न हुआ गृहीत होता है, और संकल्प होता है पूर्व अनुभव किये विषयों के चिन्तन से । इस से यह अनुमान होता है, कि जातमात्र को भी राग उस के पूर्व अनुभूत अर्थ के चिन्तन से उत्पन्न हुआ है । कार्य द्रव्य की नाईं आत्मा के जनक द्रव्य से राग की उत्पत्ति तो संकल्प से भिन्न कोई राग का कारण हो तब कही जा सकती है (क्योंकि संकल्प तो आत्मा से उत्पन्न होता है, उस से उत्पन्न हुआ गुण आत्मा के कारण का गुण कैसे बने) । पर न ही आत्मा की उत्पत्ति सिद्ध है; न ही संकल्प से भिन्न कोई राग का कारण है । इस लिए यह युक्तिविरुद्ध है,

---

* पूर्व सूत्र २३ में जैसा आक्षेप किया है, यह भी वैसा ही है । क्योंकि इस का उत्तर भी यही है, कि राग भी अपने नियत कारण से उत्पन्न होता है, इस लिए जातमात्र का राग जिन पूर्वानुभवों का लिङ्ग है, वे पूर्वानुभव पूर्व जन्म के ही हो सकते हैं । किन्तु पूर्वला दृष्टान्त लोहे चुम्बक का क्रिया विषय में था, यह गुण के विषय में घट आदि का एक नया दृष्टान्त दिखला दिया है ।

कि सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की नांई उन दोनों की उत्पत्ति है। और यदि राग का कारण संकल्प से भिन्न धर्म अधर्म रूप अदृष्ट माना जाय, तौ भी पूर्व शरीर का योग खण्डित नहीं हो सकता। क्योंकि उस (जन्म=पूर्व जन्म) में ही उन की भी सिद्धि हुई है, इस जन्म में नहीं। पर वस्तुतः राग होता तन्मय होने से हीहै। यह विषयाभ्यास, जो कि भावना संस्कार का हेतु होता है,इसी का नाम तन्मय होनाहै। जाति विशेष से राग विशेष होता है (जैसे ऊंट का कांटों वाले शाखाग्र खाने में)। पर यहां जाति विशेष का साधक कर्म जो है, वह तादर्थ्य से उस शब्द (जाति विशेषशब्द) से कहा गया है। इस लिए संकल्प से भिन्न राग का कारण नहीं बन सकता है।

(प्रकरण ५—शरीर की परीक्षा)

अवतरणिका—चेतन का शरीर के साथ योग अनादि है यह कहा है। अपने किये कर्मों से मिला यह शरीर इस(आत्मा)के सुख दुःख का अधिष्ठान है, उस की अब परीक्षा की जाती है, कि क्या घ्राण आदि की नांई इस की प्रकृति (समवायिकारणद्रव्य) एक है, वा नाना हैं। (प्रश्न) संशय कैसे हुआ? (उत्तर) विप्रतिपत्ति से संशय होता है। (वादी) पृथिवी आदि भूतों को संख्या के विकल्प से शरीर की प्रकृति मानते हैं (कई एक भूत को, कई दो, कई तीन, कई चार कई पांच को)। (प्रश्न) अच्छा तो इस में तत्त्व क्या है? (उत्तर)

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

पार्थिव है (जलादि के गुणों से) अलग गुण (गन्ध) की उपलब्धि से।

भाष्य—उन में से मानुष शरीर पार्थिव है। किस हेतु से? अलग गुण की उपलब्धि से। गन्धवती पृथिवी होती है, गन्ध वाला शरीर है। जल आदि गन्धसे हीनहैं,इसलिए यदि यहउनसे उत्पन्नहोता

तो गन्धहीन होता*। किन्तु (शरीर को) चेष्टा इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय होने से (१ । १ । ११) यह अनुमान किया जाता है, कि यह (शरीर) जलादि से न मिली हुई पृथिवी से आरम्भ नहीं हुआ (अर्थात् जलादि से संयुक्त पृथिवी ने ही इस को आरम्भ किया है†) इस लिए पांचों भूतों के संयोग के होते हुए शरीर होता है। आपस में पांचों भूतों का जो संयोग है, उस का निषेध नहीं। दूसरे लोकों में (वरुणादि लोकों में) जलीय, तैजस और वायव्य शरीर भी हैं, उन में भी भूतों का संयोग उन २ के भोगों के अधीन है। स्थाली आदि द्रव्यों की उत्पत्ति में भी यह बात निःसंदेह है, कि जल आदि के संयोग के बिना उन की उत्पत्ति नहीं होती। (वादियों के ये जो हेतु हैं कि-) शरीर पृथिवी जल तेज का बना हुआ है क्योंकि उन के गुण (गन्ध, रस, और उष्णता) उपलब्ध होते हैं। श्वास प्रश्वास की उपलब्धि से चार भूतों का बना हुआ है। गन्ध, गीलापन, पाक=खाये आहार को पकाना, श्वास, और अवकाश के देने से पांचों भूतों से बना है। ये हेतु संदिग्ध हैं, इस लिए सूत्रकार ने इन की उपेक्षा करदी है। (प्रश्न) किस तरह संदिग्ध हैं (उत्तर) प्रकृति हों, तौ भी सब भूतों के धर्मों की उपलब्धि हो सकती है, और

---

* आशय यह है, कि सारे अवयव मिल कर कार्यद्रव्य को उत्पन्न करते हैं, और अवयवों के गुण मिलकर कार्य में गुण आरम्भ करते हैं, इस लिए जो गुण सारे अवयवों में है, उस का कार्य में आरम्भ होगा, जो गुण एक अवयव का है, दूसरे का नहीं, वह गुण उन के कार्य में उत्पन्न नहीं हो सकता।

† घ्राण पार्थिव है, रसना जलीय है, नेत्र तैजस है, त्वचा वायव्य है और श्रोत्र आकाशरूप है इस लिए पांचों का संयोग शरीर में अवश्य है। गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द के होने से भी पांचों का संयोग अवश्य है।

न हों, तो भी उपलब्धि हो सकती है, क्योंकि उन के संयोग का प्रतिषेध हम नहीं करते, वे सब संयुक्त तो हैं ही। जैसा कि स्थाली में पृथिवी जल तेज वायु आकाश सब का संयोग है। सो यदि इस शरीर के प्रकृति अनेक भूत हों, तो शरीर अपनी प्रकृति के अनुसार गन्धहीन, रसहीन, रूपहीन और स्पर्शहीन होगा। पर ऐसा यह है नहीं, इस लिए पार्थिव है, क्योंकि इस में अलग गुण की उपलब्धि है।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥

श्रुति की प्रमाणता से भी (पार्थिव है)।

भाष्य—'तेरा नेत्र सूर्य को प्राप्त हो' इस मन्त्र में 'पृथिवी को तेरा शरीर प्राप्त हो' यह सुना जाता है। सो यह विकार का अपनी प्रकृति में लय का कथन है (शरीर का पृथिवी में लय कहने से शरीर पार्थिव है)। तथा 'सूर्य तेरे नेत्र को उत्पन्न करे' इस दूसरे मन्त्र में 'पृथिवी तेरे शरीर को' यह सुना जाता है। यह कारण से विकार की उत्पत्ति कही है। किञ्च–स्थाली आदि में सजातीय एक कार्य को आरम्भ करते देखे जाते हैं, इसलिए भिन्न२ जाति के द्रव्यों का एक कार्य को आरम्भ करना अनुपपन्न है।

(प्रकरण ६–इन्द्रियों के कारण की परीक्षा। ३०–४८)

अवतरणिका-अब प्रमेय क्रम (शरीर के अनन्तर) इन्द्रियों का विचार किया जाता है, कि क्या ये प्राकृत* हैं, वा भौतिक हैं। संशय कैसे हुआ—

---

*प्राकृत = प्रकृति का कार्य। सांख्य पक्ष में इन्द्रिय प्राकृत हैं, क्योंकि अहंकार से उत्पन्न होते हैं, और अहंकार प्रकृति का कार्य है। साक्षात् मूल तो इन्द्रिय का सांख्य पक्ष में अहंकार है, परम्परा से मूल प्रकृति है।

कृष्णासारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥

काली धीरी के होते हुए (विषयों की) उपलब्धि होने से और आगे बढ़ कर (विषय देश में) उपलब्धि होने से संशय है।

भाष्य—काली धीरी भौतिक है, वह उपहत (खराब) न हो, तब रूप की उपलब्धि होती है, उपहत हो, तो उपलब्धि नहीं होती (इस से काली धीरी ही इन्द्रिय है,* और वह भौतिक है) दूसरा-काली धीरी से दूर टिके हुए विषय की उपलब्धि होती है, न कि काली धीरी पर पहुंचे हुए विषय की। और बिन पहुंचे इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकते, सो यह (दूर का ग्रहण) भौतिक न हो कर विभु होने से सम्भव है। इस प्रकार दोनों के धर्मों की उपलब्धि से संशय है।

अवतरणिका—(सांख्य-) अभौतिक हैं, यह उत्तर है। किस हेतु से? (उत्तर—)

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥

बड़े छोटे के ग्रहण से।

भाष्य—महत् अर्थात् बड़ा और बहुत बड़ा उपलब्ध होता है जैसे बड़ और पर्वत आदि, तथा अणु अर्थात् छोटा और बहुत ही छोटा गृहीत होता है जैसे बड़ का बीज आदि। इन दोनों का उपलब्ध होना नेत्रों के भौतिक होने का बाधक है। भौतिक तो जितना

---

* काली धीरी को इन्द्रिय बौद्ध मानते हैं। सो यह काली धीरी वाला बौद्ध पक्ष है। नैयायिक काली धीरी को इन्द्रिय का अधिष्ठान मान कर इन्द्रिय को इस से अलग मानते हैं, जो अतीव सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होता सदानुमेय है।

आप हो, उतने को ही व्यापता है, किन्तु अभौतिक जो है, वह विभु होने से सारे का व्यापक होता है (इस लिये नेत्र अभौतिक है)।

अवतरणिका—(भौतिक वादी-) छोटे बड़े को ग्रहण करता है, इतने मात्र से इन्द्रिय का अभौतिक होना और विभु होना अंगीकार नहीं किया जा सकता। यह तो—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥

उन (छोटे बड़े) का ग्रहण रश्मियों और अर्थों के सम्बन्धविशेष से होता है।

भाष्य—उन छोटे बड़ों का ग्रहण नेत्र की रश्मि और अर्थ के सम्बन्धविशेष से होता है। जैसे दीपक की रश्मि और अर्थ के (सम्बन्ध विशेष से दीपक से छोटे बड़े का ग्रहण होता है)। (और दीवार आदि की - आड़ जो है यह लिङ्ग है इस बात का, कि रश्मि और अर्थ सम्बन्ध (होता है,तब वस्तु दीखती है)। नेत्र की रश्मि दीवार आदि से आड़ में आए अर्थ को प्रकाशित नहीं करती, जैसा कि दीपक की रश्मि। सो यद्यपि (यह रश्मि) इस आड़ से अनुमान की जा सकती है, तो भी उस पर (वादी) कहता है—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥

उस की (रश्मि की) अनुपलब्धि से (पूर्वोक्त) हेतु ठीक नहीं।

भाष्य—(रश्मि तेज है और) तेज रूप और स्पर्श वाला होता है। महत्त्व परिमाण वाला अवयवी द्रव्य हो और रूप वाला हो, तो उस की उपलब्धि अवश्य होती है। सो यदि नेत्र की रश्मि हो, तो प्रदीप की नाईं प्रत्यक्ष से उपलब्ध हो (उत्तर-

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३४ ॥

जो अनुमान से जाना जा सकता है, उस की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि (उस के) अभाव का हेतु नहीं होती ।

भाष्य--(रश्मि और अर्थ के) सम्बन्ध को रोकने वाली जो आड़ है, वह रश्मि का लिङ्ग है, (अर्थात् नेत्र की रश्मि अवश्य है, जो आड़ से रुक गई है और अर्थ को ग्रहण नहीं करा सकी) जब इस लिङ्ग से रश्मि का अनुमान हो गया, तो फिर प्रत्यक्ष से जो उस की अनुपलब्धि है, वह उस के अभाव को नहीं बतलाती । जैसे चन्द्र के पिछले भाग और पृथिवी के निचले भाग की (प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि अभाव का हेतु नहीं)।

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः । ३५॥

द्रव्य और गुण के धर्म विशेष से उपलब्धि का नियम है(अर्थात् रूप वही उपलब्ध होता है, जो उद्भूत (व्यक्त) हो, और रूपि द्रव्य वही, जो उद्भूत रूप वाला हो। नेत्र की रश्मि का रूप उद्भूत नहीं, इस लिए न उस के रूप की, न उस की उपलब्धि होती है)

भाष्य—द्रव्य का धर्म और गुण का धर्म सचमुच अलग है। (वायु में जो) महत्, अनेक द्रव्यों वाला, गुथे हुए अवयवों वाला जलीय द्रव्य है, वह प्रत्यक्ष से नहीं उपलब्ध होता है, किन्तु शीतस्पर्श (उस का) गृहीत होता है । उस द्रव्य के निमित्त से हेमन्त और शिशिर ऋतु (जाड़ा) माने जाते हैं। इसी प्रकार [वायु में] अनुद्भूत रूप वाला तैजस द्रव्य रूपसमेत उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु स्पर्श इस का उष्ण उपलब्ध होता है, उस द्रव्य के निमित्त से बसन्त और ग्रीष्म माने जाते हैं। और जहां यह अनेक द्रव्यों वाले (अवयवी) में समवेत होने से और रूपविशेष से रूप की उपलब्धि*होती है वहां रूप और

---

* मुद्रित पुस्तकों में 'अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः' यह सूत्रत्वेन पढ़ा है, पर भाष्य की पूर्वापर शैली

उस का आश्रय द्रव्य प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं। रूपविशेष वह है, जिस के होने से कहीं रूप की उपलब्धि होती है, और जिस के न होने से कहीं द्रव्य की अनुपलब्धि होती है। रूप का यह धर्म जो है, इस को उद्भव कहते हैं। और नेत्र की रश्मि का रूप अनुद्भूत है, इसलिए प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता है। तेज का ऐसा धर्मभेद लोक-दृष्ट है, उद्भूत स्पर्श वाला प्रत्यक्ष तेज जैसे सूर्य की रश्मियें. उद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श वाला प्रत्यक्ष तेज, जैसे दीपक की रश्मियें। उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूत रूप वाला अप्रत्यक्ष तेज, जैसे जलादि से संयुक्त तेज (उष्ण जल में तेज)। अनुद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श वाला अप्रत्यक्ष तेज जैसे नेत्र की रश्मि।

'चेतन के भोग के लिए इन्द्रियों की ऐसी रचना उस के कर्मों से हुई है'। * अर्थात् जैसे चेतन का भोग विषयों की उपलब्धि और सुख दुःख की उपलब्धि मानी जाती है इसी प्रकार इन्द्रियों की रचनाविशेष भी है, क्योंकि नेत्र की रश्मि की रचना विषय की प्राप्ति के लिए है (नेत्र की रश्मि वहां न जाती, तो दूरस्थ

देखने से यह स्पष्ट भाष्य प्रतीत होता है। 'एषा भवति' का अन्वय स्पष्ट 'रूपोपलब्धिः' के साथ है। यह एक वाक्य है, इस की व्याख्या किये विना ही आगे फल दिखलाया है। इस से स्पष्ट है, कि यह भाष्य है सूत्र नहीं। किञ्च पूर्व सूत्र में उपलब्धि के हेतु जो द्रव्य गुण के धर्मविशेष कहे हैं। उन्हीं की व्याख्या यह है। सूत्र में धर्मभेद से उपलब्धि कही है। वही धर्मभेद यहां दिखलाया जा रहा है। दयानन्द कालेज लाहौर के संस्कृत पुस्तकालय में जो हस्तलिखित गौतम सूत्र है, उन में यह सूत्र है भी नहीं।

* 'कर्मकारितश्चेन्द्रियाणांव्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः' यह भी मुद्रित पुस्तकों में सूत्रत्वेन लिखा है। पर यह भी सूत्र नहीं, भाष्य है विश्वनाथ ने अपनी वृत्ति में इस को भाष्य का पाठ माना है।

विषय की प्राप्ति कैसे होती , और (उस रश्मि के) रूप और स्पर्श का अनुद्भूत होना व्यवहार की सिद्धि के लिए है। और द्रव्य विशेष में प्रतीघात [रुकजाने]से आवरण की सिद्धि भी व्यवहार के लिए है। सब द्रव्यों की अनेक प्रकार की रचना इन्द्रियों की नाईं चेतन के भोग के लिए उस के कर्मों से हुई है । क्योंकि कर्म जो धर्म अधर्म रूप है, वह चेतन के उपभोग के लिए है।

और प्रतिघात जो है, यह स्पष्ट भौतिक का धर्म है, क्योंकि (इस धर्म के भौतिक होने में कहीं भी) व्यभिचार नहीं आता* (किसी भी अभौतिक वस्तु का यह धर्म कहीं नहीं होता), अर्थात् यह जो आवरण की उपलब्धि से इन्द्रिय का द्रव्यविशेष (दीवार आदि) में प्रतिघात है, वह भौतिक का धर्म है, भूतों से कभी व्यभिचारी नहींहोता,क्योंकिकोई भी अभौतिक प्रतिघात धर्म वाला नहींदेखा गया। और अप्रतीघात जो है, यह व्यभिचारी धर्म है, क्योंकि भौतिक और अभौतिक इन दोनों का सांझा धर्म है। और (वादी) जो यह मानता है, कि 'इन्द्रिय यदि प्रतीघात से भौतिक है, तो अप्रतीघात से अभौतिक सिद्ध होते हैं । और (नेत्र रश्मियों का) अप्रतीघात देखा गया है, क्योंकि काच, मेघ पटल, और बिल्लौर से ढके हुए की उपलब्धि होती है' । यह ठीक नहीं । क्यों ? इस लिए कि इन (पदार्थों) में भौतिक का भी तो प्रतीघात नहीं होता । दीपक की रश्मियें भी काच, मेघ पटल और बिल्लौर से ढके हुए को प्रकाशित करती ही हैं। और बटलोई आदि में पाचक तेज का भी प्रतीघात नहीं होता है।

---

* मुद्रित पुस्तकों में 'अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः' यह भी सूत्ररूप से लिखा है । पर विश्वनाथ पञ्चानन ने इस को भी सूत्र नहीं माना है, और न ही न्यायसूची निबन्ध में यह सूत्र पाया जाता है ।

अवतरणिका—(अनुपलब्धि के) कारण विशेष से अनुपलब्धि बन सकती है—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ ३६ ॥

दोपहर के उल्का प्रकाश की अनुपलब्धि की नाईं उस की (नेत्र रश्मि की) अनुपलब्धि होती है।

भाष्य—जैसे, अनेक अवयवों वाला होने से और रूपविशेष से द्रव्य की उपलब्धि होती है, इस उपलब्धि कारण के होते हुए भी दोपहर में उल्का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वह सूर्य के प्रकाश में दब जाता है। इसी प्रकार महत्परिमाण वाला होने से अनेक अवयवों वाला होने से और रूपविशेष से उपलब्धि होती है, इस उपलब्धि कारण के होते हुए भी रश्मि की उपलब्धि नहीं होती किसी और निमित्त से। और वह निमित्त पूर्व बतला दिया है, कि अनुद्भूत रूप और स्पर्श वाले द्रव्य की प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती। जो अत्यन्त अनुपलब्धि है, वह अभाव का कारण होतीहै। जो यहकहता है, कि ढेले का प्रकाश भी दोपहर में सूर्य के प्रकाश से दब जाने के कारण उपलब्ध नहीं होता है। उस के लिए यह उत्तर होगा—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ३७ ॥

नहीं, क्योंकि रात में भी उपलब्धि नही होती।

भाष्य—(सूत्र में-) अपि=भी इस का बोधक है, कि अनुमान से भी उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार अत्यन्त अनुपलब्धि से ढेले का प्रकाश नहीं है। पर नेत्र की रश्मि ऐसी नहीं है। और यहयुक्तियुक्त है कि -

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ३८ ॥

बाह्य प्रकाश की सहायता से विषय की उपलब्धि होती है, और (रूप की) अनभिव्यक्ति से (उस के आश्रय द्रव्य की) उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य—बाह्य प्रकाश की सहायता पाकर नेत्र अपने विषय का ग्राहक होता है, उस के (बाह्य प्रकाश के) अभाव में उपलब्धि नहीं होती । अब प्रकाश की सहायता भी है, शीत स्पर्श की उपलब्धि भी होती है, तौ भी उस (स्पर्श का) आश्रय जो (जलीय) द्रव्य है, उस का नेत्र से ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उस का रूप उद्भूत (अभिव्यक्त) नहीं है सो यह रूप की अनभिव्यक्ति से रूप के आश्रय द्रव्य की अनुपलब्धि देखी गई है (इसी तरह रूप की अनभिव्यक्ति से नेत्र रश्मि की अनुपलब्धि है) सो जो यह कहा है 'तदनुपलब्धेरहेतुः' यह अयुक्त है ।

अवतरणिका - नेत्र रश्मि की अनुपलब्धि का कारण भी अभिभव ही क्यों नहीं माना जाता (उत्तर–)

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ३९ ॥

अभिव्यक्ति में (और बाह्य प्रकाश की सहायता की अपेक्षा न रखने में) अभिभव होता है ।

भाष्य—(सूत्र में जो) च ' है, उस) का अर्थ है; कि बाह्य प्रकाश की भी अपेक्षा न होने पर । (तब सूत्र का यह आशय हुआ) जो रूप अभिव्यक्त है, और बाह्य प्रकाश की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, उस के विषय में अभिभव होता है (जैसे दोपहर में उल्का प्रकाश) विपर्यय में अभिभव नहीं होता । वह वस्तु, जिस

की कि अनुद्भूत रूप वाली होने के कारण अनुपलब्धि हो, और बाह्य प्रकाश की सहायता से उपलब्धि हो, उसका अभिभव नहीं बनता। सो इस प्रकार यह सिद्ध है, कि नेत्र की रश्मि है।

नक्तंचरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४० ॥

रात के घूमने वाले (जन्तुओं की) नेत्र रश्मि के देखने से भी (नेत्र रश्मि सिद्ध है)।

भाष्य—रात के समय रात के घूमने वाले बिल्ले आदि की नेत्रों की रश्मियें देखी जाती हैं, उस से शेष का अनुमान होता है, (कि मनुष्य आदि के नेत्रों की भी रश्मियें हैं) (प्रश्न) जाति भेद की नाई उन के इन्द्रियों का भी भेद है, यदि ऐसा कहो (उत्तर) तो निरा धर्म का भेद बन नहीं सकता, क्योंकि (रश्मि की) पहुंच के रोकने वाला आवरण जो (दोनों में एक जैसा) देखा जाता है।

अवतरणिका—(प्रश्न) इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध विशेष) को जो ज्ञान की कारणता कही है, वह ठीक नहीं। कैसे?

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४१ ॥

विन पहुंचे ग्रहण होता है, क्योंकि काच, मेघ पटल और बिल्लौर से ढकी हुई वस्तु की उपलब्धि होती है।

भाष्य—तिनका आदि द्रव्य चलता २ काच में, मेघ पटल में बिल्लौर में रुकता हुआ देखा गया है। व्यवधान रहित वस्तु के साथ (किसी दूसरी वस्तु का) सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होता है। व्यवधान से संयोग रुक जाता है। सो यदि रश्मि और अर्थ का सन्निकर्ष अर्थ ग्रहण का हेतु हो, तो व्यवधान वाले का सम्बन्ध हो नहीं सकता, इस लिए उस का ग्रहण न हो। पर काच, मेघ पटल और

।बिल्लौर से ढकी हुई वस्तु की भी उपलब्धि होती ही है । वह उपलब्धि जितलाती है, कि इन्द्रिय अप्राप्यकारि (बिन पहुंचे अपना काम करने वाले) हैं । इसी लिए अभौतिक हैं, क्योंकि भौतिक का धर्म पहुंच कर काम करना है । (उत्तर-) नहीं—

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४२ ॥

दीवार के व्यवधान में अनुपलब्धि से प्रतिषेध नहीं बनता ।

भाष्य—इन्द्रिय अप्राप्यकारि हों, तो दीवार से ढके हुए की अनुपलब्धि न हो । (प्रश्न) प्राप्यकारि होने में भी तो काच, मेघ पलट और बिल्लौर से ढके हुए की उपलब्धि नहीं होनी चाहिये (उत्तर-)

अप्रतीघात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४३ ॥

प्रतीघात (रुकावट) न होने से सन्निकर्ष बन सकता है ।

भाष्य—काच वा मेघ पटल नेत्र की रश्मि को रोकता नहीं है । वह न रुकी हुई (व्यवहित अर्थ के साथ) सम्बद्ध होती है । और जो यह मानता है, कि भौतिक में न रुकना धर्म होता ही नहीं । यह नहीं—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघा-
तात् ॥ ४४ ॥

क्योंकि सूर्य की रश्मि को, बिल्लौर से ढके हुए में भी, जलने योग्य पदार्थ में भी (प्रकाश वा तेज को) रुकावट नहीं होती ।

भाष्य—सूर्य की रश्मि को रुकावट नहीं होती, बिल्लौर से ढके हुए में भी रुकावट नहीं होती, और जलने योग्य में रुकावट नहीं होती । इस प्रकार 'अविघातात्' इस पद का अलग २ सम्बन्ध

करने से वाक्यभेद होता है (=तीन वाक्य बन जाते हैं) और वाक्य के अनुसार अर्थ का भेद होता है। (१) सूर्य की रश्मि घड़े आदि में रुकती नहीं, न रुकने के कारण घड़े के अन्दर स्थित जल को तपा देती है। उस के पहुंचने पर ही (जल से) भिन्नद्रव्य का गुण जो गर्म स्पर्श है, उस का ग्रहण होता है, और उस से शीत स्पर्श का अभिभव हो जाता है। (२) बिल्लौर से ढके हुए भी प्रकाशने योग्य पदार्थ में दीपक की रश्मियों को रुकावट नहीं होती, रुकावट न होने से (रश्मियों से) संयुक्त हुए परले द्रव्य का ग्रहण होता है। (३) भूनने के बर्तन में स्थित द्रव्य अग्नि के तेज से जल जाता है, यहां भी न रुकने के कारण (तेज का) संयोग हुआ है, संयोग होने पर दाह हुआ है क्योंकि तेज बिना संयुक्त हुए अपना काम नहीं करता।

अब केवल 'अविघात' इस पद को लेते हैं, कि अविघात=न रुकना क्या है। जिस के अवयव अत्यन्त निकट मिले हुए न हों, ऐसे व्यवधायक द्रव्य से, जो सब ओर से दूसरे द्रव्य का न रुका रहना है, अर्थात् उस में जो क्रिया है, उस के कारण का न रुकना, पहुंच का निषेध न होना है। यह प्रत्यक्षदृष्ट है, कि घड़े में डाले हुए जलों का बाहरली ओर शीतस्पर्श का ग्रहण होता है। और जब तक कोई द्रव्य इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध न हो, उस के स्पर्श की उपलब्धि हो नहीं सकती। (घड़े से बाहर जल का) सिमना और चूना भी देखा जाता है (यह सब घड़े के सूक्ष्म छिद्रों से जल के बाहर आने का चिन्ह हैं)। ऐसे ही काच, मेघ पटल आदि से नेत्र की रश्मि रुकती नहीं, इस लिए उस में से निकल कर (परवर्ती) अर्थ के साथ सम्बद्ध होती है, इस लिए (इन के व्यवधान में भी अर्थ का) ग्रहण सिद्ध है।

नेतरेतरधर्मप्रसंगात् ॥ ४५ ॥

नहीं, क्योंकि एक दूसरे के धर्म की व्याप्ति आती है (अर्थात्-)

भाष्य—या तो काच और मेघ पटल की नाईं दीवार से भी रुकावट न हो, या फिर दीवार आदि की नाईं काच और मेघपटल आदि से भी रुकावट ही हो, यह प्रसंग आता है। (नहीं तो) नियम में कारण कहना चाहिये। (उत्तर-)

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ४६ ॥

स्वच्छ स्वभाव वाला होने से जैसे दर्पण और जल में रूप की (मुखादि के प्रतिबिम्ब की) उपलब्धि होती है, वैसे उस (=काचादि से व्यवहित] की उपलब्धि होती है।

भाष्य—दर्पण और जल की स्वच्छता है रूपविशेष, जो उस का स्वभाव अर्थात् निज धर्म है, क्योंकि (इस में) नियम देखा जाता है (कि इन में तो स्वच्छता है, दीवार आदि में नहीं) अथवा स्वभाव अर्थात् स्वच्छता का अपना धर्म अर्थात् रूप (=प्रतिबिम्ब) का ग्रहण कराना। जैसे दर्पण से टक्कर खाकर लौटी हुई नेत्र की रश्मि का अपने मुख के साथ सम्बन्ध होने से अपने मुख की उपलब्धि अर्थात् प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है, यह शीशे के रूप की सहायता से होता है। और दीवार आदि में प्रतिबिम्ब का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि शीशे का रूप वहां न होने से उसमें वह स्वच्छता नहीं है। इसी प्रकार काच और मेघपटल आदि से नेत्र की रश्मि को रुकावट नहीं होती, और दीवार आदि से होती है, क्योंकि द्रव्य का अपना २ नियत स्वभाव है।

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ।४७।

देखे हुओं वा अनुमान किये हुओं का नियोग और प्रतिषेध नहीं बन सकता।

भाष्य— माण का विषय है ज्यों का त्यों जितला देना। तब

हे भाई परीक्षा करने वाला पुरुष देखे वा अनुमान किये अर्थों का नियोग (अनुशासन) नहीं कर सकता, कि (हे पदार्थो) 'तुम ऐसे हो जाओ' और न ही प्रतिषेध कर सकता है, कि 'ऐसे न होवो'। यह कहना नहीं बन सकता है, कि रूप की नांई गन्ध भी नेत्र का विषय हो अथवा गन्धकी नांई रूप भी नेत्र का विषय न हो। धूम से अग्नि का पता लग जाने की नांई जल का भी पता लग जाए, अथवा जल का पता न लगने की नांई अग्नि का भी पता न लगे। कारण क्या? कि अर्थ जैसे होते हैं, जो उन का स्वभाव अर्थात् अपना धर्म है, वैसे हुए ही प्रमाण से निश्चय किये जाते हैं। क्योंकि प्रमाण ज्यों के त्यों का ग्रहण कराता है। आप ने ये नियोग प्रतिषेध बतलाए हैं, कि 'काच और मेघपटल की नांई दीवार आदि से प्रतीघात रुकावट न हो, वा दीवार आदि की नांई काच और मेघपटल आदि से भी अप्रतीघात न हो, ये धर्म इन द्रव्यों के न दृष्ट हैं न ही अनुमित हैं। उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रतीघात और अप्रतीघात की व्यवस्था कराती हैं। आड़ में आए हुए की उपलब्धि न होने से अनुमान होता है, कि दीवार आदि से प्रतीघात होता है, और आड़ में आए हुए की उपलब्धि से अनुमान होता है, कि काच और मेघ-पटल आदि से प्रतीघात नहीं होता है। (अतः सिद्ध है, कि इन्द्रिय भौतिक हैं)।

इन्द्रियनानात्व प्रकरण—सूत्र—४८--५७

अब यह भी देखना है, कि क्या एक ही इन्द्रिय है वा बहुत इन्द्रिय है। संशय क्यों हुआ?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयवि नानास्थानत्वाच्च संशयः ॥ ४८ ॥

स्थान के अलग २ होने पर (उन में रहने वाले) भिन्न होते हैं, और एक ही अवयवी भी नाना स्थानों में होता है, इस से संशय है।

भाष्य –यह भी देखा जाता है, कि स्थान अलग २ हैं, तो उन में स्थानी भी अलग २ हैं (जैसे अनेक पात्रों में अनेक फल) और यह भी, कि अवयवी अकेला ही अपने अनेक अवयवों में रहता है । इस से भिन्न स्थानों वाले इन्द्रियों में संशय होता है (कि क्या एक ही इन्द्रिय के अनेक स्थान हैं, वा प्रति स्थान इन्द्रिय का भेद है) (पूर्वपक्षी) एक है इन्द्रिय–

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ४९ ॥

त्वचा से अलग न होने से ।

भाष्य—(पूर्वपक्षी) कहता है त्वचा ही एक इन्द्रिय है। किस कारण से ? अलग न होने से। ऐसा नहीं है, कि त्वचा किसी इन्द्रिय स्थान में न पहुंची हुई हो, और न यह है, कि त्वचा के न होते हुए किसी विषय का ग्रहण हो। सो जो सारे इन्द्रियस्थानों में व्याप्त है, और जिस के होते हुए विषय ग्रहण होता है, वह त्वचा एक ही इन्द्रिय है।

(शंका–) 'नहीं, क्योंकि दूसरे इन्द्रियों के अर्थों की उपलब्धि नहीं होती' (यह आशय है) स्पर्श की उपलब्धि कराने वाली त्वचा के होते हुए और त्वचा इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होते हुए भी, अन्धे आदि को दूसरे इन्द्रियों के विषय रूप आदि गृहीत नहीं होते हैं । (अब तुम्हारे मत में) स्पर्शग्राहक इन्द्रिय से अलग तो कोई इन्द्रिय है नहीं, इसलिए अन्धे आदि को स्पर्श की नाईं रूप आदि का भी प्रत्यक्ष हो, पर होता नहीं है, इस से सिद्ध है, कि अकेली त्वचा ही इन्द्रिय नहीं ?

(समाधान–) 'त्वचा के अवयव विशेष से धूम आदि की उपलब्धि की नाईं उस की (रूप आदि की) उपलब्धि होती है' (यह आशय है) जैसे त्वचा का कोई अवयवविशेष जो नेत्र में

है, वही धूम के स्पर्श को ग्रहण करता है, दूसरा नहीं। इसी प्रकार त्वचा के अवयव विशेष ही रूप आदि के ग्राहक हैं; उन के बिगड़ने से अन्धे आदि रूप आदि को ग्रहण नहीं करते हैं।

(सिद्धान्ती) 'परस्पर विरोधी होने से यह हेतु ठीक नहीं है' 'त्वचा से अलग न होने के कारण इन्द्रिय एक ही है' यह कह कर फिर कहा है 'त्वचा के अवयव विशेष से धूम आदि की उपलब्धि की नाईं रूप आदि की उपलब्धि होती है। ऐसा होने पर तो वे विषयों के ग्राहक (इन्द्रिय) विषयों की व्यवस्था के अनुसार नाना बनते हैं, क्योंकि उस २ के होने पर उस २ विषय का ग्रहण होता है, और उस २ के न होने पर उस २ विषय का ग्रहण नहीं होता। और इस प्रकार पूर्व कथन (एक इन्द्रिय है) उत्तर वचन (एक के भिन्न २ अवयव अलग २ इन्द्रिय हैं) से बाधित हो जाता है।

(किञ्च) '(त्वचा से) अलग न होना (यह हेतु) संदिग्ध भी है'। इन्द्रियों के जो स्थान हैं, वे पृथिवी आदि भूतों से व्याप्त हैं, और न ही उन के न होते हुए विषय का ग्रहण होता है। इस लिए न त्वचा, न ही कोई और एक इन्द्रिय है (किन्तु नाना हैं)।

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५० ॥

नहीं, क्योंकि एक साथ विषयों की उपलब्धि नहीं होती*।

---

* सूत्र ४९ का खण्डन सूत्र है। भाष्यकार ने इस की व्याख्या दो प्रकार से की है—प्रथम यह, कि यदि एक ही इन्द्रिय हो, तो स्पर्श और रूपादि सारे विषयों का ग्रहण एक साथ हो, पर ऐसा नहीं होता। इस लिए एक इन्द्रिय नहीं। दूसरी—यदि एक ही इन्द्रिय हो, तो जिस को स्पर्श का ज्ञान होता है, उस को रूप ग्रहण भी अवश्य ही हो, क्योंकि स्पर्श ग्रहण से स्पष्ट है, कि इन्द्रिय तो उस का विद्यमान है। सो अन्धे आदि की अनुपपत्ति हो।

भाष्य—आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय के साथ, अब इन्द्रिय सभी विषयों के साथ सम्बद्ध हुआ है (क्योंकि तुम्हारे पक्ष में एक ही इन्द्रिय सब विषयों का ग्राहक है) सो आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थ के सन्निकर्ष से (सब विषयों का) एक साथ ग्रहण हों । पर रूपादि सब एक साथ गृहीत नहीं होते, इस लिए एक इन्द्रिय सब विषयों वाला नहीं है । (२) विषयों की उपलब्धियां के साथी न होने से भी एक इन्द्रिय सर्वविषयक नहीं है । क्योंकि यदि विषयों की उपलब्धियों का साथ हो, तो अन्धे आदि सिद्ध नहीं हो सकते ।

विप्रतिषेधाच्च नत्वगेका * ॥५१॥

परस्पर विरोध आने से भी अकेली त्वचा ही (इन्द्रिय) नहीं ।

भाष्य—एक त्वचा ही इन्द्रिय नहीं, क्योंकि परस्पर विरो[ध] आता है । (जब सब विषयों की ग्राहक त्वचा ही एक इन्द्रिय है तो त्वचा से रूप तो वहां (विषय देश में) पहुंचे बिना ग्रहण किये जाते हैं (क्योंकि रूप त्वचा से दूर परे होते हैं) सो इस प्रकार जब इन्द्रिय बिना पहुंचे अपना कार्य करने वाला हुआ, तो स्पर्श आदि में भी ऐसे ही प्रसंग होगा । वा स्पर्श आदि के प्राप्तों के ग्रहण से रूप आदि का भी प्राप्त का ही ग्रहण हो 'इन्द्रिय अलग २ भाग में अलग शक्ति वाला है, यदि ऐसा कहो, तो आवरण के न बन सकने से विषयमात्र का ग्रहण होगा' (यह आशय है) अच्छा यदि ऐसा माना जाय, कि स्पर्श आदि तो त्वचा से प्राप्त हुए ग्रहण किये जाते हैं, पर रूप आदि अप्राप्त ही ग्रहण किये जाते हैं

* न्यायतत्त्वालोक और विश्वनाथ की वृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या नहीं, और न ही कहीं सूत्र कह कर इस की प्रतीक[दी] है, इसलिये इस के सूत्र होने में संदेह है ।

तब ऐसा होने में (अप्राप्त के ग्रहण में) आवरण नहीं बन सकता, और आवरण न बना, तो रूपमात्र का ग्रहण होना चाहिये; चाहे आड़ में हो, और चाहे बिना आड़ के हो। और जो दूर निकट के सम्बन्ध से रूप की अनुपलब्धि और उपलब्धि है, यह भेद न हो। जब अप्राप्त ही रूप त्वचा से ग्रहण किया जाता है, तो दूर में तो रूप का अग्रहण और निकट में ग्रहण यह भेद नहीं होगा। (इस से सिद्ध है, कि इन्द्रिय एक नहीं है) इस प्रकार एकत्व के प्रतिषेध से (इन्द्रिय-) नाना होने की सिद्धि होते हुए (नाना होने की) स्थापना का हेतु भी कहा जाता है।

इन्द्रियार्थ पञ्चत्वात् ॥५२॥

इन्द्रियों के अर्थों के पांच होने से (इन्द्रिय पांच हैं)

भाष्य—अर्थ अर्थात् प्रयोजन। वह इन्द्रियों का पांच प्रकार का है। त्वचा इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर उसी से रूप का ग्रहण नहीं होता है, इस से रूप ग्रहण जिस का प्रयोजन है, वह (त्वचा से अलग) नेत्र (इन्द्रिय) अनुमान किया जाता है। अब स्पर्श और रूप के ग्रहण होने पर उन (ही) दोनों (इन्द्रियों) से गन्ध का ग्रहण नहीं होता है, इस लिए गन्ध गहण जिस का प्रयोजन है, ऐसा घ्राण अनुमान किया जाता है। अब तीनों के ग्रहण होते हुए उन्हीं (इन्द्रियों) से रस का ग्रहण नहीं होता है, इस लिए रस ग्रहण जिस का प्रयोजन है,वह रसना इन्द्रिय अनुमान किया जाता है। अब चारों के ग्रहण होते हुए उन्हीं (चारों) से शब्द नहीं सुना जाता है, इस लिए शब्द ग्रहण जिस का प्रयोजन है, वह श्रोत्र अनुमान किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रयोजन जब एक से दूसरे का सिद्ध नहीं होता, तो (पांच प्रयोजनों से) पांच ही इन्द्रिय हैं। (यह सिद्ध है) (इस पर आशंका करता है—)

न, तदर्थ बहुत्वात् ॥५३॥

नहीं, क्योंकि उन (इन्द्रियों) के अर्थ (पांच ही नहीं) बहुत हैं।

भाष्य—इन्द्रियों के अर्थों के पांच होने से इन्द्रिय पांच हैं, यह नहीं सिद्ध होता। क्योंकि वे अर्थ बहुत से हैं। ये इन्द्रियों के अर्थ बहुत से हैं। स्पर्श तीन प्रकार के हैं—उष्ण, शीत और अनुष्णाशीत (=न उष्ण न शीत)। रूप श्वेत और हरा आदि कई प्रकार के हैं। गन्ध भला बुरा न भला न बुरा तीन प्रकार के हैं। रस कड़वा आदि हैं। शब्द वर्णरूप और ध्वनिरूप भेद वाले हैं। सो जिस के मत में इन्द्रियों के अर्थों के पांच होने से पांच इन्द्रिय हैं, उस के मत में इन्द्रियों के अर्थों के बहुत होने से बहुत इन्द्रिय सिद्ध होने चाहियें। (इस का समाधान—)

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥५४॥

गन्ध आदि के सारे भेद गन्धत्व आदि से अलग नहीं हैं, इस लिए यह प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—गन्धत्व आदि जो उनके अपने २ सामान्यधर्म हैं, उन को लेकर गन्ध आदि के सारे भेदों की व्यवस्था हो जाती है। सब प्रकार के गन्धों के जो ज्ञान हैं, वे सब एक असाधारण साधन (घ्राण) से साध्य हैं, इस लिए वे किसी दूसरे गन्ध-ग्राहक (साधन) के प्रयोजक नहीं होते। इसी प्रकार दूसरे विषय भी (अपने २ एक ही असाधारण साधन के साध्य होते हैं—अर्थात् इष्ट गन्ध का ग्रहण जिस इन्द्रिय से होता है, उसी से अनिष्ट का भी ग्रहण होता है, इस लिए अनिष्ट गन्ध के ज्ञान में

लिए अलग इन्द्रिय मानने का कोई प्रयोजन नहीं, पर गन्ध ग्राहक इन्द्रिय से रूप का ग्रहण नहीं होता, इस लिए रूपग्राहक इन्द्रिय अलग मानना पड़ता है अर्थसमूह (अर्थात् सब प्रकार के गन्ध और सब प्रकार के रूप आदि) को लेकर अनुमान कहा है, अर्थ के एकदेश (इष्ट गन्ध आदि) को लेकर नहीं। और आप अर्थ के एक देश को लेकर विषयों के पांच होने का निषेध करते हैं, इस लिए यह निषेध अयुक्त है।

(प्रश्न) अच्छा तो किस प्रकार गन्धत्व आदि सामान्य धर्मों को लेकर गन्ध आदि की व्यवस्था होती है (उत्तर) शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत यह तीनों प्रकार का स्पर्श स्पर्शत्वसामान्य से संग्रह किया गया है। जब शीतस्पर्श का ग्रहण (त्वचा से) हो गया, तो अब उष्ण स्पर्श का वा अनुष्णा शीतस्पर्श का ग्रहण किसी दूसरे ग्राहक का प्रयोजक नहीं होता। स्पर्श के सारे भेद एक ही साधन से साध्य हैं, इसलिए जिससे शीतस्पर्श ग्रहण किया जाता है, उसीसे ही दूसरे दोनों (स्पर्श) भी (ग्रहण किये जाते हैं)। इसी प्रकार गन्धत्वेन सारे गन्धों का, रूपत्वेन सारे रूपों का, रसत्वेन सारे रसों का, और शब्दत्वेन सारे शब्दों का (ग्रहण होता है)। पर गन्ध (और रस) आदि के जो ज्ञान हैं, वे सब एक साधन से सिद्ध न हो सकने के कारण दूसरे ग्राहक (इन्द्रियों) के प्रयोजक होते हैं। इस लिए सिद्ध है, कि इन्द्रियों के विषय यतः पांच हैं, इस लिए इन्द्रिय पांच हैं। (फिर आशंका-) यदि सामान्य धर्म को लेकर सारे भेदों का इकट्ठा ग्रहण होता है, तब सिद्ध है इन्द्रियों का-

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ५५ ॥

एकत्व, क्योंकि विषयत्व को लेकर कोई भी विषय पृथक् नहीं है।

भाष्य– विषयत्व रूप सामान्य धर्म को लेकर सारे गन्ध आदि लिये जा सकते हैं। (समाधान—)

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिपञ्चत्वेभ्यः।५६।

बुद्धि लक्षण, अधिष्ठान, गति और आकृति इन के पांच २ होने से (एक इन्द्रिय) नहीं।

भाष्य—अनुमान यह नहीं होता कि विषयत्व रूप सामान्य को लेकर सारे के सारे विषय एक साधन से ग्रहण किये जा सकते हैं, अतएव वे किसी दूसरे ग्राहक की अपेक्षा नहीं रखते, किन्तु अनुमान यह होता है, कि गन्ध आदि जो पांच विषय हैं, वे अपने अलग २ गन्धत्व आदि धर्मों को लेकर अलग २ इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। इसलिए पूर्व कथन (५५) असम्बद्ध है। यही अर्थ 'बुद्धि लक्षण के पांच होने से' इस कथन से फिर कहा है। (१) अपने २ विषय का ग्रहण उस २ इन्द्रिय का लिङ्ग (ज्ञापक) है, इस लिए (रूपादि विषयों का ग्रहण=रूप आदि जो) बुद्धियें हैं, वे ही लक्षण हैं। इस विषय पर 'इन्द्रियार्थ पञ्चत्वात्' सूत्र पर भाष्यकार आए हैं। सो रूप बुद्धि, रसबुद्धि, गन्धबुद्धि, स्पर्शबुद्धि और शब्दबुद्धि इन) बुद्धि रूप लक्षणों के पांच होने से पांच ही हैं इन्द्रिय। (२) अधिष्ठान (रहने के स्थान) भी इन्द्रियों के पांच ही हैं। त्वचा इन्द्रिय जिस का लिङ्ग स्पर्शग्रहण है, उस का अधिष्ठान सारा शरीर है। नेत्र जिस का लिङ्ग बाहर निकल कर रूप का ग्रहण है, उस का अधिष्ठान काली धीरी है। घ्राण का अधिष्ठान नासा, रसना का अधिष्ठान जिह्वा, श्रोत्र का अधिष्ठान कान का छिद्र है, क्योंकि गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के लिङ्ग हैं।(३) गति भेद (विषयों पर पहुंच के भेद) से भी इन्द्रियों का भेद है। काली धीरी के साथ सम्बद्ध जो नेत्र है, वह बाहर निकल कर रूप के आश्रय जो द्रव्य हैं, उन को प्राप्त होता है, पर त्वचा आदि जो इन्द्रिय हैं, उन के निकट

विषय चल कर आते हैं । और शब्द सन्तान की रीति से श्रोत्र में पहुंचता है। (४) आकृति=परिमाण इतनापन यह भी (इन्द्रियों का) पांच प्रकार का है। घ्राण रसना और त्वचा तो अपने २ स्थान के बराबर है, यह बात विषयों के ग्रहण से अनुमान की जाती है। नेत्र काली धीरी के आश्रय है, और वह बाहर निकल कर विषयों को प्राप्त होता है। श्रोत्र आकाश से अलग नहीं है, विभु है और शब्दमात्र के अनुभव से अनुमान किया जाता है। पुरुष के अदृष्ट के अधीन अपने अधिष्ठान (कर्णशष्कुली) के नियम से शब्द का व्यञ्जक है। (५) जाति योनि को कहते हैं। इन्द्रियों के योनि (स्रोत) पृथिवी आदि पांच भूत हैं । इस लिए प्रकृति के पांच होने से भी पांच इन्द्रिय हैं यह सिद्ध है ।

अवतरणिका—अच्छा तो यह कैसे निश्चय हो, कि इन्द्रियों के कारण भूत हैं, अव्यक्त नहीं—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ५७ ॥

(इन्द्रियों द्वारा) भूतों के गुण विशेषों (गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द) की उपलब्धि से (इन्द्रिय) तद्रूप (भूत रूप) हैं ।

भाष्य—यह नियम देखा गया है, कि वायु आदि भूत अपने २ विशेष गुणों के ही अभिव्यञ्जक होते हैं। वायु स्पर्श का व्यञ्जक, जल रस का व्यञ्जक, तेज रूप का, और पार्थिव कोई द्रव्य किसी द्रव्य के गन्ध का व्यञ्जक होता है*। इन्द्रियों में भी भूतों के गुण विशेषों की उप-

---

* केसर पार्थिव है, यदि उसका गन्ध जाता रहे, तो गोका घी, जो कि पार्थिव है, उस को अभिव्यक्त कर देता है । इस प्रकार पार्थिव द्रव्य घृत पृथिवी के गुणविशेष गन्ध का अभिव्यञ्जक देखा गया है । सो जब घ्राण गन्ध का अभिव्यञ्जक है, तो वह भी पार्थिव

लब्धि का नियम है (कि घ्राण पृथिवी के गुण विशेष गन्ध का ही, रसना जल के गुण विशेष रस का ही, नेत्र तेज के गुणविशेष रूप का ही, त्वचा वायु के गुणविशेष स्पर्श का ही और श्रोत्र आकाश के गुणविशेष शब्द का अभिव्यञ्जक है) । इस हेतु भूतों के गुण विशेषों की उपलब्धि से हम मानते हैं, कि इन्द्रियों के मूल भूत हैं अव्यक्त नहीं ।

(अर्थ परीक्षा प्रकरण-)

गन्ध आदि पृथिवी आदि के गुण हैं, यह कहा है (१ । १ । १४ में) । यह उद्देश तो दोनों तरह एक जैसा हो सकता है, चाहे पृथिवी आदि (इनमें से हरएक) एक २ गुण वाला हो, चाहे अनेक गुणों वाले हों इस लिए कहते हैं—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताःपृथिव्याः ॥ ५८ ॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्या काशस्योत्तरः ॥ ५९ ॥

गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द इन में से स्पर्श पर्यन्त (चार) पृथिवी के गुण हैं । ५८ । और पहले २ को हटा कर जल तेज और वायु के हैं अन्तला आकाश का है ।

भाष्य—'स्पर्शपर्यन्तानाम्' इस प्रकार विभक्ति को बदल लेना (अर्थात् स्पर्श पर्यन्तों में से पहले २ को हटा कर) । आकाश का अगला है शब्द, (किन से अगला) स्पर्शपर्यन्तों से । (प्रश्न)

ही हो सकता है । इसी प्रकार लड्डु के रस का व्यञ्जक जिह्वा का जल, रूप का व्यञ्जक दीप आदि तेज, पसीने के जल के स्पर्श का व्यञ्जक पंखे का वायु, और शब्द का व्यञ्जक भेरी आदि का आकाश है ।

तो (उत्तर इस पद में) तरप् प्रत्यय का निर्देश कैसे हुआ (क्योंकि तरप् दो में से एक के निर्धारण में होता है और यहां बहुतों में से शब्द का निर्धारण किया है) ? (उत्तर) स्वतन्त्र बोला जाने की शक्ति से (अर्थात् उत्तर शब्द निर्धारणार्थक (तरप् प्रत्ययान्त) नहीं, किन्तु यह अव्युत्पन्न शब्द है) इस कारण उत्तर शब्द का अर्थ परला लिया जाता है। उद्देश सूत्र में स्पर्श पर्यन्तों से परला शब्द पढ़ा है। अथवा विवक्षित है (तरप् प्रत्यय), क्योंकि (उत्तर पद से शब्द के निर्धारण करने में दूसरा केवल) स्पर्श विवक्षित है। जब स्पर्श पर्यन्तों को नियुक्त कर दिया, तो जो और है, वह उत्तर (अर्थात् स्पर्श और शब्द इन दो में से)=परला एक शब्द है।

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६० ॥

(पूर्वपक्षी-) नहीं, क्योंकि सारे गुणों की उपलब्धि नहीं होती।

भाष्य—यह गुणों का नियोग ठीक नहीं। क्योंकि जिस भूत के जितने गुण हैं, वे सारे उस के इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होते हैं। पार्थिव घ्राण से स्पर्शपर्यन्त नहीं गृहीत होते, अकेला गन्ध ही गृहीत होता है, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों और गुणों के विषय में जानना। (प्रश्न) अच्छा तो कैसे इन गुणों का विनयोग करना- (उत्तर—)

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६१ ॥

एक २ करके अगले २ का गुण होने से अगलों की उस इन्द्रिय से अनुपलब्धि होती है (अर्थात् गन्ध ही एक पृथिवी का गुण है, इस कारण पार्थिव घ्राण से गन्ध की ही उपलब्धि होती

है, रसादि की नहीं । इसी प्रकार रस ही एक जल का, रूप ही एक तेज का, स्पर्श ही एक वायु का और शब्द ही एक आकाश का गुण है)

भाष्य—गन्ध आदि में से एक २ यथाक्रम पृथिवी आदि में से एक २ का गुण है । इस लिए उन की अनुपलब्धि अर्थात् घ्राण से रस रूप स्पर्श की, रसना से रूप स्पर्श की, नेत्र से स्पर्श की अनुपलब्धि होती है । (प्रश्न) अच्छा तब ये भूत अनेक गुणों वाले क्यों गृहीत होते हैं (उत्तर) संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है । अर्थात् पृथिवी आदि में जो रस आदि गृहीत होते हैं, वे उस में अपने नहीं किन्तु जल आदि के संसर्ग से उस में गृहीत होते हैं । इसी प्रकार शेषों में भी (अर्थात् जल आदि में भी रूप आदि) । (प्रश्न) तब (जो इन में गुणों का) नियम (है, वह नहीं बन सकता, कि पृथिवी चार गुणों (गन्ध रस रूप स्पर्श) वाली है, जल तीन गुणों (रस रूप स्पर्श) वाले हैं, तेज दो गुणों (रूप स्पर्श) वाला है, वायु एक गुण (स्पर्श) वाला है क्योंकि संसर्ग का जो नियम नहीं (अर्थात् जब चारों का आपस में संसर्ग है, तो चारों में चारों गुण पाये जाएं, यह नियम न हो, कि पृथिवी में चार, जल में तीन, तेज में दो और वायु में एक हो)। (उत्तर) नियम बन जाता है (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर—)

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६२ ॥

व्याप्त है वरला परले से ।

भाष्य—पृथिवी आदि में से पूर्वला २ परले २ से व्याप्त है, इस लिए संसर्ग का अनियम है (अर्थात् पृथिवी तो जल तेज और वायु से व्याप्त है, जल तेज वायु पृथिवी से नहीं । इसी प्रकार जल, तेज और वायु से और तेज, वायु से व्याप्त है) । पर यह (संसर्ग) भूतसृष्टि के समय हुआ है, अब नहीं हो रहा ।

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६२ ॥

नहीं, क्योंकि पार्थिव और जलीय द्रव्य प्रत्यक्ष हैं।

भाष्य—'नहीं' इस से त्रिसूत्री (सूत्र ६०-६२) का खण्डन किया है। क्यों (नहीं)? क्योंकि पार्थिव द्रव्य और जलीय द्रव्य प्रत्यक्ष हैं। जब नियम यह है, कि महत्त्व, अनेकद्रव्यत्व और रूप से प्रत्यक्ष होता है। तब तैजस ही द्रव्य प्रत्यक्ष हो, पार्थिव और जलीय प्रत्यक्ष न हों, क्योंकि उन में रूप (अपना) नहीं है। पर तैजस की नाईं पार्थिव और जलीय भी प्रत्यक्ष होते हैं, इस से सिद्ध है, कि संसर्ग से भूतों ने अनेक गुण नहीं लिए (किन्तु उन के अपने हैं)। और यदि कोई कहे, कि पार्थिव और जलीय द्रव्यों की प्रत्यक्षता अन्य भूत (अर्थात् तेज) के रूप के कारण होती है, उस के पक्ष में (इसी संसर्ग से) वायु भी प्रत्यक्ष आता है, या इस नियम में (कि तेज के संसर्ग से पृथिवी जल तो प्रत्यक्ष हों, और वायु न हो) कारण कहना चाहिये।

(दूसरी व्याख्या-) अथवा 'पार्थिव और जलीय रस के प्रत्यक्ष होने से'। अर्थात् पार्थिव रस तो छः प्रकार का है और जलीय रस निरा मधुर ही है। यह बात संसर्ग से नहीं हो सकती (पृथिवी में रस जल का होता, तो मधुर ही होता, छः प्रकार का न होता)

(तीसरी व्याख्या-) अथवा 'पार्थिव और जलीय रूप के प्रत्यक्ष होने से' संसर्ग में जब रूप इन दोनों ने तेज से ही लिया है, तो इन का रूप (तेज की नाईं) दूसरे का प्रकाशक होता, न कि (दूसरे से) प्रकाशने योग्य होता। 'एकविध और अनेक विध होने में भी पार्थिव और जलीय रूप के प्रत्यक्ष होने से' (तैजस तो एक ही प्रकार का शुक्ल रूप है, और प्रकाशक है) पार्थिव रूप हरा

लाल पीला आदि अनेक प्रकार का है, जल का रूप यद्यपि शुक्ल ही है, पर है अप्रकाशक। यह बात एक गुण वालों के संसर्ग में नहीं उपलब्ध होती (जो जैसे गुण वाले से मिलता है, वैसा ही गुण उस में आता है) यह उदाहरणमात्र है । इस से आगे विस्तार (जैसा चाहो कर सकते हो)। जैसे 'स्पर्श जो पार्थिव और तैजस है, उन के प्रत्यक्ष होने से'। पृथिवी का स्पर्श अनुष्णाशीत है, तेज का उष्ण प्रत्यक्ष सिद्ध है, यह बात एक २ गुण वालों की अनुष्णाशीत स्पर्श वाले वायु के संसर्ग से नहीं घट सकती । अथवा पार्थिव और जलीय द्रव्य अपने २ नियत गुणों वाले प्रत्यक्ष होते हैं । पार्थिव द्रव्य चार गुणों वाला, और जलीय तीन गुणों वाला प्रत्यक्ष है। इस से इन का कारण भी वैसा अनुमान किया जाता है। कार्य अपने कारण का लिङ्ग होता है, कारण के होने से कार्य होता है । इस प्रकार तैजस और वायव्य द्रव्यों में गुण की व्यवस्था के प्रत्यक्ष होने से उन के कारण द्रव्य में उसी व्यवस्था का अनुमान होता है। 'पार्थिव और जलीय द्रव्यों का शुद्ध रूप प्रत्यक्ष देखने से'। अर्थात् पार्थिव द्रव्य जलादि से निखरा हुआ प्रत्यक्ष ग्रहण किया जाता है, जलीय द्रव्य दूसरे दोनों से निखरा हुआ और तैजस द्रव्य वायु से निखरा हुआ गृहीत होता है, तौ भी एक २ गुण वाला नहीं गृहीत होता है, इस लिए इस में कोई अनुमान नहीं है कि 'वरला परले से व्याप्त है' (६०)। इस में कोई भी अनुमापक लिङ्ग नहीं ज्ञात होता है, जिस से इस परिणाम पर पहुंचें। और जो यह कहा है कि 'वरला परले से व्याप्त है, यह बात भूतों के सृष्टि समय की जाननी न कि अब की' यह अयुक्त है, क्योंकि इस नियम में कोई प्रमाण नहीं, अब भी वरला परले से व्याप्त देखा गया है, जैसे वायु से व्याप्त हुआ तेज । और व्याप्ति संयोग है, वह दोनों का समान है, तब वायु से संयुक्त होने से तेज तो स्पर्श वाला है, पर

तेज से संयुक्त होने से वायु रूप वाला नहीं, इस नियम में कोई कारण नहीं है। किञ्च-तैजस स्पर्श से वायु के स्पर्श का अभिभव होने से उस का अग्रहण देखा गया है (तप्त वायु में वायु का अनुष्णाशीत स्पर्श गृहीत नहीं होता)। पर उसी से उसी का अभिभव नहीं होता (यदि तेज में भी स्पर्श वायु का ही हो, तो वायु के स्पर्श का उस से अभिभव न हो)। सो इस प्रकार न्यायविरुद्ध प्रवाद का खण्डन करके 'न सर्व गुणानुपलब्धेः' (६०) इस आक्षेप का समाधान करते हैं—

पूर्वं पूर्वंगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम्* ॥६४॥

पूर्वले २ (गन्ध आदि) गुण के उत्कर्ष से उस २ गुण की ग्राहकता है।

भाष्य—इस कारण से सारे गुणों की उपलब्धि नहीं होती। घ्राण आदि को पूर्वले २ गन्ध आदि के उत्कर्ष से उस २ (गुण) की प्रधानता है। प्रधानता क्या है, विषय का ग्राहक होना। गुण का उत्कर्ष क्या है ? (उस गुण के) अभिव्यक्त करने में समर्थ होना। जैसे बाह्य जो पार्थिव जलीय और तैजस द्रव्य क्रमशः चार तीन और दो गुणों वाले हैं, पर वे अपने सारे गुणों के व्यञ्जक नहीं होते, किन्तु गन्ध रस रूप के उत्कर्ष से क्रमशः गन्ध रस रूप के व्यञ्जक होते हैं (अर्थात् घृत पार्थिव होने से चार गुणों वाला हुआ भी केसर के निरे गन्ध का ही व्यञ्जक होता है रस आदि का नहीं, जिह्वा का जल निरे रस का ही व्यञ्जक होता है और दीपक निरे रूप का ही व्यञ्जक होता है) इसी प्रकार घ्राण रसना और नेत्र यद्यपि चार तीन और दो गुणों वाले हैं, तथापि वे सारे गुणों के ग्राहक नहीं

---

* वार्तिककार ने 'पूर्वं पूर्वं गुणोत्कर्षात्' पाठ कल्पना करके 'पहला २ इन्द्रिय (उस २) गुण के उत्कर्ष से उस २ विषय का ग्राहक है' यह व्याख्या भी की है।

होते। गन्ध रस रूप के उत्कर्ष से यथाक्रम गन्ध रस रूप के ही ग्राहक होते हैं। इस लिये घ्राण आदि से सारे गुणों की उपलब्धि नहीं होती। हां जिस की प्रतिज्ञा केवल इतनी ही है, कि घ्राण गन्ध वाला होने से गन्ध का ग्राहक है, उस के मत में गुणों के सम्बन्ध के अनुसार घ्राण आदि से सारे गुणों के ग्रहण का दोष आता है (अर्थात् गन्ध वाला होने मात्र से गन्ध का ग्राहक नहीं, किन्तु गन्ध के उत्कर्ष से गन्ध का ग्राहक है। इसी लिए रस का ग्राहक नहीं, क्योंकि रस आदि का उत्कर्ष घ्राण में नहीं)।

अवतरणिका--अच्छा तो कोई ही इन्द्रिय पार्थिव है सारे नहीं, इसी प्रकार कई इन्द्रिय जलीय तैजस और वायव्य हैं, सारे नहीं, यह व्यवस्था किस कारण से है।

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६५ ॥

उस की व्यवस्था बाहुल्य के कारण है।

भाष्य--बाहुल्य से तात्पर्य पुरुष के अदृष्ट के अधीन किसी ऐसे विशिष्ट द्रव्य का संयोग है, जो कि (उस पुरुष की) प्रयोजन सिद्धि के समर्थ हो। 'भूयस्' शब्द का प्रयोग प्रकर्ष अर्थ में होता है, जैसे बहुत बड़े विषय को 'भूयान्' कहा जाता है। जैसे पुरुष के अदृष्ट के अधीन उस के अलग २ प्रयोजनों के साधने वाले विष ओषधि मणि आदि द्रव्य रचे हुए हैं, न कि हर एक द्रव्य हर एक प्रयोजन के लिए, इसी प्रकार अलग २ विषय को ग्रहण करने वाले घ्राण आदि रचे गए हैं, सारे विषयों को ग्रहण करने के सामर्थ्य वाले नहीं (रचे गए)।

अवतरणिका-इन्द्रिय अपने (निजके) गुणों को उपलब्ध नहीं करते। क्यों? यह यदि पूछो तो उत्तर है-

सगुणानामिन्द्रिय भावात् ॥ ६६ ॥

क्योंकि गुणों के समेत ही उन का इन्द्रियपन है (अर्थात् अपने गन्ध समेत ही घ्राण इन्द्रिय है, दूसरे के गन्ध के ग्रहण करने में अपना गन्ध उस का सहकारी होता है। अब अपने गन्ध के ग्रहण में सहकारि कारण कौन हो ?)

भाष्य--घ्राण आदि अपने गन्ध आदि को उपलब्ध नहीं करते किस कारण से ? यदि यह (पूछो, तो सुनो) क्योंकि अपने २ गुणों के समेत ही घ्राण आदि को इन्द्रियत्व है । घ्राण जो है, वह अपने साथ मिल कर काम करने वाले अपने गन्ध के सहित हुआ ही, बाह्य गन्ध को ग्रहण करता है। अब उस को अपने गन्ध का ग्रहण साथी के अभाव से नहीं होता है, इसी प्रकार शेष (इन्द्रियों) को भी (जानों) । अच्छा यदि (वही गन्ध) सहकारि भी हो, और घ्राण का ग्राह्य भी हो ? इस का उत्तर देते हैं—

तेनैवतस्याग्रहणाच्च* ॥ ६७ ॥

उसी से उस का ग्रहण न होने से।

भाष्य— इस प्रकार भी इन्द्रियों को अपने गुणों की उपलब्धि नहीं बन सकती। जो कहता है, कि जैसे नेत्र से बाह्य द्रव्य गृहीत होता है, वैसे उसी नेत्र से वही नेत्र गृहीत हो, वैसी यह बात है। दोनों में, अनुभव के हेतु का अभाव, समान है (उसी नेत्र से उसी नेत्र का ग्रहण अनुभव सिद्ध नहीं, इसी प्रकार उसी गन्ध से उसी गन्ध का ग्रहण नहीं बनता)

---

* वाचस्पति मिश्र ने इस को ग्रहणक वाक्य माना है। पर 'इत्यत आह' ऐसा अवतरण सूत्र का ही देखा जाता है । और न्यायसूची निबन्ध में भी यह सूत्र है। इस लिए हमने विचार कोटि में रख कर सूत्रांक दे दिया है।

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ६८ ॥

(पूर्वपक्षी-) नहीं, क्योंकि शब्द गुण की उपलब्धि होती है

भाष्य--इन्द्रिय अपने गुणों को नहीं उपलब्ध करते, यह बात ही ठीक नहीं । देखो श्रोत्र से अपना गुण शब्द उपलब्ध होता ही है (सिद्धान्ती-)

तदुलब्धि रितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ।६९।

उस (शब्द) की उपलब्धि है, क्योंकि द्रव्य और गुण एक दूसरे से विलक्षण धर्मों वाले हैं ।

भाष्य--शब्द गुण के साथ सगुण हुआ आकाश, इन्द्रिय नहीं । न ही शब्द शब्द का प्रकाशक है (किन्तु आकाशमात्रइन्द्रिय है, और वही शब्द का प्रकाशक है) । और घ्राण आदि का अपने गुण को ग्रहण करना न प्रत्यक्ष है, न अनुमानसिद्ध है । पर श्रोत्र रूप आकाश से शब्द का ग्रहण और आकाश का शब्द गुण वाला होना अनुमान सिद्ध हैं । इस में परिशेष अनुमान जानना । जैसे आत्मा तो श्रोता है, साधन (इन्द्रिय) नहीं, मन को श्रोत्र (सुनने का इन्द्रिय) मानें, तो बहिरा हो जाना आदि नहीं बनेगा, पृथिवी आदि का सामर्थ्य घ्राण (सूंघने का साधन) आदि होने में है, श्रोत्र (सुनने का साधन) होने में सामर्थ्य नहीं । और है अवश्य कोई सुनने का साधन, आकाश बाकी बचता है सो परिशेष से आकाश है श्रोत्र ।

इति श्रीवात्स्यायनीये भाष्ये तृतीयस्याद्यमाह्निकम्

तीसरा अध्याय—दूसरा आह्निक

इन्द्रिय और अर्थों की परीक्षा की गई, अब बुद्धि की परीक्षा क्रमप्राप्त है । वह क्या अनित्य है वा नित्य है । (प्रश्न) किस से संशय हुआ (उत्तर)—

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥

कर्म और आकाश के समान धर्म वाली होने से संशय है ।

भाष्य—[कर्म स्पर्शशून्य है, वह अनित्य है, आकाश स्पर्शशून्य है, वह नित्य है) इन दोनों के समान धर्म, स्पर्शशून्य होना बुद्धि में उपलब्ध होता है । और उत्पत्ति विनाश धर्म वाला होना वा इस से विपरीत (उत्पत्ति विनाश से रहित होना) जो यथाक्रम अनित्य और नित्य के विशेष धर्म हैं, वे उस बुद्धि में उपलब्ध नहीं होते, इस से संशय होता है (कि स्पर्श शून्य बुद्धि कर्म की नाईं अनित्य है, वा आकाश की नाईं नित्य है) (प्रश्न) यह संशय अनुपपन्न है। क्योंकि बुद्धि का अनित्य होना प्रत्येक शरीरधारीको सुख आदि की नाईं स्वानुभवसिद्ध है। (सब को) यह अनुभव होता है, कि मैं जानूंगा, जानता हूं, और मैंने जाना था । यह तीन कालों में (पृथक् २) होने वाली बुद्धि की अभिव्यक्ति विना उत्पत्ति और नाश के हो नहीं सकती, इसलिए तीन कालों में अभिव्यक्ति के कारण बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध होता है । प्रमाणसिद्ध यह बात शास्त्र में भी कही है 'इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान (१।१।४) तथा 'युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति मन का लिङ्ग है (१ । १ । १६) इत्यादि । इस लिए संशय का प्रकरण नहीं बन सकता है । किन्तु दर्शन (सांख्य दर्शन) में जो प्रवाद है, उस के खण्डन के लिए प्रकरण है । इस प्रकार देखते हुए सांख्य कहते हैं, कि बुद्धि पुरुष

का अन्तःकरण रूप है और अवस्थित (टिकी रहने वाली) है, और साधन भी कहते हैं—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ।। २ ।।

विषय की प्रत्यभिज्ञा से ।

भाष्य—यह प्रत्यभिज्ञा क्या होती है? 'जिस अर्थ को मैंने पहले जाना था, उसी इस अर्थ को अब जान रहा हूं,' यह जो दो ज्ञानों का एक अर्थ में मेल का ज्ञान है, यही प्रत्यभिज्ञा है। यह बुद्धि के टिका रहने से बन सकती है । जब बुद्धि की उत्पत्ति विनाश वाली अनेक व्यक्तियें हों, तो यह प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती है। क्योंकि एक के जाने हुए की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा नहीं होती।

साध्यसमत्वादहेतुः ।। ३ ।।

साध्यसम होने से यह हेतु ठीक नहीं।

भाष्य—जैसे बुद्धि की नित्यता साध्य है, वैसे प्रत्यभिज्ञा भी (बुद्धि का धर्म है यह) साध्य है। क्या कारण? चेतन का धर्म साधन में नहीं बन सकता। निःसन्देह पुरुष का यह धर्म है, जो कि ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध प्रत्यय वा अध्यवसाय है चेतन ही पूर्व जाने हुए अर्थ को पहचानता है, इस कारण उस की नित्यता युक्त है। यदि साधन में चेतनता मानी जाए, तो फिर चेतन का स्वरूप (क्या रहा) कहना होगा। स्वरूप बतलाए बिना अलग एक आत्मा है ऐसा मानना अशक्य है। ज्ञान यदि अन्तःकरण रूप बुद्धि का धर्म मान लिया, तो चेतन का अब क्या स्वरूप क्या धर्म, क्या तत्त्व (चेतनत्व) है। बुद्धि में वर्तमान ज्ञान से यह चेतन क्या करता है।

'चेतता है, यदि ऐसे कहो, तो यह ज्ञान से अलग पदार्थ का कथन नहीं' अर्थात् पुरुष चेतता है और बुद्धि जानती है, यदि

ऐसा कहो, तो यह ज्ञान से कोई भिन्न बात नहीं कही। चेतना, जानना, उपलब्ध करना यह एक ही बात है। बुद्धि जितलाती है यदि ऐसा कहो। तो ठीक, पुरुष जानता है बुद्धि जितलाती है यह सत्य है। ऐसा मानने में ज्ञान पुरुष का सिद्ध होता है, न कि अन्तः करण रूप बुद्धि का।

किञ्च—(तुम्हारी चाल पर तो) अलग २ पुरुषों के लिए यदि कोई अलग २ शब्दों की व्यवस्था करे, तो प्रतिषेध कहना होगा' अर्थात् यदि कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता है, कि कोई पुरुष चेतता है, कोई समझता है, कोई उपलब्ध करता है, कोई देखता है। ये (एक ही शरीर में) अलग २ पुरुष हैं चेतने वाला, समझने वाला, उपलब्ध करने वाला, और देखने वाला। ये सब एक के धर्म नहीं'। तो इस पर प्रतिषेध हेतु क्या कहोगे।

'अर्थ का अभेद (एकता), यदि यह कहो, तो समान है' अर्थात् इन सारे शब्दों (चेतता है, समझता है इत्यादि) में अर्थ का कोई भेद नहीं, इस लिए इन में व्यवस्था नहीं बन सकती। यदि ऐसा कहो, तो यह इधर भी समान ही है। पुरुष चेतता है, बुद्धि जानती है, इस (चेतने और जानने) में भी तो अर्थ का भेद नहीं। वहां दोनों के चेतन होने से दोनों में से एक का लोप होगा (उसका कोई अलग काम नहीं रहने से उसका मानना न बनेगा)। और यदि कहो 'जिस से पुरुष जानता है' वह बुद्धि है, इस व्युत्पत्ति से मन का ही नाम बुद्धि है और वह नित्य है'। तो हो यह बात ऐसे ही, पर विषय की प्रत्यभिज्ञा से मन (जो कर्ता का करण है, उस) की नित्यता नहीं सिद्ध होती। करण (साधन) के भेद में भी कर्ता के एक होने से प्रत्याभिज्ञा देखी जाती है, आंख की नाई बाएं से देखे की दाएं से प्रत्याभिज्ञा होती है। वा प्रदीप की नाईं, किसी अन्य प्रदीप से देखे की अन्य प्रदीप से प्रत्याभिज्ञा होती है। इस लिए यह

(प्रत्यभिज्ञा) ज्ञाता की नित्यता में हेतु है (न कि ज्ञान के करण की नित्यता में) और (सांख्य) जो यह मानता है, कि अवस्थित हुई ही बुद्धि की विषयानुसार वृत्तियें बाहर निकलती हैं यही ज्ञान हैं, और वृत्ति जो है, वह वृत्ति वाले (बुद्धि) से भिन्न नहीं है। पर यह—

न, युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥

नहीं, क्योंकि (विषयों का) एक साथ ग्रहण नहीं होता।

भाष्य—वृत्ति और वृत्ति वाले का भेद न हुआ, तो वृत्ति वाले के अवस्थान (टिका रहने) में वृत्तियों का अवस्थान आवश्यक हुआ, तब ये जो विषयों के ज्ञान हैं, वे टिके रहने वाले हुए, इस लिए एक साथ सारे विषयों का ग्रहण आता है (क्योंकि पहली वृत्तियें भी अवस्थित हैं)।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में (बुद्धि का) विनाश आता है।

भाष्य—और जब प्रत्यभिज्ञा (वृत्ति) जाती रही, तब वृत्ति वाला भी न रहेगा, इस प्रकार अन्तःकरण का नाश आता है। और उस से उलट (वृत्ति के नाश में भी वृत्तिमान् टिका रहता है) मानो, तो (दोनों का) भेद सिद्ध हो गया। सो मन विभु नहीं और एक है, जो बारी से इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है, सो—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६ ॥

क्रम (से) सम्बन्ध होने से एक साथ ग्रहण नहीं होता।

भाष्य—इन्द्रियों के अर्थों का। इस लिए वृत्ति और वृत्ति वाले का भेद है। एक होने में (वृत्तियों का) प्रादुर्भाव और तिरोभाव न हो।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तर व्यासङ्गात् ।७।

और दूसरे विषय में फंसा हुआ होने से (विषयान्तर की) अनुपलब्धि होती है।

भाष्य—अप्रत्यभिज्ञा अर्थात् अनुपलब्धि। मन जब विषयान्तर में फंसा हुआ हो, तब जो किसी विषय की अनुपलब्धि होती है, यह तभी हो सकती है, जब वृत्ति और वृत्ति वाले का भेद हो, अभेद में तो व्यासक्ति (मन की फंसावट) कुछ अर्थ नहीं रखती (अर्थात् जब वृत्ति और वृत्ति वाले का भेद ही नहीं, तो मन (जो वृत्ति वाला है, वह) दूसरे विषय में फंसा हुआ था, इस लिए इस-का ज्ञान (अर्थात् वृत्ति) नहीं हुई, इस का क्या अर्थ रहा)। अन्तः करण के विभु होने में तो वारी से इन्द्रियों के साथ संयोग–

न, गत्यभावात् ॥ ८ ॥

नहीं (बन सकता) गति के अभाव से।

भाष्य--(विभु होने में तो) अन्तःकरण से इन्द्रिय प्राप्त ही है, इसलिए प्राप्ति के लिए गति का अभाव होगा। इस पक्ष में (अन्तःकरण का इन्द्रिय २ के साथ) क्रम से वर्तना बनता नहीं, इसलिए एकसाथ न ग्रहण करना नहीं बनेगा। अन्तःकरण हुआ विभु, सो उस की गति के अभाव से (विषयों के) एक साथ न ग्रहण करने का तो प्रतिषेध हो गया, अब और कोई लिङ्ग है नहीं, कि जिस से (एक साथ अग्रहण का) अनुमान किया जाए। जैसे दूर निकट के एक साथ ग्रहण करने से नेत्र की गति का प्रतिषेध किया, तौ भी हाथ के व्यवधान में गति की रोक हो जाने से चन्द्रमा नहीं दीखता, इस से नेत्र की गति का अनुमान हो जाता है (ऐसा यहां कोई लिङ्ग नहीं)। सो यह विवाद न अन्तःकरण के विषय में है, न उस की नित्यता के विषय में है। क्योंकि मन का अन्तःकरण होना और नित्य होना

सिद्ध है। (प्रश्न) तब विवाद किस अंश में है ? (उत्तर) उस के विभु होने में, और वह प्रमाणसिद्ध है नहीं, इस लिए उस का प्रतिषेध किया है। और (दूसरा वृत्ति वृत्ति वाले के अभेद में विवाद है) अन्तःकरण है एक, और ज्ञानरूप वृत्तियें हैं नाना, जैसे नेत्र द्वारा ज्ञान, घ्राण द्वारा ज्ञान, अथवा रूप का ज्ञान, गन्ध का ज्ञान इत्यादि। यह बात वृत्ति और वृत्ति वाले की एकता में बन नहीं सकती। (तीसरा भेद है) पुरुष जानता है, न कि अन्तःकरण। इससे (आत्मा को ज्ञाता और अन्तःकरण को ज्ञान का साधन मानने से) दूसरे विषय में जो व्यासक्ति (फंसावट) है, उस का भी उत्तर दिया गया। दूसरे विषय का ग्रहण ही दूसरे विषय में व्यासक्ति है, वह पुरुष का धर्म है, अन्तःकरण का नहीं। हां कहीं किसी इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध और किसी के साथ असम्बन्ध यह व्यासक्ति मन की मानी जाती है। सो एक है अन्तःकरण और नाना हैं वृत्तियां। पर वृत्ति का अभेद मान कर यह (अगला सूत्र) कहा है—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः ।९।

स्फटिक (बिल्लौर) के अन्य होने के अभिमान की नाईं उस के (वृत्ति के) अन्य होने का अभिमान होता है।

भाष्य–उस वृत्ति में नाना होने का अभिमान होता है (वस्तुतः नाना नहीं होतीं) जैसे दूसरे किसी द्रव्य की उपाधि से (श्वेत भी) स्फटिक के अन्य होने का अभिमान होता है कि (स्फटिक) नीला है वा लाल है। इस प्रकार अन्य विषय की उपाधि से (वृत्ति के अन्यत्व का अभिमान होता है)।

(इस का प्रतिषेध भाष्य–) 'नहीं, क्योंकि हेतु का अभाव है' अर्थात् स्फटिक के अन्य होने के अभिमान की नाईं ज्ञानों में यह नानात्व का अभिमान गौण है, किन्तु गन्ध (रस) आदि के

अन्य होने के अभिमान की नांई (असली) नहीं है, इस में हेतु कोई नहीं है। हेतु के अभाव से (प्रतिज्ञात अर्थ) बन नहीं सकता है। (प्रश्न) हेतु का अभाव (तुम्हारे पक्ष में भी) वैसा है (उत्तर) यदि ऐसा कहो तो नहीं, क्योंकि (गन्ध रस आदि) ज्ञानों की क्रम से उत्पत्ति और नाश देखे जाते हैं। यह देखा जाता है, कि क्रम से इन्द्रियों के विषयों में ज्ञान उत्पन्न होते हैं, और नष्ट होते हैं (अर्थात् पहले पुरुषज्ञान, फिर उस का नाश हो कर कोई दूसरा ज्ञान इत्यादि होता रहता है) इसलिए गन्ध (आदि) के अन्यत्व के अभिमान की नांई यह ज्ञानों में नानात्व का अभिमान है।

अवतरणिका—'स्फटिक के अन्य होने के अभिमान की नांई' इस बात को न सहारता हुआ क्षणिक वादी (जिस के मत में सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं) कहता है--

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ॥ १० ॥

क्योंकि व्यक्तियें सब क्षणिक हैं, इस लिए स्फटिक में भी और २ (व्यक्ति) की उत्पत्ति से (पूर्वोक्त कथन) हेतु से शून्य है।

भाष्य—'स्फटिक तो वही बना रहता है, केवल उपाधि के भेद से उस में नानात्व का अभिमान होता है' यह पक्ष हेतु से शून्य है। क्यों? इस लिए, कि स्फटिक में भी और २ (व्यक्ति) की उत्पत्ति होती है। स्फटिक में भी (क्षण २ में) अन्य व्यक्तियें उत्पन्न होती जाती हैं, और दूसरी (=पहली २) नाश होती जाती हैं। कैसे? क्योंकि व्यक्तियें सब क्षणिक हैं। छोटे से छोटे काल का नाम है, क्षण, जिस की एक क्षण ही स्थिति हो, वे क्षणिक कहलाते हैं। (प्रश्न) कैसे जाना जाता है, कि व्यक्तियें क्षणिक हैं, (उत्तर) शरीर आदि में बढ़ने और घटने का सिलसिला देखने से। (जाठराग्नि से) पाक द्वारा आहार का जो रस निकलता है, उस रस का शरीर आदि

में रुधिर आदि रूप से लगातार घटना और बढ़ना होता रहता है। बढ़ने से व्यक्तियें उत्पन्न होती हैं और घटने से नाश होती हैं। ऐसा होने पर ही अवयव बदलते रह कर कालान्तर में शरीर की वृद्धि ग्रहण की जाती है (शरीर वह नहीं रहता, जो पहले था, उससे बड़ा हो गया है, इसलिए उस से अलग है। और ऐसा परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है)। सो यह व्यक्तिविशेष (शरीर आदि) का धर्म व्यक्तिमात्र में जानना चाहिये (अर्थात् सभी व्यक्तियें क्षण २ में बदलती रहती हैं) (इस वाद का खण्डन—)

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ।११।

(सब के लिए एक) नियम में कोई हेतु नहीं, इस लिए जो जैसा देखा जाता है, उस को वैसा मानाना चाहिये।

भाष्य—'सब व्यक्तियों में घटने बढ़ने का सिलसिला शरीर की नाईं है' यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं। इस बात का प्रतिपादक न कोई प्रत्यक्ष है न अनुमान है। इस लिए जहां जैसा देखने में आता है, वहां वैसा मानना चाहिये। जहां २ बढ़ने घटने का सिलसिला देखा जाता है, वहां २ बढ़ने घटने के सिलसिले के देखने से और २ व्यक्तियों की उत्पत्ति मानी जाती है, जैसे शरीर आदि में। और जहां २ नहीं दीखता है, वहां २ खण्डन किया जाता है जैसे पत्थर आदियों में। स्फटिक में भी बढ़ने घटने का सिलसिला नहीं दीखता है, इसलिए अयुक्त है यह कथन, कि स्फटिक में भी और २ (व्यक्ति) की उत्पत्ति होती है। जैसे कोई आक को कड़वा देख कर सब द्रव्यों को कड़वा कहे, वैसे यह है (कि एक की क्षणिकता देख सब को क्षणिक मानना)। जो यह मानता है, कि सारे का नाश हो कर नई उत्पत्ति होती है जिस में पूर्वला द्रव्य बना नहीं रहता, द्रव्यसन्तान में यही क्षणिकता है। उस का यह मत—

नोत्पत्ति विनाशकारणोपलब्धेः ॥ १२ ॥

नहीं, क्योंकि उत्पत्ति और विनाश के कारण की उपलब्धि होती है।

भाष्य—वल्मीक आदि की उत्पत्ति का कारण उपलब्ध होता है अवयवों का बढ़ना, और घड़े आदि के विनाश का कारण उपलब्ध होता है अवयवों का विभाग। जिस के पक्ष में अवयवों के घटे बिना नाश और बढ़े बने उत्पत्ति है, (जैसा कि वे स्फटिक में उत्पत्ति विनाश मानते हैं) उनके पक्ष में सारे के नाश में वा पूर्व द्रव्य के सम्बन्ध बिना नई उत्पत्ति में, दोनों में, कारण उपलब्ध नहीं होता है।

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धि वद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥ १३ ॥

दूध के नाश में कारण की अनुपलब्धि की नांई और दही की उत्पत्ति की नांई उस की (स्फटिक में विनाश और उत्पत्ति के कारण की अनुपलब्धि की) उपपत्ति है।

भाष्य—जैसे उपलब्ध न होता हुआ भी दूध के नाश का, और दही की उत्पत्ति का, कारण माना जाता है, वैसे स्फटिक में परली २ व्यक्तियों में (अनुपलभ्यमान भी) विनाश का कारण और उत्पत्ति का कारण मानना चाहिये।

लिङ्गतोग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १४ ॥

लिङ्ग (ज्ञापक चिन्ह) से ग्रहण होता है, इस लिए अनुपलब्धि नहीं।

भाष्य—दूध का नाश इस बात का लिङ्ग है, कि दूध के नाश का कारण कोई अवश्य है, तथा दही की उत्पत्ति ही इस बात का

लिङ्ग है, कि दही की उत्पत्ति का कारण कोई अवश्य है, इससे (दूध के नाश और दही की उत्पत्ति के कारण की) अनुपलब्धि नहीं। और स्फटिक आदि में ऐसा है नहीं। वहां परली २ व्यक्तियों की उत्पत्ति में कोई लिङ्ग नहीं है, इस से (स्फटिक में उत्पत्ति विनाश की) अनुपपत्ति ही है।

अवतरणिका—इस विषय में (दूध दही के विषय में) कोई (एक देशी) यह समाधान करता है—

न पयसः परिणामगुणान्तर प्रादुर्भावात् ।१५।

नहीं, क्योंकि दूध का परिणाम होता है वा दूसरा गुण प्रकट होता है।

भाष्य—एक आचार्य कहता है कि 'दूध का परिणाम होता है नाश नहीं'। परिणाम इस का नाम है कि उसी तरह टिके हुए द्रव्य का पहला धर्म (दूध पन) निवृत्त होने पर नया धर्म (दही पन) उत्पन्न होता है। दूसरा कहता है 'नया गुण प्रकट होता है' अर्थात् ज्यों के त्यों विद्यमान द्रव्य के पूर्व गुण की निवृत्ति और नये गुण का प्रादुर्भाव होता है। ये दोनों पक्ष मानों एक ही रूप हैं (दोनों पक्षों में द्रव्यों का ज्यों का त्यों टिका रहना माना गया है) (पर ये दोनों समाधान ठीक नहीं अतएव) इस पर प्रतिषेध कहते हैं।

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १६ ॥

दूसरी रचना से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति देखी जाती है, यही (दूध से दही होने में) पूर्व द्रव्य की निवृत्ति का अनुमान है।

भाष्य—पहले दूध के अवयव एक आकारविशेष में गुथे हुए थे, अब जब नया द्रव्य दही उत्पन्न हुआ, तो पहला द्रव्य दूध अपने

अवयवों के विभाग के कारण अवश्य नष्ट हुआ है, यह अनुमान किया जाता है। जैसे मट्टी के अवयवों की एक विशेष रचना (गोलाकार) है, उस से जब दूसरा द्रव्य स्थाली उत्पन्न होती है, तो मट्टी का गोला रूपी पहला द्रव्य मट्टी के अवयवों के विभाग के कारण निवृत्त हो जाता है। मट्टी की तरह उन अवयवों का मेल तो दूध और दही में अवश्य होता है, सारे का नाश हो कर बिना मेल दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं बनती (अर्थात् पहला आकार तो नष्ट हो जाता है, किन्तु उस के अवयव दूसरे द्रव्य में मिले रहते हैं, वही अवयव दूसरा रूप धारते हैं)।

अवतरणिका—अब (पूर्वपक्षी की यह बात) मान कर कि बिना कारण दूध का नाश और दही की उत्पत्ति होती है' (देखो सूत्र १३) इस का प्रतिषेध कहा जाता है—

क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १७ ॥

कहीं तो विनाश के कारण की अनुपलब्धि है और कहीं उपलब्धि है, इस से यह व्यभिचारी है।

भाष्य—स्फटिक आदि व्यक्तियों के उत्पत्ति और विनाश, दूध और दही की नांई बिना कारण के होते हैं। यह नियम नहीं हो सकता। क्योंकि इस में हेतु नहीं है। यही क्यों? कि स्फटिक आदि व्यक्तियों के उत्पत्ति नाश दूध और दही की नांई बिना कारण के होते हैं। ऐसा क्यों नहीं? कि जैसे विनाश के कारण से घड़े का नाश होता है, और उत्पत्ति के कारण के होने से उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार स्फटिक आदि व्यक्तियों के उत्पत्ति और नाश के कारण के होने से उत्पत्ति और नाश होता है।

किञ्च 'आश्रय के बिना है यह दृष्टान्तवचन' अर्थात् यदि

स्फटिक आदि में उत्पत्ति और नाश उपलब्ध हों, तब तो यह दृष्टान्त आश्रय वाला हो, कि दूध के नाश और दही की उत्पत्ति के कारण की अनुपलब्धि की नाईं उन की अनुपलब्धि है ' पर (स्फटिक में) वे दोनों (उत्पत्ति नाश) उपलब्ध ही नहीं, इस लिये यह निराश्रय दृष्टान्त है।

और जब स्फटिक की उत्पत्ति और नाश मान लिए, तो जो यहां (उत्पत्ति और नाश का) साधक है, उस को मान लिया, फिर उस का निषेध बन ही नहीं सकता ' अर्थात् स्फटिक आदि के उत्पत्ति और नाश निष्कारण नहीं, घड़े की तरह, इस प्रकार यह दृष्टान्त मानना होगा, इस का प्रतिषेध नहीं हो सकेगा । दूध दही की तरह निष्कारण हैं उत्पत्ति और नाश, इस दृष्टान्त का प्रतिषेध हो सकेगा, क्योंकि लोक में उत्पत्ति और नाश अपने कारणों से देखे जाते हैं। अतएव दूध दही की उत्पत्ति और नाश देखने वाले को उन के कारण का अवश्य अनुमान करना पड़ेगा, क्योंकि कार्य सदा अपने कारण का लिङ्ग होता है । इस लिए सिद्ध है कि बुद्धि अनित्य है।

(बुद्धि आत्मा का गुण है)

अब यह विचार उत्पन्न होता है, कि बुद्धि जो है, यह आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थ में से किस का गुण है ? यह बात तो प्रसिद्ध ह, किन्तु अधिक परीक्षा करने के लिए यह प्रकरण चलाया जाता है । यह संशय बुद्धि के विषय में इस लिए उत्पन्न होता है, कि वह (आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के) सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होती है, और (इन में से किस का गुण है) इस विशेष का ज्ञान नहीं होता है। इस में यह है विशेष, कि—

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ।१८।

इन्द्रिय और अर्थ का (गुण) नहीं, क्योंकि उन के नाश में

भी ज्ञान बना रहता है।

भाष्य—ज्ञान,इन्द्रियों का वा अर्थों का गुण नहीं, क्योंकि उन के नाश में भी ज्ञान होता है । इन्द्रिय और अर्थ के नष्ट हो जाने पर भी यह ज्ञान होता है, कि 'मैंने देखा'। ज्ञाता के नष्ट होने पर ज्ञान हो नहीं सकता। हां इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है, वह अन्य है (प्रत्यक्षानुभवरूप है) जो इन्द्रिय और अर्थ के नाश होने पर नहीं होता। पर यह आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अन्य है (स्मृति रूप है), इस का होना (इन्द्रिय और अर्थ के नाश में भी बन जाता है। 'मैंने देखा' यह ज्ञान पूर्वदृष्ट के विषय में स्मृति है। और ज्ञाता के नष्ट हो जाने पर पूर्वानुभूत की स्मृति नहीं बन सकती, क्योंकि दूसरे के देखे को दूसरा नहीं स्मरण करता। मन को ज्ञाता मानने पर भी इन्द्रिय और अर्थ का ज्ञाता होना नहीं कह सकते। अच्छा तो हो मन ही ज्ञाता-(उत्तर-)

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ १९ ॥

एक साथ ज्ञेय वस्तुओं की अनुपलब्धि से (बुद्धि) मन का भी (गुण) नहीं है।

भाष्य—'एक साथ ज्ञेय की अनुपलब्धि मन का लिङ्ग है'(१। १। १६)। वहां एक साथ ज्ञेय की अनुपलब्धि से जिस अन्तःकरण का अनुमान किया जाता है, ज्ञान उस का भी गुण नहीं। (प्रश्न) तो फिर किस का है (उत्तर) ज्ञाता का, क्योंकि वह (साधनों को) वश में रखने वाला है। (कर्ता वश में रखने वाला होता है और करण वशवर्ती होते हैं) सो वश में रखने वाला है ज्ञाता, और जो वश में होने योग्य है वह करण है। यदि (मन को) ज्ञान गुण वाला मानो, तो फिर वह करण नहीं रहेगा। घ्राण आदि साधनों सहित

ज्ञाता को गन्ध आदि का ज्ञान होता है, इससे अनुमान किया जाता है, कि अन्तःकरण सहित को सुख आदि का ज्ञान और स्मृति होती है। तिस पर यह कहना कि जो ज्ञान गुण वाला है, वह मन है और जो सुख आदि की उपलब्धि का साधन है, वह अन्तःकरण है। यह नाममात्र का भेद है, अर्थ का कोई भेद नहीं (आत्मा को आत्मा न कहा, तो मन कह दिया, और मन को मन न कह कर अन्तःकरण कह दिया। इस में पदार्थ दोनों ही सिद्ध हुए, एक ज्ञान का साधन और एक ज्ञाता)।

अथवा 'योगी को एक साथ ज्ञेय की उपलब्धि होती है' यह बात सूत्रस्थ 'च' शब्द से अभिप्रेत है। योगी सिद्धि के प्रकट होने पर नाना इन्द्रियों की शक्ति वालाहुआ इन्द्रियों वाले और शरीर रच कर उनमें एकसाथ ज्ञेय विषयों को उपलब्ध करता है, यह बात ज्ञाता जो कि विभु है, उसके विषय में तो बन जाती है, मन जो अणु है उसके विषय में नहीं बन सकती, मन को विभु मानो, तौ भी ज्ञान के आत्म-गुण होने का प्रतिषेध नहीं हो सकता। पर मन विभु अन्तःकरण हो, तो उस का सब इन्द्रियों के साथ एक साथ सन्निकर्ष होने से एक साथ सारे ज्ञान उत्पन्न हों। (इस लिए मन विभु नहीं है)।

तदात्मगुणत्वेपि तुल्यम् ॥ २० ॥

यह (दूषण) आत्मा का गुण मानने में भी बराबर है।

भाष्य—विभु आत्मा सारे इन्द्रियों के साथ संयुक्त है, इस लिए एक साथ (गन्ध आदि) ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंग आता है।

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ।२१।

सारे इन्द्रियों के साथ मन का सन्निकर्ष न होने से (एकसाथ ज्ञानों की) उत्पत्ति नहीं होती हैं।

भाष्य—गन्ध आदि की उपलब्धि का, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की नाईं, मन का सन्निकर्ष भी कारण है । और वह एक साथ होता नहीं, क्योंकि मन अणु है । सो एकसाथ (मन का) सन्निकर्ष न होने से (बुद्धि को) आत्मा का गुण होने में भी एक साथ ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती ।

अवतरणिका—(आशंका) पर यदि आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष मात्र से गन्धादि ज्ञान उत्पन्न हो (बीच में मन न माना जाय) तो (क्या हानि है—)

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥

नहीं, क्योंकि उत्पत्ति का कारण नहीं बतलाया ।

भाष्य—आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षमात्र से गन्ध आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसा कहने में (ज्ञान की) उत्पत्ति का कारण नहीं कहा गया, जिस से इस निश्चय पर पहुंचें (आत्मा और मन का संयोग ज्ञान का कारण है । अब यदि मन के अभाव में ज्ञान का कारण इन्द्रिय अर्थ का सन्निकर्ष मानो, तौ भी एकसाथ ज्ञानों की उत्पत्ति आती है । आत्मा इन्द्रिय का सन्निकर्ष मानो, तौ भी विभु आत्मा का सान्निकर्ष सदा सब के साथ होने से एकसाथ ज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंग आता है) ।

विनाशकारणानुपलब्धे श्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसंगः ॥ २३ ॥

विनाश के कारण की अनुपलब्धि से टिका रहना मानने में उस की (बुद्धि की) नित्यता का प्रसंग आता है ।

भाष्य—(आशंका—) यहां 'यह दूषण आत्मा का गुण मानने में भी बराबर है' । यह बात ' च ' से समुच्चय की है । गुण के नाश

का हेतु दो प्रकार का होता है-गुणों के आश्रय द्रव्य का नाश, और विरोधी गुण। आत्मा नित्य है, इस लिए पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, और विरोधी गुण कोई बुद्धि का ज्ञात नहीं होता, इसलिए बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में भी नित्यता का प्रसंग आता है। (उत्तर-)

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥

बुद्धि की अनित्यता उपलब्ध होने से दूसरी बुद्धि से उस का नाश (मानना चाहिये) जैसे (परले शब्द से पूर्वले) शब्द का।

भाष्य—'बुद्धि अनित्य है' यह सब शरीरधारियों के अनुभवगम्य है। एक के पीछे दूसरी बुद्धि विदित होती रहती है, वहां पूर्वली बुद्धि के लिए अगली बुद्धि विरोधी गुण है, यह अनुमान किया जाता है। जैसे शब्द सन्तान में शब्द शब्दान्तर का विरोधी होता है।

अवतरणिका—(प्रश्न उत्पन्न होता है, कि) बुद्धि यदि आत्मा का गुण हो, तो ज्ञान से उत्पन्न होने वाले स्मृति के हेतु जो संस्कार हैं, वे अनगिनत हर एक आत्मा में समवेत हैं, उन के होते हुए सारी स्मृतियों का सांझा कारण जो आत्ममनः सन्निकर्ष है, उस के होने पर, जब कारण का अलग २ होना न रहा, तो सारी स्मृतियें एक साथ प्रकट हो जायँ। इस पर कोई (आत्मा और मन के) सन्निकर्ष का (हर एक स्मृति के लिये) अलग २ होना उपपादन करता हुआ कहता है—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २५ ॥

(विभु आत्मा में) जहां जो संस्कार समवेत हैं, आत्मा के उस प्रदेश के साथ मन का सन्निकर्ष होने से (उस) स्मृति की

उत्पत्ति होती है, इस से (सब की) एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती।

भाष्य—सूत्र में 'ज्ञान' पद ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कार का बोधक है। संस्कारों से संस्कृत जो आत्मप्रदेश हैं, उन के साथ मन का सन्निकर्ष अपनी २ बारी से होता है, अतएव आत्मा और मन के सन्निकर्ष से स्मृतियें भी बारी २ से होती हैं। (पर ये ठीक)

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥

नहीं, क्योंकि मन शरीर के अन्दर रहता है।

भाष्य—जब कि कर्मवासनाएँ फल दे रही हैं, उस समय देह सहित हुए (अर्थात् देह के भीतर) आत्मा का जो मन के साथ संयोग है, उस का नाम जीवन है। ऐसी अवस्था में मरने से पूर्व शरीर के अन्दर वर्तमान मन का शरीर से बाहर ज्ञान के संस्कार वाले आत्म प्रदेशों के साथ संयोग नहीं बन सकता है। (इस पर आशंका करता है-)

साध्यत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

साध्य होने से यह हेतु नहीं।

भाष्य--फल देती हुई कर्मवासनामात्र का नाम जीवन है (न कि उसके साथ शरीर वृत्ति मन का संयोग भी) सो ऐसी अवस्था में मन का शरीर के भीतर ही रहना साध्य है (साध्य होने से मन का शरीर के अन्दर होना हेतु न रहा, साध्यसम हेत्वाभास हो गया। इस आशंका का समाधान-)

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥

स्मरण करते हुए का शरीर थमा रहने से (पूर्वोक्त) प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—स्मरण करने की इच्छा से यह मन को लगा कर देर पीछे भी किसी अर्थ को स्मरण करता है, उस समय स्मरण करते हुए के शरीर का थमा रहना देखा जाता है । आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला प्रयत्न दो प्रकार का है । एक धारक (थामने वाला) दूसरा प्रेरक (काम में लगाने वाला) । जब मन शरीर से बाहर निकल गया, तो अब धारक प्रयत्न रहा नहीं, इस लिए स्मरण करते हुए के शरीर का गुरुत्व के कारण पतन हो जाय (पर होता नहीं, इस लिए मन शरीरं से बाहर नहीं जाता यह सिद्ध हुआ) (फिर आशंका—)

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ २९ ॥

वह नहीं (शरीर धारण अनुपपन्न नहीं) क्योंकि मन बड़ी तेज गति वाला है ।

भाष्य—मन बड़ी तेज गति वाला है, उस का शरीर से बाहर ज्ञान के संस्कार वाले आत्मप्रदेश के साथ सन्निकर्ष और फिर लौट आकर (धारक) प्रयत्न को उत्पन्न करना दोनों बन जाते हैं । अथवा धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके मन शरीर से बाहर निकलता है । इस लिए वहां शरीर का थमा रहना दोनों प्रकार से बन जाता है (समाधान—)

न स्मरणकालानियमात् ॥ ३० ॥

नहीं, क्योंकि स्मरण के काल का नियम नहीं ।

भाष्य—कोई बात जल्दी स्मरण कर ली जाती है, कोई देर से । जब देर से, तब स्मरण की इच्छा से, मन में जब स्मृति का सिलसिला बन्ध जाता है (एक के पीछे दूसरी स्मृति आती जाती है), तब कोई बात जो कि उस स्मरणीय का असाधारण लिङ्ग होता है, उस का स्मरण हो आना (उस स्मरणीय की) स्मृति का

हेतु होता है (अर्थात् देर तक मन में एक के पीछे दूसरी स्मृतियें आ २ कर जब कहीं उस का कोई असाधारण लिङ्ग स्मरण आ जाता है, तब उस की स्मृति होती है)। वहां देर से बाहर निकले हुए मन में यह बात (शरीर का धारण) नहीं बन सकती। किञ्च-शरीर के संयोग की अपेक्षा न करके आत्ममनः संयोग स्मृति का हेतु ही नहीं, क्योंकि शरीर भोग का आयतन (आश्रय) है। ज्ञाता पुरुष के लिए उपभोग का आयतन तो है शरीर, तब उससे बाहर निकले हुए मन का आत्मा के साथ संयोगमात्र ज्ञान और सुख आदि की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है । अथवा समर्थ हो, तो फिर शरीर व्यर्थ है। (शरीर से बाहर मन के संयोग का प्रतिषेधक एकदेशिमत दिखलाते हैं—)

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ ३१ ॥

आत्मा की प्रेणा से, यदृच्छा (अचानक) से, वा ज्ञाता होने से संयोग विशेष नहीं बनता।

भाष्य—शरीर से बाहर मन का संयोगविशेष आत्मा की प्रेरणा से होगा वा अकस्मात् होगा, वा मन के ज्ञाता होने से होगा। किसी प्रकार भी बन नहीं सकता। (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर) स्मरण करने योग्य का अपनी इच्छा से स्मरण ज्ञान असम्भव है । यदि आत्मा 'अमुक अर्थ की स्मृति का हेतु संस्कार आत्मा के अमुक प्रदेश में समवेत है, उस के साथ मन को संयुक्त करूं' ऐसा जान कर मन को प्रेरता है। तब तो वह अर्थ स्मृत हो गया, स्मर्तव्य न ही रहा (पहले ही स्मरण हो गया स्मरण योग्य नहीं रहा)। और न ही आत्मा का प्रदेश वा संस्कार आत्म के प्रत्यक्ष होता है, तब आत्मा के प्रत्यक्ष से (उस प्रदेश और संस्कार का) अनुभव अनुपपन्न

है* । (यदृच्छा से इस लिए नहीं कि) स्मरण करने की इच्छा से मन को लगा कर यह देर पीछे भी स्मरण करता है, अकस्मात् नहीं । ज्ञाता होना मन का धर्म नहीं, इस का खण्डन कर चुके हैं (देखो पूर्व १९) । (इस एक देशिमत का खण्डन-) । यह बात-

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषण समानम् ॥ ३२ ॥

व्यासक्त (फंसे हुए) मन वाले को, पाओं की चोभ को अनुभव कराने वाले, संयोगविशेष के समान है ।

भाष्य—जब इस का मन किसी अद्भुत दृश्य में फंसा हुआ हो, उस समय शर्करा वा कांटा पाओं में चुभ जाए, तब आत्मा और मन का संयोगविशेष मानना होगा । क्योंकि वहां दुःख होता है और दुःख का अनुभव होता है। वहां यह समान प्रतिषेध है (अर्थात् जो दोष एकदेशी ने शरीर से बाहर संयोग होने में दिये हैं, वे ही यहां आते है) । यदृच्छा से भेद मानो । वहां तो अकस्मात् भी नहीं बनता, यहां अकस्मात् बन जाता है, ऐसा कहो) तो न तो अकस्मात् क्रिया होती है, न अकस्मात् संयोग होता है (क्रिया का फल है संयोग । जब क्रिया ही अकस्मात् न हुई, तो संयोग अकस्मात् कैसे हो ?) ।

'कर्म का अदृष्ट जो पुरुष के उपभोग के लिए है, वह क्रिया का हेतु है, यदि ऐसा कहो तो समान है' (यह आशय है कि) कर्म का

---

* 'मैं जानता हूं' इससे आत्मा की सत्ता का प्रत्यक्ष होता है आत्मा के किसी प्रदेशविशेष का नहीं । अतएव उस के स्वरूप में विवाद है । और 'मैं जानता हूं, चाहता हूं, द्वेष करता हूं, इत्यादि से ज्ञान इच्छा द्वेष आदि का प्रत्यक्ष होता है । पर संस्कार कभी प्रत्यक्ष नहीं होते ।

अदृष्ट (धर्म वा अधर्म नामी संस्कार) जो कि आत्मा में स्थित है, वह पुरुष के उपभोग के लिए मन की क्रिया का हेतु होता है। इस प्रकार वहां दुःख और दुःख का अनुभव सिद्ध होता है, यदि ऐसा मानते हो, तो यह समान है, स्मृति का हेतु संयोगविशेष भी ऐसे ही हो सकता है। तब जो यह कहा है 'आत्मप्रेरण यदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः' (३१) यह प्रतिषेध नहीं बनता। पहला प्रतिषेध ही वास्तव प्रतिषेध है कि 'नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः' (२६)।

अवतरणिका—(यदि स्मृतियों के युगपत् न होने का हेतु 'संस्कृत आत्मप्रदेश में मन का संयोग' (जो सूत्र २५ में कहा है) नहीं तो अब कारण (=आत्ममनः संयोग) के एक साथ होते हुए, एक साथ स्मृति न होने का कारण क्या है ?

प्रणिधानलिंगादिज्ञानानामयुगपद् भावादयुगपत्स्मरणम् ॥ ३३ ॥

चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि का ज्ञान, इन (उद्बोधक) ज्ञानों के एकसाथ न होने से एकसाथ स्मृति नहीं होती।

भाष्य—जैसे आत्मा और मन का सन्निकर्ष और संस्कार स्मृति का हेतु है, इसी प्रकार (स्मरण करने की इच्छा से) चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि के ज्ञान भी (सहकारि कारण हैं)। और वे एकसाथ नहीं होते, इसलिए सारी स्मृतियें एकसाथ उत्पन्न नहीं होतीं।

(शंका-)'प्रातिभ*की नाईं, एकाग्रता आदि की अपेक्षा के बिना जो

---

* प्रातिभ=प्रतिभाजन्य ज्ञान। प्रतिभा=फुरना। अकस्मात् ऐसा फुरना फुरना जो यथार्थ हो। परिभाषा में प्रातिभ उस ज्ञान का नाम है, जो न तो इन्द्रियजन्य हो, न लिंगजन्य हो, स्वयमेव अन्तःकरण जिसकी निश्चित रूप से साक्षी दे दे, कि यह बात ऐसे होगी

स्मृति ज्ञान हैं, उन में, एकसाथ होने का प्रसंग होगा † ', यह आशय है कि) वह स्मृति ज्ञान, जो कि प्रातिभ ज्ञान की नाईं, एकाग्रता की अपेक्षा के बिना कभी २ उत्पन्न होता है, उस की, एकसाथ उत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि (स्मृति के) हेतु का वहां अभाव है (=कारण के क्रम से ही कार्य में क्रम होता है, जब कारण ही नहीं तो फिर कार्य में क्रम कैसा ?)। (समाधान)यह ठीक नहीं (क्योंकि) विद्यमान स्मृति के हेतु का पता न लगने से प्रातिभ के समान होने का अभिमान है। जब अनेक बातों के विषय में चिन्ता का सिलसिला उठा हुआ हो, तब कोई अर्थ (उद्बोधक) किसी की स्मृति का हेतु होता है, उसके चिन्तन से उस (अर्थ) की स्मृति होती है। अब यह स्मर्ता स्मृति के हर एक हेतु को जानता नहीं है, कि इस प्रकार मुझे यह स्मृति हुई है । ऐसा न जानने के कारण वह ऐसा मान लेता है, कि यह स्मृति ज्ञान प्रातिभ की नाईं (बिना कारण के) हुआ

वा ऐसे है । यह ज्ञान प्रायः देवता और ऋषियों को धर्म अधर्म आदि के विषय में होता है । कभी २ लौकिक पुरुषों को भी होता है, जैसे कन्या कहती है ' कल मेरा भाई आएगा यह बात मेरा हृदय कहता है'। अब यह ज्ञान संशय नहीं, क्योंकि उसको निश्चय है। विपर्यय भी नहीं, क्योंकि संवादी है। प्रत्यक्ष भी नहीं है लिंगदर्शन भी कोई नहीं, है भी सच्चा, इस लिए यह प्रातिभ ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। पर कारण इस का भी है, वह कारण है धर्मविशेष (सविस्तर देखो प्रशस्तपाद का बुद्धि प्रकरण)।

† मुद्रित ग्रन्थों में 'प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसंगः' भी सूत्रत्वेन लिखा है। पर स्वयमेव पाद टीका में लिख दिया है कि ' इदं सूत्रं न वृत्तिकारसम्मतमिति ' पर इतना ही नहीं कि वृत्तिकार से सम्मत नहीं। न्यायसूची निबन्ध में भी नहीं, इस लिए यह सूत्र नहीं, ग्रहणकवाक्य है।

है। पर एकाग्रता आदि (कारण) की अपेक्षा विना कभी कोई स्मार्त ज्ञान होता नहीं।

'प्रातिभ में कैसे है, यदि यह पूछो, तो पुरुष के कर्मविशेष से उपभोग की नाईं नियम है' (यह आशय है) (प्रश्न) अच्छा तो प्राभित ज्ञान एक साथ क्यों नहीं उत्पन्न होता? (उत्तर) जैसे उपभोग के लिए जो कर्म है, वह एक साथ उपभोग उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार पुरुष का कर्म विशेष, जो प्रतिभा का हेतु है, वह एक साथ प्रातिभ ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। 'हेतु के अभाव से यह ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि करण का, ज्ञान को बारी २ से उत्पन्न करने में सामर्थ्य है' (यह आशय है) 'उपभोग की नाईं नियम है' यह दृष्टान्त है, इस में हेतु कोई नहीं है (कि इस हेतु से प्रातिभ ज्ञान एकसाथ नहीं होता) यदि ऐसा मानो, तो नहीं, क्योंकि करण का, ज्ञान के बारी २ से उत्पन्न करने में सामर्थ्य है। ज्ञेय एक हो, तो उस के विषय में एक साथ अनेक ज्ञान किसी को नहीं उत्पन्न होते (किन्तु क्रम से ही होते हैं) और न ही अनेक ज्ञेय में (एकसाथ अनेक ज्ञान होते हैं) सो यह प्रत्यक्षदृष्ट जो ज्ञान का क्रम है, इस से अनुमान होता है कि करण (ज्ञान के साधन) का सामर्थ्य ही ऐसा है (कि एकसाथ अनेक ज्ञान नहीं उत्पन्न करता)। ज्ञाता का (यह नियम) नहीं, वह योग सिद्ध हुआ अनेक इन्द्रियों वाला हुआ अनेक देहों में एकसाथ अनेक ज्ञानों वाला होता है।

और यह दूसरा प्रतिषेध है (उद्बोधक के विना केवल मन के संयोग से स्मृति मानने में कि) एक स्थान में स्थित शरीर वाले के (=आत्मा के) एक प्रदेश में अनेक ज्ञान का समवाय होने से एकसाथ अनेक ज्ञानों का स्मरण हो। अर्थात् कहीं एकदेश में स्थित शरीर वाले ज्ञाता का, इन्द्रियार्थ के साथ अनेक सन्निकर्षों से अनेक

संस्कार एक आत्मप्रदेश में समवेत होते हैं। उस प्रदेश के साथ जब मन संयुक्त होता है, तब पूर्व जाने हुए उस अनेक विषय का एकसाथ स्मरण का प्रसंग आता है, क्योंकि वहां एक प्रदेश में संयोग की बारी तो बनती नहीं (एक ही संयोग सब के लिए तुल्य होता है)। (वस्तुतस्तु) आत्मप्रदेश (घड़े के अवयवों की नाईं) कोई अलग द्रव्य नहीं, इस लिए एकार्थ समवाय के अविशेष होने से (अर्थात् जब एक आत्मा में ही सब का समवाय है और मन का संयोग भी उसी आत्मा के साथ हुआ है, जिस में वे संस्कार समवेत हैं तो) स्मृतियों के एकसाथ होने का निषेध बन नहीं सकता। किन्तु शब्दसन्तान में श्रोत्र के अधिष्ठान (जो कर्ण का छेद है उस) में सम्बन्ध होने से जैसे शब्द का श्रवण होता है, इसी प्रकार मन का (उस) संस्कार के साथ सम्बन्ध होने से (उस) स्मृति की उत्पत्ति होती है, इस लिए एकसाथ स्मृति की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता*।

अवतरणिका—ज्ञान पुरुष का धर्म है, और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख, ये अन्तःकरण के धर्म हैं, ऐसा किसी का निश्चय है, उस का खण्डन करते हैं—

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ।३४।

*जैसे, शब्द सन्तान में होने वाले सारे शब्द एक ही आकाश में समवेत हैं, तथापि जिस की उपलब्धि का कारण (कर्ण छेद में सम्बन्ध) हो जाता है, वह उपलब्ध होता है, दूसरा नहीं, इसी प्रकार संस्कार भी आत्मा में समवेत हैं, वहां मन का संयोग समान होने पर भी, जिस संस्कार का सहकारि कारण अर्थात् उद्बोधक मिल जाता है, वह स्मृति को उत्पन्न करता है, दूसरा नहीं, इसलिए स्मृतियें युगपत् उत्पन्न नहीं होतीं।

ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति के निमित्त उसकी इच्छा और द्वेष होते हैं।

भाष्य—यह (ज्ञाता) पहले जनाता है, कि 'यह मेरे सुख का साधन है, यह मेरे दुःख का साधन है' जान कर अपने सुख के साधन को तो पाना चाहता है, और दुःख के साधन को त्यागना चाहता है। पाने की इच्छा से युक्त हुए की, सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए, जो चेष्टा है, वह प्रवृत्ति है। और त्यागने की इच्छा से युक्त हुए का, दुःख के साधनों का जो त्याग है, वह निवृत्ति है। इस प्रकार ज्ञान इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख का एक द्रव्य के साथ सम्बन्ध है (जिस में ज्ञान है, उसी को पाने वा त्यागने की इच्छा होती है, वही पाने वा त्यागने का प्रयत्न करता है, उसी को इष्ट में इच्छा और अनिष्ट में द्वेष होता है, उसी को उन से सुख और दुःख मिलता है)। सो ज्ञान इच्छा और प्रवृत्ति का एक कर्ता है, ये एक के आश्रय रहते हैं। इसलिए ज्ञाता के इच्छा द्वेष और प्रयत्न सुख दुःख धर्म हैं अचेतन के नहीं। प्रवृत्ति निवृत्ति जैसी अपने आत्मा में देखी जाती है, वैसी परात्मा में अनुमान करनी चाहिये (अर्थात् परात्मा में भी जिस में ज्ञान होता है, उसी में इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख उसी क्रम से होते हैं, जैसे अपने में)

अवतरणिका—इस पर भूत चैतन्यवादी (भूतों में चेतनता मानने वाला) कहता है—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ।३५।

यतः वे (प्रवृत्ति और निवृत्ति) इच्छा द्वेष के लिङ्ग हैं, इस लिए पार्थिव आदि (शरीरों) में (चेतनता का) प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—प्रवृत्ति और निवृत्ति, इच्छा और द्वेष के लिङ्ग हैं। जिस की प्रवृत्ति निवृत्ति है, इच्छा द्वेष उसके (धर्म) हैं, उस का

[ही धर्म] ज्ञान है, सो जब प्रवृत्ति निवृत्ति पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों में देखी जाती है, तब यह परिणाम निकलता है, कि इन शरीरों का ही इच्छा द्वेष और ज्ञान से योग है इसलिये इन में चेतनता है। (समाधान)

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ।३६।

कुल्हाड़े आदि में प्रवृत्ति निवृत्ति देखने से—

भाष्य—शरीर में चेतनता का अभाव है। [यह भाव है कि] प्रवृत्ति निवृत्ति देखने से यदि (शरीर का) इच्छा द्वेष और ज्ञान के साथ सम्बन्ध है, तो कुल्हाड़े आदि करण में प्रवृत्ति निवृत्ति देखने से उन में भी चेतनता माननी पड़ेगी। और यदि [प्रवृत्ति निवृत्ति लिङ्ग से] शरीर का इच्छादि से योग है और कुल्हाड़े आदि की प्रवृत्ति निवृत्ति [इच्छादि योग से] व्यभिचारी हैं, तब यह हेतु नहीं बनता, कि प्रवृत्ति निवृत्ति देखने से पार्थिव जलीय तैजस और वायवीय शरीरों का इच्छा द्वेष ज्ञान से योग है।

[उक्त व्यभिचार दोष को हटाने के लिए भूत चैतन्यवादी ३५ सूत्र के अर्थ को बदलता है—] तब यह अन्य अर्थ है 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः'=पृथिवी आदि भूतों की प्रवृत्ति वह है जो स्थावर जंगम शरीरों में एक विशिष्ट प्रवृत्ति है, जो उनके अवयवों की रचना से जानी जाती है, और लोष्ठ आदि में ऐसी रचना है नहीं, इससे उनके विषय में उस प्रवृत्तिविशेष का अभावरूप निवृत्ति है प्रवृत्ति और निवृत्ति इच्छा और द्वेष के लिङ्ग होते हैं। सो पृथिवी आदि के अणुओं में प्रवृत्ति और निवृत्ति के देखने से इच्छा द्वेष का योग, और उनके योग से ज्ञान का योग सिद्ध हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुआ, कि भूतों में चेतनता है। [इस का खण्डन—] घड़े आदि में चेतनता की अनुपलब्धि से यह भी हेतु नहीं अर्थात् घड़े आदि की मट्टी के अवयव जो हैं, उन में प्रवृत्ति विशेष है, जो उसकी रचना से पाई जाती है, और रेत आदि में उस प्रवृत्ति

विशेष का अभावरूप निवृत्ति है। तौ भी मट्टी और रेत की ऐसी प्रवृत्ति निवृत्ति देखने पर इच्छा द्वेष प्रयत्न और ज्ञान से योग नहीं माना जाता है इसलिए 'तल्लिङ्गतादिच्छा द्वेषयोः' हेतु ठीक नहीं।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३७ ॥

(प्रवृत्ति और निवृत्ति के) नियम और अनियम उन (इच्छाद्वेष) के भेदक हैं।

भाष्य—(प्रवृत्ति और निवृत्ति के) नियम और अनियम इच्छा और द्वेष के भेदक हैं। ज्ञाता जो है, उसकी इच्छा और द्वेष के निमित्त से प्रवृत्ति और निवृत्ति उसके अपने अन्दर नहीं होती किन्तु प्रयोज्य (जिस को कि वह ज्ञाता काम में लगाता है उस) के अन्दर होती है। जब ऐसा है, तब तो (ज्ञाता से) प्रेरे गए भूतों (शरीर आदि) में प्रवृति निवृत्ति होते हैं, सब में नहीं, क्योंकि जिस को ज्ञाता अपने प्रयत्न से प्रेरेगा उसी में प्रवृत्ति होगी, दूसरे में नहीं। इससे शरीर आदि में प्रवृत्ति होगी, कुम्भ आदि में नहीं। (यह अनियम बन जायगा) पर जिसके मत में भूत स्वयं चेतन हैं, इसलिए उन्हीं के इच्छाद्वेष से उन्हीं में प्रवृत्ति निवृत्ति होते हैं उसके मत में नियम होगा (अर्थात् नियमतः सभी भूतों में प्रवृत्ति निवृत्ति होनी चाहिये न कि किसी में हो और किसी में न हो)। जैसे भूतों की एक अन्यगुण (ज्ञाता के इच्छा जन्य प्रयत्न) के निमित्त से प्रवृत्ति और उस गुण के अभाव में निवृत्ति भूतमात्र में नियम से होती है (शरीर में भी प्रयत्न के अभाव से निवृत्ति ही होती है) इसी प्रकार भूतमात्र में ज्ञान इच्छा द्वेष निमित्तक प्रवृत्ति निवृत्ति, जो कि उनके अपने आश्रय पर हैं, हों, पर होते नहीं, इससे सिद्ध है, कि ज्ञान इच्छा द्वेष प्रयोजक (प्रेरनेवाले आत्मा) के आश्रित हैं, और प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोज्य के आश्रय होते हैं। किञ्च-भूतों के चेतन माननेवाले को एक शरीर में अनेक ज्ञाता मानने पड़ेंगे, और ऐसा मानना अनुमान से विरुद्ध है। अर्थात्

एक शरीर में (पृथिवी आदि) भूत और उनके एक २ अवयव (सब) बहुत से भूत ज्ञान इच्छा द्वेष प्रयत्न गुणों वाले मानने पड़ते हैं। और यदि कोई 'हां' कहे, तो उसके लिए प्रमाण कोई नहीं। जैसे नाना शरीरों में बुद्धि आदिगुणों की अपनी २ अलग २ व्यवस्था से नाना ज्ञाता माने जाते हैं, इसी प्रकार एक शरीर में भी ज्ञाता बहुत हों, तो उनके बुद्धि आदि गुणों की अपनी २ अलग २ व्यवस्था हो। पर ऐसा पाया नहीं जाता, कि एक शरीर में अनेक ज्ञाताओं की अपनी २ अलग २ बुद्धियें हों। दूसरे के गुण (प्रयत्न] के कारण भूतों की प्रवृत्तिविशेष देखी गई है, वह प्रवृत्तिविशेष अन्यत्र भी अनुमान बनेगा, अर्थात करण [साधन] रूप जो कुल्हाड़ा आदि भूत हैं, और [घड़े आदि के] उपादान रूप जो मट्टी आदि भूत हैं, उनमें प्रवृत्तिविशेष दूसरे के गुण के कारण देखी गई है [अर्थात् कुल्हाड़े में प्रवृत्ति लकड़ी चीरने वाले के प्रयत्न से और मट्टी में प्रवृत्ति विशेष कुम्हार के प्रयत्न से आती हैं], वह अन्यत्र भी अनुमान बनेगा अर्थात त्रस स्थावर शरीरों में, उनके अवयवों की रचना रूपी प्रवृत्ति विशेष भी, भूतों की, दूसरे के गुण के कारण होगी। वह गुण [जिस से त्रस स्थावरों की शरीर रचना हुई] प्रयत्न के साथ एक आश्रय में रहने वाला [अर्थात आत्मा में रहने वाला] संस्कार है, जो धर्म अधर्म नाम से प्रसिद्ध है, जो जीव के सारे प्रयोजनों का साधक है, पुरुषार्थ के साधन प्रयत्न की नाईं भूतों का प्रयोजक है॥

[इस अध्याय के आरम्भ में ३।११-२७] आत्मा के अस्तित्व के साधक और नित्यता के साधक हेतुओं से भी भूतों की चेतनता का प्रतिषेध किया गया जानना चाहिये [आत्मा का अलग अस्तित्व साधने और नित्यत्व साधने से ही भूतों की चेतनता का प्रतिषेध हो गया] 'नेन्द्रियार्थयो स्तद्विनाशेपि ज्ञानावस्थानात्' [३।२।१८] यह भी समान प्रतिषेध है [इससे भी भूतों की चेतनता प्रतिषिद्ध है]॥

किञ्च-क्रियामात्र और क्रिया का अभावमात्र है प्रवृत्ति और निवृत्ति, इस अभिप्राय से (वादी) ने कहा है 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' (३।२।३५)। पर वस्तुतस्तु प्रवृत्ति निवृत्ति और ही प्रकार से कहे जाते हैं (अर्थात् हित की प्राप्ति के लिए जो क्रिया है, वह प्रवृत्ति है और अहित के परिहार के लिए जो क्रिया है, वह निवृत्ति है, न कि क्रियामात्र प्रवृत्ति और क्रिया का अभावमात्र निवृत्ति -), और इस प्रकार के प्रवृत्ति निवृत्ति पृथिवी आदि भूतों में नहीं देखे जाते (उन में हिताहित का ज्ञान ही नहीं) इस लिए 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' यह (आक्षेप ही) अयुक्त है।

अवतरणिका—[अगले सूत्र में जो मन के चेतन होने का प्रतिषेध करना है, वह] भूत, इन्द्रिय, मन इन सब [में चेतनता] का समान प्रतिषेध है, मन उदाहरणमात्र है—

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च-न मनसः ॥ ३८ ॥

पूर्व जो हेतु दिये गए हैं, उन हेतुओं से, परतन्त्र होने से, और अकृताभ्यागम [न किये का फल मिलना] दोष से [चेतनता] मन का [धर्म] नहीं है।

भाष्य—[१] 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' [१।१।१०] यहां से लेकर जो २ [आत्मा के विषय में] कहा गया है, वह सब [यथोक्त पद से] संग्रह किया जाता है। उन हेतुओं से भूत, इन्द्रिय और मन की चेतनता का प्रतिषेध है। [२] तथा परतन्त्र होने से। भूत, इन्द्रिय और मन परतन्त्र हैं, इस लिए वे धारने प्रेरने और ऊहापोह के कर्म में [आत्मा के] प्रयत्न के अधीन प्रवृत्त होते हैं। चेतन हों, तो स्वतन्त्र हों [पर हैं परतन्त्र, इस लिए चेतन नहीं] [३] और अकृताभ्यागम से ' 'प्रवृत्तिर्वाग्-

बुद्धिशरीरारम्भः' [१ । १ । १७] [इस प्रकार दस प्रकार का पुण्य पाप] कहा है । अब यदि भूत, इन्द्रिय और मन चेतन हों, तब 'दूसरे से किये कर्म का पुरुष उपभोग करता है' यह सिद्ध होगा। चेतन न मानें, तब तो इन साधनों वाले पुरुष को अपने किये कर्मों के फल का भोगना बन जाता है [अर्थात् यदि भूत इन्द्रिय मन चेतन हों, तो उत्पत्ति नाश वाले होने से इनको अपने किये कर्म का फल भोग नहीं बनेगा, पूर्व जिसने किया, वह रहा नहीं, अब जो भोग रहा है, उसने किया नहीं, इसी तरह अब जो कर रहा है, वह भोगेगा नहीं, जिसने आगे भोगना है, वह अब कर नहीं रहा । पर यदि चेतन अलग हो, तो अगले जन्म में नए भूत इन्द्रिय लेकर भी चेतन होने से भोक्ता वही होगा, भूत इन्द्रिय उस के भोगने के साधनमात्र होंगे, इस लिए यह दोष नहीं]।

अवतरणिका—अब यह सिद्ध हुए का उपसंहार है—

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

परिशेष से और यथोक्त हेतुओं के बन जाने से [आत्मा का गुण है ज्ञान]।

भाष्य—'आत्मा का गुण है ज्ञान' यह प्रकृत है । (१) 'परिशेष (का अर्थ) है-जो प्राप्त है, उसका प्रतिषेध होने पर, अन्यत्र प्राप्ति न होने से, जो बच रहा है, उस के विषय में ज्ञान, [देखो १।१।५ का भाष्य] यहां भी प्राप्त जो भूत, इन्द्रिय और मन हैं, उन [के चेतन होने] का प्रतिषेध होने पर, [चेतनता के प्रसंग में] और कोई द्रव्य [काल आदि] प्राप्त होता नहीं, और शेष रहा है आत्मा, (सो परिशेष से) उसका गुण है ज्ञान,यह अनुमान होता है। (२) और यथोक्त हेतु बन जाने से । अर्थात् 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्' [३।१।१] इत्यादि आत्मा के प्रतिपादक हेतुओं का प्रतिषेध न होने से । सो परिशेष [अनुमान] के जितलाने के लिए [कि कौन से हेतु हैं, जिन्हों ने भूत, इन्द्रिय, मन का प्रतिषेध कर के आत्मा को परिशिष्ट किया

है] और प्रकृत [आत्मा] की स्थापना आदि जितलाने के लिए 'यथोक्त हेतूपपत्तेः' कहा है। अथवा 'उपपत्तेः' यह एक अलग ही हेतु है। [अर्थात् बन जाने से=युक्ति युक्त होने से। युक्ति यह है] नित्य है यह आत्मा, क्योंकि एक शरीर में धर्माचरण कर के, दूसरे शरीर से स्वर्ग में देवताओं में होना, बन जाता है, और अधर्म कर के शरीरभेद से नरकों में होना, बन जाता है। युक्ति यहां शरीरान्तर की प्राप्ति है। वह तभी बनती है, यदि आत्मा नित्य हो। अलग आत्मा को न मान विज्ञान का सन्तानमात्र मानें (जैसा कि बौद्ध मानते हैं) तो शरीरान्तर प्राप्ति वाला कोई (टिका हुआ) न होने से (शरीरान्तर प्राप्ति) नहीं बन सकती। किञ्च—एक आत्मा के रहने के (भिन्न २) स्थान मान कर—अनेक शरीरों का सम्बन्धरूप जो संसार है, वह बन जाता है, और शरीरों के सिलसिले का उच्छेद जो कि मुक्ति है, बन जाती है। विज्ञान का सन्तानमात्र ही आत्मा हो, तब तो [लगातार रहने वाले] एक आत्मा के न बनने से कोई भी [जन्म जन्मान्तर के] लंबे मार्ग में नहीं चल रहा, और न ही कोई शरीरों के सिलसिले से छूटता है, इस लिए [इस पक्ष में] संसार और मोक्ष नहीं बन सकते। किञ्च—यदि विज्ञान का संतानमात्र ही आत्मा हो, तो क्षण २ में आत्मा के बदल जाने से सारा यह प्राणियों का जितना व्यवहार है, सब बिना मेल के, बिना भेद के और बिना पूर्ति के हो *। क्योंकि स्मरण न आने से। दूसरे के देखे को दूसरा

---

* हर एक काम मनुष्य का एक दूसरे के साथ मेल खाता है। किसी पुस्तक को आरम्भ कर उस से आगे २ पढ़ता जाता है, यदि क्षण २ में आत्मा बदलता जाय, तो दूसरे को उस पहले की बात का स्मरण न होने से वह कोई और काम आरम्भ कर दे। यह भी हो, कि वह भी उसी पाठ को पढ़े, काम का भेद न

नहीं स्मरण करता। स्मरण है पहले जाने हुए पदार्थ का उसी ज्ञाता से इस प्रकार का ज्ञान, कि इस ज्ञेय अर्थ को मैंने जाना हुआ है। सो यह एक है ज्ञाता जोकि पूर्व जाने हुए अर्थ को ग्रहण करता है, इसका वह पूर्व विषयक ज्ञान स्मरण है। यह बात निरात्मक विज्ञान सन्तानमात्र में नहीं बनती है।

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४० ॥

स्मरण आत्मा को ही [बनता है] क्योंकि यह (स्मरण) ज्ञाता का निज धर्म है।

भाष्य—'बनता है' यह शेष है। आत्मा कोही स्मरण बनता है, न कि विज्ञानसन्तानमात्र को। यहां 'तु' शब्द का अर्थ है 'ही'। कैसे? क्योंकि (स्मरण) ज्ञाता का निज धर्म है। यह जो ज्ञाता है, 'यह जानेगा जानता है, जान चुका है' इस प्रकार तीनों कालों में होने वाले अनेक ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है। यह इसका तीनों कालों के विषय में जो ज्ञान है, इसको प्रत्येक आत्मा अपने अनुभव से जानता है, सब को यह अनुभव होता है, कि 'मैं इसको जानूंगा, जानता हूं, वा जान चुका हूं'। सो जिस का यह (त्रिकाल विषयक ज्ञान) निज धर्म है, स्मरण उसका धर्म है (क्योंकि पूर्वज्ञात को विषय करने वाला ज्ञानविशेष ही स्मरण है) न कि निरात्मक विज्ञानसन्तानमात्र का।

अवतरणिका—स्मृति के जो हेतु हैं, उनके एक साथ न होने के कारण स्मृतियें एक साथ नहीं होतीं, यह कहा है। अब किन

हो, क्योंकि वह नहीं जानता, कि मैंने पहले यह कर लिया है। और काम को आगे आरम्भ कर के जो पूर्ति की जाती है, वह भी न हो, क्योंकि 'इस को मैंने ही आरम्भ किया है, अतएव मैंने ही समाप्त करना है' यह ज्ञान किसी को न हो, क्योंकि अन्य के देखे को अन्य स्मरण नहीं करता है।

[हेतुओं] से स्मृति उत्पन्न होती हैं, यह कहा जाता है। स्मृति होती है—

प्रणिधान निबन्धाभ्यास लिङ्ग लक्षण सादृश्य परिग्रहाश्रयाश्रित सम्बन्धानन्तर्य वियोगैककार्य विरोधातिशय प्राप्ति व्ययधान सुख दुःखेच्छाद्वेष भयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ।४१।

एकाग्रता, निबन्ध, अभ्यास, लिङ्ग, चिन्ह, तुल्यता, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एककार्य, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म, अधर्म इन निमित्तों से [स्मरण होता है]

भाष्य—[१] स्मरण करने की इच्छा से मन का एकाग्र करना प्रणिधान है। जिस अर्थ को स्मरण करना चाहते हैं, उसके लिङ्ग का चिन्तन करना उस अर्थ की स्मृति का कारण होता है [जैसे परीक्षा आदि में जब कोई उत्तर एकाएक नहीं फुरता, तो चित्त को एकाग्र करके चिन्तन करने से फुर आता है]। [२] निबन्ध—अर्थों का एक ग्रन्थ में बन्धे हुए होना, एक ग्रन्थ में बन्धे हुए अर्थ, आपस में एक दूसरे की स्मृति के हेतु होते हैं, आनुपूर्वी से भी, और उलट पलट भी [जैसे इसी ग्रन्थ में कहे गये प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थों में से प्रमाण का नाम लेते ही प्रमेय का स्मरण आना वा निग्रह स्थानों का नाम सुन प्रमाणों का स्मरण आना]। अथवा धारणा-शास्त्र*से बतलाया गया-जो प्रसिद्ध वस्तुओं में स्मर्तव्य वस्तुओं का

---

* धारणाशास्त्र जैगीषव्य आदि का बनाया हुआ है, जिस में नाड़ी चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक शरीर के अंगों में देवताओं का समारोप किया है। सो वहां उन २ अवयवों से उन २ देवताओं का स्मरण होता है॥

समारोप है, वह निबन्ध है। [३] अभ्यास है एक ही विषय में ज्ञान की बार २ आवृत्ति। यहां अभ्यास से अभिप्राय अभ्यास से उत्पन्न होने वाला संस्कार है, जो कि आत्मा का गुण है, वह स्मृति का हेतु समान है [सारी स्मृतियें संस्कार से ही उत्पन्न होती हैं, प्रणिधान आदि उद्बोधक होते हैं। किन्तु बार २ के अभ्यास से जो संस्कार पड़ता है, वह इतना प्रबल होजाता है, कि बिना भी प्रणिधान आदि उद्बोधकों के उसका स्मरण होता रहता है, इसी लिये अलग कहा है] [४] लिङ्ग [चार प्रकार का] होता है संयोगि समवायि, एकार्थ समवायि और विरोधि। संयोगि जैसे धूम अग्नि का [लिङ्ग है]। [समवायि] जैसे सींग गौ का। [एकार्थसमवायि जैसे] हाथ पाओं का, वा रूप स्पर्श का [क्योंकि हाथ पाओं दोनों एक अर्थ अर्थात् शरीर से सम्बद्ध हैं और रूप स्पर्श दोनों एक अर्थ अर्थात् रूप वाली हर एक वस्तु में है] [विरोधि जैसे] न हुआ होचुके का [न हुई वृष्टि विघारक संयोग का लिङ्ग है] (५) लक्षण=चिन्ह [जैसे अपने २ पशुओं की पहचान के लिए] पशु के किसी अवयव पर किया चिन्हविशेष गोत्र की स्मृति का हेतु होता है, यह विदों [विद्गोत्रियों] का है, यह गर्गों का है। (६) सादृश्य=[तुल्यता से जैसे] चित्र में हूबहू आकृति देवदत्त की स्मृति का हेतु है इत्यादि (७) परिग्रह=स्वस्वामिभाव सम्बन्ध स्व=मलकीयत से स्वामी और स्वामी से स्वका स्मरण होता है (८) आश्रय से [जैसे] ग्राम के नायक को देखकर उसके अधीन का स्मरण करता है (९) आश्रित से [जैसे] उसके अधीन से ग्राम के नायक का (१०) सम्बन्ध से [जैसे] विद्यार्थी से तत्सम्बन्धी गुरु का और ऋत्विज् से यजमान का (११) आनन्तर्य=अनन्तर होने से करने योग्य कामों में [एक को करके दूसरे का स्मरण

करता है, शौच हो कर शुद्ध होने का, स्नान करके संध्या आदि का] (१२) वियोग से-जिससे वियुक्त होता है, उसके वियोग को अनुभव करता हुआ बार २ स्मरण करता है (१३) एककार्य से [बहुतों का जब एक कार्य हो, तो] एक कर्ता को देखकर दूसरे कर्ता की स्मृति होती है (१४) विरोध से, जो आपस में एक दूसरे को जीतना चाहते हैं, उनमें से एक को देखकर दूसरे का स्मरण होता है (१५) अतिशय से, जिसने किसी में कोई अतिशय [कमाल] उत्पन्न कर दिया है उसको वह स्मरण करता है [जैसे शिष्य गुरु को] (१६) प्राप्ति से, जिससे इसने कुछ पाया हो, वा पाना होता है, उसको बार २ स्मरण करता है (१७) व्यवधान से, कोश [मियान] आदि से तलवार आदि स्मरण किये जाते हैं (१८, १९) सुख, दुःख से-उनके निमित्त स्मरण किये जाते हैं। (२०,२१) इच्छा द्वेष से-जिसको प्यार करता है, वा जिससे द्वेष करता है, उसको स्मरण करता है (२२) भय से, जिस से डरता है; उसको स्मरण करता है (२३) आर्थित्व= अर्थी होने से, जिससे, भोजन से चाहे वस्त्र से, अर्थी होता है, [उसको स्मरण करता है] (२४) क्रिया=रचना से, रथ से रथ के बनाने वाले को स्मरण करता है। (२५) राग से, जिस स्त्री में रक्त होता है, उसको बार २ स्मरण करता है (२६) धर्म से- पिछले जन्म का स्मरण होता है, † यहां पढ़े सुने [उपदेश] का

---

† वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैवच। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् [मनु ४। ४८] लगातार वेदके अभ्यास से, शौच से, तप से और किसी के साथ द्रोह न करने से पूर्व जन्म को स्मरण करता है॥

[समय पर] स्मरण आता है (२७) अधर्म से, पूर्व अनुभव किये दुःख के साधन को स्मरण करता है [ये निमित्त हैं स्मृति के। इन निमित्तों के अनुभव यतः एकसाथ नहीं होते, इसलिए एक साथ स्मृति नहीं होती] यह स्मृति के निमित्तों का नमूना दिखलाया है, न कि सब की गिनती करदी है [अतएव उन्माद आदि भी स्मृति के हेतु हैं, जो यहां नहीं कहे]।

(प्रकरण—बुद्धि उत्पन्नविनाशिनी है)

अवतरणिका—अनित्य बुद्धि के विषय में अब यह संशय है, कि बुद्धि क्या उत्पन्न विनाशिनी है, जैसाकि शब्द होता है, अथवा कालान्तर में टिकी रहती है जैसाकि घड़ा होता है। उत्पन्न विनाशिनी है यह पक्ष माना गया है। क्योंकि—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४२ ॥

न टिकने वाले कर्म के ग्रहण [बुद्धि द्वारा ज्ञान] से।

भाष्य—न टिकने वाले कर्म के ग्रहण से। फेंके हुए बाण के गिरने तक उसकी क्रिया का सन्तान [सिलसिला] ग्रहण किया जाता है। अब एक बुद्धि यतः एक अर्थ के लिए नियत है [घड़े को विषय करनेवाली बुद्धि जो है, उससे अनन्तर वह अलग बुद्धि होती है, जो उससे अगली वस्तु को विषय करती है। इस लिए हरएक बुद्धि एक २ अर्थ को विषय करके ही समाप्त होजाती है] इसलिए क्रियासन्तान की नांई बुद्धिसन्तान भी सिद्ध होता है, [क्योंकि उड़ते जाते बाण में क्षण २ में उत्तरोत्तर कर्म उत्पन्न होता जाता है यह क्रियासन्तान है इस सन्तान का एक २ कर्म ग्रहण किया जाता है, और एक बुद्धि एक ही अर्थ को ग्रहण करती है, इस लिए जितने कर्म हुए, उतनी बुद्धियें हुईं, तब कर्मसन्तान की नांई बुद्धिसन्तान भी सिद्ध होता है इससे सिद्ध है, कि बुद्धि उत्पन्न-

विनाशिनी है] 'टिके हुए पदार्थ के ग्रहण में भी [उत्पन्न विनाशिनी है] क्योंकि आड़ में आते ही प्रत्यक्ष की निवृत्ति हो जाती है। (अर्थात् टिके हुए घड़े के ग्रहण करने में भी बुद्धि सन्तान से ही प्रवृत्त होती है एक अर्थ को देरतक ग्रहण करने में उतनी देर एक ही बुद्धि नहीं रहती, किन्तु क्षण २ में नई २ उत्पन्न होती जाती है, हां उन सब का विषय वही रहता है] जब तक व्यवधान न आजए। इसी कारणं व्यवधान आजाने पर प्रत्यक्षज्ञान निवृत्त हो जाता है। यदि एक ही बुद्धि कालान्तर में टिकी रहे, तो दृश्य के व्यवधान में आने पर भी प्रत्यक्ष बना रहे [क्योंकि वह बुद्धि जो टिकी है]। [प्रश्न चिरकाल पीछे जो उसी अर्थ की स्मृति होती है, क्या यह उस बुद्धि के टिका रहने का लिङ्ग नहीं है] [उत्तर] स्मृति जो है, वह बुद्धि के टिका रहने का लिङ्ग नहीं। क्योंकि बुद्धि से उत्पन्न हुआ संस्कार स्मृति का हेतु है, अर्थात् जो यह माने, कि बुद्धि टिकी रहती है, क्योंकि बुद्धि का जो विषय है, उस विषय में [कालान्तर में] स्मृति देखी जाती है, वह [स्मृति], यदि बुद्धि अनित्य हो, तो कारण के अभाव से होगी ही नहीं। [तो उत्तर यह है कि] यह लिङ्ग नहीं, क्योंकि बुद्धिजन्य संस्कार जो एक अलग गुण है, वह स्मृति का हेतु है, न कि बुद्धि। अब हेतु के अभाव से [संस्कार का मानना] अयुक्त है, यदि ऐसा कहो। तब तो बुद्धि के टिके रहने से प्रत्यक्ष ही बना है, उसके होते हुए स्मृति का ही अभाव होगा, अर्थात् जब तक वह बुद्धि टिकी है, तब तक वह बोद्धव्य अर्थ प्रत्यक्ष है, और प्रत्यक्ष के होते हुए स्मृति बन नहीं सकती [स्मृति तभी कहलाती है, जब वह प्रत्यक्ष नहीं]।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्संपाते रूपाव्यक्त ग्रहणवत् ।४३।

[शंका] बुद्धि के न टिकने वाली होने से [सब वस्तुओं का] अव्यक्त [अस्पष्ट] ग्रहण हो, जैसे विद्युत् के चमकने में रूप का अव्यक्त ग्रहण होता है।

भाष्य—जैसे बिजली के गिरने में विद्युत् प्रकाश के टिका न रहने से रूप का अव्यक्त ग्रहण होता है, इसी प्रकार बुद्धि यदि उत्पन्न विनाशिनी हो, तो जानने योग्य विषय का अव्यक्त ग्रहण हो, पर द्रव्यों का ग्रहण व्यक्त होता है, इसलिए यह [बुद्धि का अनवस्थायिनी होना] अयुक्त है [समाधान—]

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ।४४।

हेतु के ग्रहण से प्रतिषेध के योग्य की अनुमति होगई।

भाष्य—'बुद्धि उत्पन्न विनाशिनी है' यह तुम्हारा प्रतिषेध के योग्य विषय है, वही तुम ने मान लिया, जब कहा कि 'जैसे बिजली के चमकने में रूप का अव्यक्त ग्रहण होता है' क्योंकि जहाँ अव्यक्त ग्रहण है, वहां अवश्यमेव बुद्धि उत्पन्न विनाशिनी है।

[शंका] 'ग्रहण में कारण के विकल्प [भिन्न प्रकार का होने] से ग्रहण का विकल्प होता है, न कि बुद्धि के विकल्प से' * [यह आशय है] जो यह कहीं अव्यक्त और कहीं व्यक्त ग्रहण होता है, यह तो ग्रहण का जो हेतु है, उसके विकल्प से होता है, जहां ग्रहण का हेतु [विद्युत् आदि] न टिकने वाला है, वहां अव्यक्त ग्रहण होता है, जहां टिकने वाला है [सूर्य आदि] वहां व्यक्त ग्रहण होता है, न कि बुद्धि के टिकने और न टिकने से [व्यक्त और अव्यक्त का ग्रहण

---

* मुद्रित पुस्तक में 'ग्रहणे हेतुविकल्पात् ग्रहणविकल्पो न बुद्धिविकल्पात्' भी सूत्राङ्क सहित मुद्रित है। पर यह भी ग्रहणकवाक्य है। न्याय सूची आदि में कहीं भी यह सूत्ररूप में नहीं पाया जाता।

है]। किस कारण से? इसलिए कि अर्थ का ग्रहण ही तो बुद्धि है, यह जो अर्थ का ग्रहण है व्यक्त वा अव्यक्त, यही तो बुद्धि है। [देखो अर्थ के दो रूप होते हैं, सामान्य और विशेष, जैसे गौ का, पशु सामान्य रूप और गौ विशेष रूप है अथवा गौ सामान्य रूप और नन्दिनी विशेषरूप है]। जब विशेष का ग्रहण न हो, सामान्यमात्र का ग्रहण हो, वह अव्यक्त ग्रहण है [वहां सामान्य विषय में तो बुद्धि उत्पन्न हुई है, किन्तु] दूसरे [विशेष] विषय में दूसरी [विशेष] बुद्धि की उत्पत्ति निमित्तान्तर [विशेष के बोधक निमित्त] के न होन से नहीं हुई है। जहां धर्मी (गौ आदि) समान और विशेष दोनों धर्मों से युक्त गृहीत होता है, वह व्यक्त ग्रहण है, और जहां विशेष का ग्रहण न होते हुए सामान्यमात्र का ग्रणह होता है, वह अव्यक्त ग्रहण है। समान धर्म के योग से विशिष्ट धर्म का योग अलग विषय है, जहां २ उस [विशिष्ट धर्म] का ग्रहण नहीं होता, वह अग्रहण निमित्त के अभाव से होता है, न कि बुद्धि की अनवस्थिति से। और बुद्धियें यतः एक २ अर्थ में नियत होती हैं, इसलिए अपने २ विषय में तो हरएक ग्रहण व्यक्त ही है' (अर्थात् सामान्य विषय का ग्रहण अपने विषय के प्रति व्यक्त है, और विशेष विषय का ज्ञान अपने विषय के प्रति व्यक्त है, क्योंकि बुद्धियें अपने २ अर्थ में नियत होती हैं, एक दूसरे के अर्थ को विषय नहीं करतीं) सो यह अव्यक्त गहण का जो उपालम्भ है, यह किस विषय में (सामान्य में वा विशेष में) बुद्धि के न टिकने के कारण होगा (अर्थात् सामान्यविषयक बुद्धि और है, और विशेष-विषयक बुद्धि और है, वहां सामान्यविषयक बुद्धि से सामान्य का ग्रहण तो हो ही गया है, अब विशेष विषयक बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हुई, उसका ग्रहण कैसे हो)।

'धर्मी एक के (समान, विशेष) धर्मों के विषय में (अलग २ दोनों को विषय करने वाली) भिन्न २ बुद्धियों के होने न होने से

उस की (व्यक्त वा अव्यक्त ग्रहण की) उपपत्ति है, (यह आशय है) धर्मी अर्थ के धर्म दो प्रकार के होते हैं समान और विशिष्ट । उन के विषय में एक २ अर्थ में नियत नाना बुद्धियें होती हैं, वे दोनों ही प्रकार की बुद्धियें (समान धर्म विषयक बुद्धि और विशेष धर्म विषयक बुद्धि) जब प्रवृत्त होती हैं, तब व्यक्त ग्रहण होता है, धर्मी की दृष्टि से । और जब सामान्यमात्र का ग्रहण होता है, तब अव्यक्त ग्रहण होता है । इस प्रकार धर्मी की दृष्टि से व्यक्त और अव्यक्त ग्रहण युक्त है, बुद्धि वा बोद्धव्य विषय की अनवस्थिति के कारण यह अव्यक्त ग्रहण युक्त नहीं ठहरता है । [समाधान-] यह ठीक नहीं—

प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्त ग्रहणवत् तद्ग्रहणम् ॥ ४५ ॥

दीपक की किरणसन्तान के व्यक्त ग्रहण की नांई उस का (व्यक्त का) ग्रहण होगा ।

भाष्य—बुद्धि के न टिका हुआ होने में भी उस द्रव्य का व्यक्त ग्रहण बन जाता है । कैसे ? (उत्तर) दीपक की किरणसन्तान के व्यक्त ग्रहण की तरह । दीपक की किरणें (अनवस्थायी रूप से) लगातार प्रवृत्त होती हैं, वहां ग्रहण हेतु (किरणों) की अनवस्थिति है और ग्राह्य की अनवस्थिति है । क्योंकि बुद्धियें एक २ अर्थ के प्रति नियत होती हैं, जितनी दीपक की किरणें हैं, उतनी ही उन की बुद्धियें होंगी । पर यहां दीपक की किरणों का व्यक्त ग्रहण देखा जाता है (इसी प्रकार उत्पन्नविनाशिनी भी बुद्धि से व्यक्त ग्रहण बन जाता है)

(प्रकरण-बुद्धि शरीर का गुण नहीं)

अवतरणिका—चेतना शरीर का गुण है, क्योंकि शरीर के होते हुए होती है, न होते हुए नहीं होती ।

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४६ ॥

द्रव्य में अपने गुण और परगुण की उपलब्धि से संशय है।

भाष्य—किसी वस्तु में जो धर्म है, वह संशयग्रस्त है। क्योंकि जलों में अपना गुण द्रवत्व उपलब्ध होता है, और परगुण उष्णता उपलब्ध होती है, इस से संशय होता है, कि क्या शरीर में चेतना शरीर का अपना गुण गृहीत होता है, वा किसी और द्रव्य का गुण है। (सिद्धान्ती-) शरीर का गुण चेतना नहीं। क्यों ?

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ४७ ॥

क्योंकि (शरीर के अपने गुण) रूप आदि, जब तक शरीर है, तब तक बने रहते हैं।

भाष्य—शरीर रूपादि से हीन हुआ कभी नहीं देखा जाता है, पर चेतना से हीन हुआ देखा जाता है, जैसे उष्णता से हीन हुए जल (देखे जाते) हैं। इसलिए चेतना शरीर का गुण नहीं। 'संस्कार की नाईं मानो' (जैसे कि बाण के होते हुए संस्कार का नाश होता है इसी प्रकार शरीर के होते हुए चेतना का नाश हो जाता है ऐसा मानो) तो नहीं, क्योंकि यहां (चेतना के) कारण का उच्छेद नहीं होता है। 'जैसे द्रव्य में संस्कार होता है, वैसे ही होते हुए में नाश नहीं होता। जब संस्कार का उच्छेद होजाय, तब संस्कार की अत्यन्त असिद्धि होती है (नहीं तो फिर भी उस में संस्कार उत्पन्न होता है)। पर जैसे शरीर में चेतना गृहीत होती है वैसा होते हुए में ही चेतना का अत्यन्त नाश भी देखा जाता है, इसलिए पूर्व पक्षी का) यह समाधान ठीक नहीं। किंच-चेतना की उत्पत्ति का कारण शरीर में होगा, वा किसी अन्य द्रव्य में, वा दोनों में, किसी प्रकार भी नहीं बन सकता, क्योंकि नियामक हेतु कोई नहीं। शरीर में मानें, तो (उस कारण से) कभी तो चेतना उत्पन्न हो जाती है, और कभी नहीं, इस नियम में हेतु कोई नहीं।

अन्य द्रव्य में मानें, तो फिर (उस कारण से) शरीर में ही चेतना उत्पन्न होती है, ढेले आदि में नहीं, इसमें कोई नियमहेतु नहीं बनता है। दोनों को निमित्त मानें, तो शरीर के समान जाति वाले दूसरे (पार्थिव आदि) द्रव्य में चेतना उत्पन्न नहीं होती है, शरीर में ही उत्पन्न होती है, इस में नियमहेतु नहीं है।

अवतरणिका—यदि ऐसा कहे, कि श्याम आदि गुण वाले द्रव्य के होते हुए ही, उसमें श्याम आदि गुण का नाश देखा जाता है, इसी प्रकार चेतना का नाश होगा तो—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ।४८।

नहीं, क्योंकि वहां पाकजन्य और गुण (लाल रंग) की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—द्रव्य के (होते हुए उसके) रूप का अत्यन्त नाश नहीं होता है। श्याम रूप के निवृत्त होने पर रक्त रूप होता है, और शरीर में तो चेतनता का अत्यन्त नाश होता है, दूसरा यह भी कि—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ।४९।

पाकज [गुणों] के प्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि से प्रतिषेध युक्त नहीं है।

भाष्य—जितने द्रव्यों में पूर्व गुण के प्रतिद्वन्द्वी (=विरोधी) गुण की सिद्धि होती है, उतने द्रव्यों में ही पाकज गुणों की उत्पत्ति देखी जाती है। क्योंकि पाकज गुणों की पूर्व गुणों के साथ अवस्थिति नहीं पाई जाती [यह हो नहीं सकता, कि श्याम रूप भी टिका रहे और रक्त भी उत्पन्न होजाय]। और शरीर में चेतना के प्रतिद्वन्द्वीरूप में उसके साथ न टिकने वाला कोई और गुण नहीं पाया जाता, जिस से अनुमान किया जाय, कि उसके साथ चेतना का विरोध है। इसलिए चेतना का प्रतिषेध न बनने से

जब तक शरीर है, तब तक चेतना बनी रहे, पर बनी रहती नहीं, इससे सिद्ध है, कि चेतना शरीर का गुण नहीं। इससे भी चेतना शरीर का गुण नहीं—

शरीरव्यापित्वात् ।५०।

शरीर में व्यापक होने से

भाष्य—शरीर और शरीर के अवयव [हाथ पाओं आदि] सब चेतना की उत्पत्ति से व्याप्त हैं, चेतना की उत्पत्ति का अभाव कहीं नहीं, सो शरीर की नाईं शरीर के अवयव भी [अलग २] चेतन हुए, तब एक शरीर में अनेक चेतनों का होना प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में जैसे प्रति शरीर चेतनों के अलग २ होने में सुख दुःख और ज्ञान की व्यवस्था है [हर एक का सुख दुःख आदि अलग २ है] इसी प्रकार एक शरीर में भी हो-[एक शरीर में अवयव २ की अलग २ सुख आदि की व्यवस्था हो] पर है नहीं। इससे चेतना शरीर का गुण नहीं। [शंका] जो यह कहा है, कि शरीर के किसी भी अवयव में चेतना की उत्पत्ति का अभाव नहीं। यह ठीक नहीं—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥

क्योंकि केश और नख आदि में (चेतना की) उपलब्धि नहीं होती है।

भाष्य—केशों में और नख आदि में चेतना की अनुत्पत्ति है, इस से (चेतना का) शरीरव्यापी होना युक्त नहीं (समाधान-)

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्व प्रसंगः।५२

शरीर त्वचा तक ही (माना जाता) है, इस से केश नख आदि में (चेतना की) प्राप्ति ही नहीं।

भाष्य—इन्द्रियों का आश्रय होना शरीर का लक्षण है। जब मन, और सुख दुःख के अनुभव का घर, जो शरीर है, वह त्वचा पर्यन्त है, तब केश आदि में चेतना उत्पन्न नहीं होती है। केश आदि का शरीर के साथ सम्बन्ध प्रयोजनकृत है। (शरीर के अवयव न हो कर भी शरीर के साथ सम्बन्ध शरीर की रक्षा के लिए है)। इस से भी चेतना शरीर का गुण नहीं-

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५३ ॥

शरीर के गुणों से विरुद्ध धर्म वाली होने से।

भाष्य—दो प्रकार का है शरीर का गुण (१) अप्रत्यक्ष जैसे गुरुत्व और (२) इन्द्रियग्राह्य जैसे रूप आदि। पर चेतना और प्रकार की है, अप्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि अनुभवसिद्ध है, इन्द्रियग्राह्य नहीं, क्योंकि मन का विषय है, इस लिए किसी अन्य द्रव्य का गुण है (शंका-)

न रूपादीनामितरेतर गुणवैधर्म्यात् ॥ ५४ ॥

नहीं, क्योंकि (शरीर के गुण) रूप आदि (आपस में) विरुद्ध धर्म वाले हैं।

भाष्य—जैसे आपस में एक दूसरे से विरुद्ध धर्म वाले रूप आदि (रूप गुरुत्व आदि) शरीर के गुण होने का त्याग नहीं करते, वैसे रूप आदि से विरुद्ध धर्म वाली होने से भी चेतना शरीर के गुण होने का त्याग नहीं करेगी (अर्थात् शरीर का गुण मानी जा सकेगी)।

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥५५॥

रूप आदि इन्द्रियग्राह्य हैं, इसलिए (उक्त) प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—और अप्रत्यक्ष हैं। (रूप इन्द्रियग्राह्य है और गुरुत्व अप्रत्यक्ष है)। जैसे आपस में एक दूसरे से विरुद्ध धर्म वाले भी

रूप आदि दो प्रकारों का उल्लङ्घन नहीं करते, इसी प्रकार रूप आदि से विरुद्ध धर्म वाली भी चेतना दो प्रकारों का उल्लङ्घन न करे यदि शरीर का गुण हो। पर उल्लङ्घन कर जाती है, इससे वह शरीर का गुण नहीं है (प्रश्न—चेतना न भूतों का गुण है, न इन्द्रियों का, न मन का, यह बात पूर्व सिद्ध कर चुके हुए हैं, फिर यहां शरीर गुणत्व के प्रतिषेध की क्या आवश्यकता थी) [उत्तर] ज्ञान को भूत इन्द्रिय और मन के गुण होने का प्रतिषेध कर देने से, शरीर का गुण नहीं, यह भी सिद्ध ही है, सिद्ध होते हुए आरम्भ विशेष जितलाने के लिए है। बार २ परीक्षा किया हुआ तत्त्व पूरा २ निश्चित हो जाता है।

(प्रकरण—मन की परीक्षा)

अवतरणिका—बुद्धि की परीक्षा की गई, अब मन की परीक्षा क्रमप्राप्त है। वह प्रति शरीर एक वा अनेक है, इस विचार में (कहते हैं—)

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५६ ॥

ज्ञानों के एक साथ न होने से एक है मन।

भाष्य—ज्ञानों का एकसाथ न होना, एक तो हर एक इन्द्रिय का अपने विषय में होता है (=हरएक इन्द्रिय एक विषय को ग्रहण कर चुकने के पीछे ही दूसरे विषय को ग्रहण करता है) क्योंकि करण (इन्द्रिय) का एक काल में एक ही प्रतीति कराने का सामर्थ्य है। पर यह मन की एकता का लिङ्ग नहीं। किन्तु यह जो भिन्न २ इन्द्रियों का भिन्न २ विषयों में ज्ञानों का एक साथ न होना है (=एक काल में सूंघना और देखना नहीं होते) यह लिङ्ग है। कैसे? इस लिए कि बहुत से मन हों, तो मन और इन्द्रियों के संयोग एक साथ हो जायं (जब मन से संयुक्त हुआ नेत्र रूप को दिखला रहा है, उसी

काल में दूसरे मन से संयुक्त घ्राण गन्ध ग्रहण करादे) पर होते नहीं, इस लिए विषय में ज्ञान की बारी पाई जाने से मन एक है । (शंका—)

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ५७ ॥

नहीं, क्योंकि एकसाथ अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होती है ।

भाष्य— यह अध्यापक पढ़ता है, जाता है, कमण्डलु उठाए हुए है, मार्ग को देखता है, बन में होते हुए शब्दों को सुनता है, डरता है, हिंस्र जन्तुओं के चिन्ह जानना चाहता है, और गन्तव्य स्थान का स्मरण करता है । इन क्रियाओं में क्रम का ग्रहण न होने से ये सब क्रियाएं युगपत् होतीं है, इस से एक शरीर में बहुत से मन प्राप्त होते हैं ? (समाधान—)

अलातचक्र दर्शनवत्तदुपलब्धि राशुसञ्चारात् ।५८।

अलातचक्र के दर्शन की नांई उन (क्रियाओं) की उपलब्धि (मन के) जल्दी २ घूमने से होती है ।

भाष्य—जल्दी फिरने में घूमते हुए अलात (मरहट्टी) का विद्यमान भी क्रम गृहीत नहीं होता (चारों ओर घूमती हुई मर हट्टी लगातार चारों ओर दिखलाई देती है, यद्यपि क्रम से सर्वत्र घूमती आती है) क्रम के गृहीत न होने के कारण बीच में विच्छेद की बुद्धि उत्पन्न न होने से, यह बुद्धि होती है, कि यह (प्रकाश का चारों ओर) चक्र है । इसी प्रकार जल्दी २ होने से बुद्धियों का और क्रियाओं का विद्यमान भी क्रम गृहीत नहीं होता है, क्रम के अग्रहण से ये क्रियाएं युगपत् हो रही हैं, यह अभिमान होता है (वस्तुतः बुद्धियें और क्रियाएं क्रम से ही होती हैं) (प्रश्न) क्या यहां क्रम के गृहीत न होने से युगपत् क्रियाओं का अभिमान है, वा

वस्तुतः हैं ही युगपत्, इस लिए युगपत् अनेक क्रियाओं की उपलब्धि हो रही है, यहां कोई विशेष निर्धारण का कारण नहीं कहा गया (जिस से हम एक पक्ष को सत्य मानें) (उत्तर) यह कह चुके हैं, कि भिन्न २ इन्द्रियों के अपने विषयों में ज्ञान क्रम से ही होते हैं (गन्ध ग्रहण के काल में रस ग्रहण नहीं होता)। इस से इन्कार नहीं हो सकता, क्योंकि यह हर एक आत्मा के अनुभवसिद्ध है। दूसरा-इस से भी यह अनुमान किया जा सकता है, कि देखे सुने अर्थों को चिन्तन करते हुए की (भांति २ की) बुद्धियें क्रम से होती हैं। अर्थात् वर्ण, पद, और वाक्य की बुद्धियों का और उनके अर्थों की बुद्धियों का क्रम गृहीत नहीं होता है। कैसे? वाक्यों (जो सुन रहे हैं, उन) में जो वर्ण (अलग २ करके क्रम से) बोले जा रहे हैं, उन में से पहले एक २ वर्ण का श्रवण होता है, फिर सुने हुए वर्ण एक वा अनेक को पद के रूप में जोड़ता है, जोड़ करके पद का निश्चय करता है, पद के निश्चय से स्मृति द्वारा पदार्थ का निश्चय करता है, पद समूह को मिला कर वाक्य का निश्चय करता है, और परस्पर सम्बद्ध पदार्थों को मिला कर वाक्यार्थ का निश्चय करता है। क्रम से होती हुई भी इन बुद्धियों का क्रम गृहीत नहीं होता, क्योंकि झट पट होती जाती हैं। यह अनुमान है, कि अन्यत्र भी क्रियाओं और बुद्धियों के युगपत् होने का अभिमान होता है। क्योंकि बुद्धियों की युगपत् उत्पत्ति संशय रहित कहीं है नहीं, जिस से एक शरीर में अनेक मनों का होना अनुमान किया जाय।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ५९ ॥

उक्त हेतु (अर्थात् ज्ञान के युगपत् न होने से मन) अणु भी है।

भाष्य—(सूत्रस्थ) 'च' से एकत्व धर्म का समुच्चय है।

अर्थात् मन अणु है और एक है, क्योंकि [भिन्न इन्द्रियों के) ज्ञान युगपत् नहीं होते हैं। मन महत् हो, तो सब इन्द्रियों के साथ संयोग होने से युगपत् विषयों का ग्रहण हो।

(प्रकरण—शरीर की उत्पत्ति का विचार)

अवतरणिका—इन्द्रियों समेत मन का कार्य व्यवहार शरीर में होता है, शरीर से अन्यत्र नहीं। और ज्ञाता जो पुरुष है, उस के इस शरीर मन्दिर में बुद्धि आदि होते है, तथा विषयों का उपभोग अनिष्ट का त्याग और इष्ट की प्राप्ति ये सारे व्यवहार शरीर के आश्रय होते हैं। उस के विषय में विप्रतिपत्ति से संशय है, कि क्या शरीर की सृष्टि पुरुष के अपने कर्मों के कारण होती है, वा कर्म निमित्त के विना भूतमात्र से होती है? इस में तत्त्व यह है कि—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ६० ॥

[जन्म में] पूर्व किये के फल (धर्म अधर्म) के सम्बन्ध से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—पूर्व शरीर में मन वाणी और शरीर से कर्म रूप जो प्रवृत्ति हुई है, वह पूर्व किया कर्म कहा है, उस से उत्पन्न हुए धर्म और अधर्म उस का फल हैं, उस फल का सम्बन्ध है आत्मा में समवेत हो कर उस का टिका रहना। उस (धर्म अधर्म) से प्रेरे हुए भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है, न कि स्वतन्त्रों से। जिस अधिष्ठान में स्थित यह आत्मा 'यह मैं हू' ऐसा मानता हुआ, जिस में लगाव रखता हुआ, जिस में (बैठ कर) भोग की तृष्णा से विषयों को उपलब्ध करता हुआ, धर्म और अधर्म के संस्कार उत्पन्न करता है, वह इस का शरीर है। यह शरीर जब गिरता है, तो वह जो धर्म अधर्म रूप संस्कार है, उस संस्कार से प्रेरित भूतों से अगला शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न हुए की पूर्व शरीरवत्

पुरुष के लिए क्रिया होती है, और पुरुष की पूर्वशरीरवत् (इस शरीर में) प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार कर्मों की अपेक्षा रखने वाले भूतों से शरीर की सृष्टि मानने में यह सब बन जाता है। और यह प्रत्यक्षदृष्ट है कि पुरुष का गुण जो प्रयत्न है उस से प्रेरे हुए भूतों से पुरुष के लिए काम करने वाले रथ आदि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, इस से अनुमान करना चाहिये, कि शरीर भी, जो पुरुष के लिए काम देना वाला बना है, यह भी पुरुष के किसी गुण की सहायता पाए हुए भूतों से उत्पन्न हुआ है (वह गुण धर्म अधर्म है)। इस पर नास्तिक कहता है—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम् । ६१ ।

भूतों से मूर्तियों के ग्रहण की नांई उस (शरीर) का ग्रहण होगा।

भाष्य—जैसे कर्मों की सहकारिता के बिना भूतों से सिद्ध हुई मूर्तियें रेत, कंकर, पत्थर, गेरी, सुरमा आदि, पुरुष के प्रयोजन की साधक होने से ग्रहण की जाती हैं, इसी प्रकार कर्म से निरपेक्ष भूतों से उत्पन्न हुआ शरीर पुरुष के प्रयोजन का साधक होने से ग्रहण किया जाता है।

न साध्यसमत्वात् ॥ ६२ ॥

नहीं, क्योंकि (तुम्हारा हेतु) साध्यसम है।

भाष्य—जैसे शरीर का उत्पन्न होना बिना कर्म निमित्त के साध्य है, वैसे रेत, कंकर, पत्थर, गेरी, सुरमे आदि का भी बिना कर्म निमित्त के उत्पन्न होना साध्य है, सो साध्यसम होने से यह साधक नहीं हो सकता। वस्तु तस्तु 'भूतों से मूर्तियों के ग्रहण की नांई' इसकी इस (शरीर] के साथ समता-

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मतापित्रोः ॥ ६३ ॥

नहीं, क्योंकि माता पिता उत्पत्ति के निमित्तमात्र हैं (इस लिए तुम्हारा दृष्टान्त विषम दृष्टान्त होने से अनुपादेय है)।

भाष्य–विषम दृष्टान्त है। ये मूर्तियें तो बिना बीज के (संयोग-मात्र से) उत्पन्न होती हैं, और शरीर की उत्पत्ति बीज पूर्वक होती है। यहां मातृ पितृ शब्द से अभिप्राय रज वीर्य से है, जो कि शरीर के बीज भूत हैं । वहां (गर्भस्थ) जीव का तो गर्भवास भोगने का कर्म, और माता पिता का पुत्र की उत्पत्ति का आनन्द अनुभव करने का कर्म, माता के गर्भाशय में भूतों से शरीर की उत्पत्ति के सहकारि कारण होते हैं, इस लिए बीज के अनुसार होना बनता है ।

तथाऽऽहारस्य ॥ ६४ ॥

वैसे आहार को (उत्पत्ति का निमित्त होने से)।

भाष्य—' उत्पत्ति निमित्त होने से ' यह प्रकृत है । खाया पिया जो आहार, उस के पाक से बना रस द्रव्य, रज वीर्य रूप में परिणत हुआ, मातृ शरीर में गर्भाशय में स्थित बीज के तुल्य एक विशिष्ट रचना के समर्थ होता है, जो कि पहले बिना मांस की एक गिलटी सी, फिर मांस का लोथड़ा सा, फिर कलल, लहू की नाड़ियें, तथा सिर हाथ आदि के आकारों और इन्द्रियों के गोलकों में रचा जाता है, उस आकार में गर्भ की नाडी से उतारा हुआ रस द्रव्य पुष्टि कारक होता है, यहां तक कि वह उत्पत्ति के समर्थ होता है। यह बात स्थाली आदि में डाले गए अन्नपान में नहीं हो सकती, इस कारण से शरीर की उत्पत्ति में कर्म कारण जाना जाता है।

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६५ ॥

(दम्पती के) संयोग में (शरीरोत्पत्ति का) नियम न होने से (भी कर्म साथ सहायक है)।

भाष्य—पति पत्नी का सभी संयोग गर्भाधान का हेतु नहीं

देखा जाता । वहां कर्म के न होते हुए (शरीर की उत्पत्ति) नहीं होती, होते हुए होती है, इस लिए नियम से (शरीरोत्पत्ति का) न होना बन जाता है। पर यदि कर्म से निरपेक्ष भूत शरीरोत्पत्ति के हेतु हों, तो नियम हो, क्योंकि यहां कारण का अभाव नहीं है।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६६ ॥

शरीरोत्पत्ति के निमित्त की नाईं संयोगोत्पत्ति का निमित्त भी कर्म है।

भाष्य—जैसे इस शरीर में रस और प्राण की चलाने वाली नाड़ियों, (रस से ले कर) वीर्य पर्यन्त धातुओं, स्नायु, त्वचा, अस्थि, शिरा (सूक्ष्म नाडियों) लोथड़ा, कलल, कण्डराओं, सिर, भुजा, उदर, रानें, कोष्ठ में होने वाले वात, पित्त, कफ, मुख, कण्ठ, हृदय, आमाशय, पक्वाशय, और निचले स्रोतों की ऐसी आश्चर्य-मयी रचना जो कि बड़े दुःसाध्य ढंग से हुई है, इस का कर्म निर-पेक्ष पृथिवी आदि भूतों से होना अशक्य है, इस से अनुमान किया जाता है, कि शरीर की उत्पत्ति कर्मनिमित्तक है। * इसी प्रकार यदि हर एक आत्मा में (यह शरीर इस आत्मा का है, और वह उस का है इत्यादि का) कोई नियत निमित्त न हो, तो सुख दुःख के अनुभव का आयतन (शरीर) सब आत्माओं का सांझा होगा, क्योंकि वह शरीर सब आत्माओं के सांझे पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न किया गया है, क्योंकि एक जैसे सब आत्माओं के साथ

---

* आत्मा को अलग न मानने वाले नास्तिकों का खण्डन करके, अब जो आत्मा को मान कर भी, उन को निरतिशय मानते हैं, और आत्मा में अदृष्ट को नहीं मानते हैं, उन [सांख्यों] के पक्ष का खण्डन करते हैं [वाचस्पति मिश्र]

उस का सम्बन्ध है, और (शरीर के उत्पादक) पृथिवी आदि में कोई नियमहेतु है नहीं (जिस से यह शरीर इस का और वह उस का माना जाय) । किन्तु जो अलग २ आत्मा में अलग २ स्थित है, वहां वह कर्म (अदृष्ट) शरीरोत्पत्ति का निमित्त व्यवस्था का हेतु है, यह जाना जाता है । फल देने को प्रवृत्त हुआ कर्माशय अलग २ आत्मा के लिए नियत है, वह जिस आत्मा में है, उसी के भोगायतन शरीर को उत्पन्न करके (उस का) ठहराता है । सो इस प्रकार शरीरोत्पत्ति के निमित्त की नाई संयोगोत्पत्ति का निमित्त भी कर्म माना जाता है । शरीर का आत्मा के साथ संयोग से अभिप्राय है, प्रत्येक आत्मा के लिए अलग २ शरीर की व्यवस्था का होना ।

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ६७ ॥

इस से (पूर्व सूत्रोक्त हेतु से) (शरीरों का जो) अनियम (एक समान होना है, उस) का भी उत्तर दिया गया ।

भाष्य—शरीर रचना में कर्म को निमित्त न मानने में यह जो नियम का दोष आता है,इस का भी उत्तर 'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्ति निमित्तं कर्म ' इस से दिया गया ।

(प्रश्न) अच्छा तो नियम क्या है ? (उत्तर) जैसे एक आत्मा का शरीर है, वैसे सब का हो,यह नियम है । अब एक का एक प्रकार से,और दूसरे का दूसरे प्रकार से यह अनियम है, अर्थात् एक दूसरे से भेद, व्यावृत्ति वा विशेष । जन्म में भेद देखा जाता है, जैसे कोई उच्च कुल का है,कोई नीच कुल का है, किसी का जन्म प्रशस्त है, किसी का निन्दित है, किसी का अनेक रोगों वाला है, किसी का नीरोग है, किसी का समग्र है, किसी का अंग हीन है, किसी का दुःखों से भरा है, किसी का सुखों से भरा है, किसी का दूसरे पुरुषों से बढ़े हुए लक्षणों से युक्त है, किसी का इस से विपरीत है, किसी का अच्छे लक्षणों वाला

है, किसी का निन्दित लक्षणों वाला है, किसी का चतुर इन्द्रियों वाला है, किसी का ढीले इन्द्रियों वाला है । और सूक्ष्म भेद तो अपरिमेय हैं। सो यह जो जन्म में भेद है, यह हर एक आत्मा के अपने २ नियत कर्मभेद से बन सकता है, हरएक आत्मा का प्रति-नियत कर्म भेद न हो, तो आत्मा तो सब के एक जैसे हुए और पृथिवी आदि भी सब के लिए समान हुए, क्योंकि पृथिवी आदि के अन्दर तो कोई भेदक हेतु है नहीं, इस लिए सब आत्माओं का एक तुल्य जन्म हो, पर जन्म ऐसा है नहीं, इस लिए शरीर की उत्पत्ति बिना कर्म निमित्त के नहीं है।

'और कर्म के क्षय हो जाने से उस [शरीर] का वियोग भी बन सकता है,' * अर्थात् कर्मनिमित्तक शरीर की सृष्टि हो, तब शरीर से [आत्मा का अत्यन्त] वियोग बन सकता है, क्योंकि कर्मों का क्षय बन जाता है । यथार्थ ज्ञान से कर्मों का क्षय होता है। मोह के नष्ट हो जाने पर वीतराग पुरुष पुनर्जन्म के हेतु कर्म को शरीर मन वा वाणी से नहीं करता है, इसलिए आगे तो उसके कर्मों का संचय नहीं होता, और पहले संचित कर्मों का, फल के अनुभव से, नाश हो जाता है । इस प्रकार जन्म के निमित्त के अभाव से इस शरीर के गिरने पर शरीरान्तर की उत्पत्ति न होने से [जन्म का] सिलसिला टूटता है । बिना कर्म निमित्त के शरीर की सृष्टि हो, तो भूतों का कभी क्षय न होने से शरीर से वियोग नहीं बनेगा।
[शंका समाधान—]

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽप-वर्गे ॥ ६८ ॥

---

* 'उपपन्नश्चतद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः' यह भी ग्रहणक वाक्य है सूत्र नहीं, न्याय सूची में इस को सूत्र नहीं माना, वार्तिक और तात्पर्य से भी यही सिद्ध होता है।

वह [जन्म] अदर्शन के कारण होता है, यदि ऐसा कहो, तो मोक्ष में फिर उस (जन्म) का प्रसंग होगा।

भाष्य—अदृष्ट का अर्थ है अदर्शन, यह अदर्शन है शरीर की उत्पत्ति का कारण। शरीर की उत्पत्ति के बिना द्रष्टा (जो आत्मा है वह) निरायतन (बिना घर) हुआ दृश्य को कभी नहीं देख सकता है। वह इस का दृश्य दो प्रकार का है—एक तो [रूपादि] विषय, दूसरा प्रकृति पुरुष का भेद, इस के लिए शरीर की सृष्टि है, इस के हो चुकने पर भूत अपना काम कर चुके, इसलिए वे शरीरान्तर का आरम्भ नहीं करते,इसलिए शरीर का [अत्यन्त] वियोग बन जाता है। यदि ऐसा मानो, तो मोक्ष में फिर शरीर की उत्पत्ति का प्रसंग आता है। अदर्शन तुमने यह माना है, कि शरीर की उत्पत्ति के बिना दर्शन का न होना अदर्शन है, सो यह अदर्शन, और शरीर की निवृत्ति होने पर जो दर्शन का न होना रूप अदर्शन है, इन अदर्शनों में कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार अदर्शन बना रहने से मोक्ष में फिर शरीर की उत्पत्ति का प्रसंग आता है।

(प्रश्न) चरितार्थता विशेष है (अर्थात्] मोक्ष से पूर्व तो शरीर की सृष्टि का प्रयोजन था द्रष्टा आत्मा को दृश्य दिखलाना, मोक्ष इस प्रयोजन के पूरा हो जाने पर हुआ है, इस लिए मोक्ष में भूतों की यह 'चरितार्थता ही विशेष है, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि (इन प्रयोजनों के) 'करने और न करने में उत्पत्ति देखी जाती है*' (यह आशय है) चरितार्थ हुए भूत शरीरान्तर का आरम्भ नहीं करते, क्योंकि दर्शन हो चुका है' यह विशेष है, यदि ऐसा कहो,

---

* मुद्रित पुस्तक में 'न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्' सूत्रत्वेन लिखा है। पर न्यायसूची आदि में कहीं भी इसे सूत्र नहीं माना। यह भी 'चरितार्थता विशेषइतिचेन्न करणाकरणयोरारम्भ दर्शनात्' इस पूरे ग्रहणक वाक्य का एक देश है।

तो नहीं, क्योंकि करने न करने में आरम्भ देखा जाता है। अर्थात् विषयों की उपलब्धि करने से (जन्म २ में) चरितार्थ हुए भी भूत फिर २ शरीर का आरम्भ करते हैं, यह देखा जाता है, और प्रकृति पुरुष के भेददर्शन के न करने से (इस अंश में) निरर्थक शरीरारम्भ फिर २ देखा जाता है। इसलिए कर्म निमित्त के बिना भूतसृष्टि मान कर, दर्शन के लिए शरीर की उत्पत्ति मानना युक्त नहीं, हां कर्म निमित्तक सृष्टि मान कर दर्शन के लिए शरीर की उत्पत्ति युक्त है।

किसी का दर्शन (मत) यह है * कि 'कर्म का फल है अनुभव दर्शन, वह अदृष्ट के कारण होता है' यह आशय है अदृष्ट नाम परमाणुओं का गुणविशेष है, जो (उन में शरीरोत्पादक) क्रिया का हेतु है, उस से प्रेरे हुए परमाणु परस्पर संयुक्त हुए शरीर को उत्पन्न करते हैं, उस (शरीर) में अपने गुण अदृष्ट से प्रेरा हुआ मन प्रवेश करता है, मन समेत शरीर में द्रष्टा को उपलब्धि होती है।

(उत्तर] 'इस दर्शन में गुणों का उच्छेद न होने से मोक्ष में फिर उस का प्रसंग आता है' अर्थात् मोक्ष में फिर शरीर की उत्पत्ति प्राप्त होती है, क्योंकि परमाणुओं का गुण जो अदृष्ट है, उस का समूल नाश कभी नहीं होता।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगाव्युच्छेदः ।६९।

मन के अदृष्ट को निमित्त होने से संयोग का उच्छेद नहीं होगा।

---

* दिगम्बर आर्हत ऐसा मानते हैं, कि पृथिवी आदि के परमाणुओं का और मन का गुण है अदृष्ट। सो परमाणु तो अपने अदृष्ट गुण से प्रेरे जा कर शरीर का आरम्भ करते हैं, और मन अपने अदृष्ट गुण से प्रेरा हुआ उस में आकर प्रवेश करता है, और वह अपने अदृष्ट से पुद्गल को सुख दुःख भुगाता है, पुद्गल का धर्म अदृष्ट नहीं (वाचस्पति मिश्र)

भाष्य—मन के अदृष्ट गुण से मन का (शरीर में) प्रवेश हो, तो इस संयोग का उच्छेद नहीं हो। किस निमित्त से मन का शरीर से निकलना हो ?। हां कर्माशय [अदृष्ट] के क्षय होने पर तो फल देने को उद्यत हुए दूसरे कर्माशय के निमित्त से निकलना बन जाता है। (प्रश्न) (मन के) अदृष्ट से ही (मन का) निकलना मानें, अर्थात् जो अदृष्ट शरीर में आने का हेतु है, वही निकलने का भी हेतु हो। (उत्तर) नहीं, क्योंकि एक ही अर्थ को जीवन और मरण की हेतुता नहीं बन सकती। इस अवस्था में एक ही अदृष्ट जीवन और मरण का हेतु है, यह परिणाम निकलता है और यह बन नहीं सकता है।

नित्यत्वप्रसंगश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥७०॥

मरना सिद्ध न होने से नित्यता का प्रसं॰ होगा।

भाष्य—फल भोग से कर्माशय के क्षय हो जाने पर शरीर पात का नाम मरना है, और दूसरे कर्माशय से फिर जन्म होता है। यदि कर्म से निरपेक्ष भूतमात्र से शरीर की उत्पत्ति मानें, तो किस के क्षय से शरीरपात रूप मरना हो (क्योंकि भूतों का क्षय तो होता नहीं)। जब मरना सिद्ध न हुआ, तो नित्यता का प्रसंग होगा। अकस्मात् मरना मानें, तो मरने में भेद (कोई गर्भ में ही मर जाता है, कोई जन्मते ही, कोई सौवर्ष पीछे यह भेद) नहीं बनेगा।

अवतरणिका—'मोक्ष में फिर उस का प्रसंग होगा' इस का समाधान करना चाहता हुआ (वादी) कहता है—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥७१॥

अणुओं की श्यामता की नित्यता की नाईं यह होगा।

भाष्य—जैसे अणुओं की श्यामता नित्य है, तौभी अग्नि के

संयोग से दूर की हुई वह फिर उत्पन्न नहीं होती है*, इसी प्रकार अदर्शन निमित्त से उत्पन्न हुआ शरीर फिर उत्पन्न नहीं होता है। [समाधान]

नाकृताभ्यागम प्रसंगात् ॥ ७२ ॥

नहीं, अकृताभ्यागम के प्रसंग से।

भाष्य—यह दृष्टान्त (साधक) नहीं है, क्योंकि अकृताभ्यागम का प्रसंग आएगा । अकृत=जो प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, उस का अभ्यागम=स्वीकार । अर्थात् इस (दृष्टान्त) पर विश्वास करने वाले को प्रमाण से असिद्ध बात माननी होगी । इस लिए यह दृष्टान्त (साधक) नहीं है, क्योंकि न तो इस में कोई प्रत्यक्ष और न ही अनुमान कहा है, इस प्रकार यह दृष्टान्त की साध्य समता कही है (अर्थात् यह दृष्टान्त स्वयं साधनीय है, वह दूसरे का साधक कैसे होगा। क्योंकि अणु की श्यामता भी तो पाकजन्य ही है) अथवा 'नाकृताभ्यागम प्रसंगात्' का यह अभिप्राय है, कि अणु की श्यामता के दृष्टान्त से अकर्म निमित्तक शरीरोत्पत्ति मानने वाले को अकृताभ्यागम का प्रसंग आएगा अर्थात् सुख हेतु वा दुःख हेतु कर्म के किये बिना ही सुख और दुःख की प्राप्ति का प्रसंग होगा । (इस पर यदि वादी) 'हां' कहे, तो उस को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का विरोध आएगा। प्रत्यक्ष का विरोध यह है, कि भिन्न २ प्रकार का जो सुख दुःख है, वह हरएक आत्मा के अनुभवसिद्ध होने से सब शरीरधारियों को प्रत्यक्ष है (प्रश्न] भेद क्या है ? (उत्तर) तीव्र, मन्द, देर तक रहने वाला, झटपट चला जाने वाला, नाना प्रकार का, एक प्रकार का, इत्यादि भेद है । (अब तुम्हारे पक्ष में तो) हरएक आत्मा के साथ अपना २ नियत सुख दुःख का हेतु-

---

* पृथिवी के परमाणुओं का रूप पाकज है, इस लिए श्यामरूप अग्नि संयोग से रक्त हो जाता है।

विशेष कोई है नहीं, और हेतुविशेष के बिना फलविशेष देखने में नहीं आता है। यदि सुख दुःख का योग कर्मनिमित्तक मानें, तब कर्मों की तीव्रता मन्दता बन जाने से, और कर्म सञ्चयों के छोटे बड़े होने से, और कर्मों के एकविध और अनेकविध होने से सुख दुःख का भेद बन जाता है। सो यह (तुम्हारे पक्ष में) हेतु का भेद न होने से सुख दुःख का भेद जो प्रत्यक्षदृष्ट है, नहीं बनेगा, यह प्रत्यक्ष का विरोध है । ऐसे ही अनुमान का विरोध भी है। पुरुष के गुणों की व्यवस्था से सुख दुःख की व्यवस्था होती है। जो चेतनावान् सुख चाहता हुआ, यह जान कर, कि सुख, सुख के साधनों से मिलता है, साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, वह सुख से युक्त होता है, न कि इस के उलट चलने वाला। और जो दुःख को त्यागना चाहता हुआ, यह जान कर, कि दुःख, दुःख के साधनों से मिलता है, साधनों के त्यागने का यत्न करता है, वह दुःख से बच जाता है, इससे उलटा चलने वाला नहीं। अब दूसरी जो यह बिना यत्न भी चेतनों के लिए सुख दुःख की व्यवस्था हैं, वह भी चेतन के किसी अन्य गुण की व्यवस्था के कारण होनी चाहिये। यह अनुमान है। कर्मनिमित्तक सुख दुःख न मानने में यह बात विरुद्ध हो जाती है। वह गुणान्तर जो है, वह अनुभव के योग्य न होने से अदृष्ट है, और फल काल का नियम न होने से अव्यवस्थित है (कब किस को सुख और कब दुःख मिलेगा, यह व्यवस्थित नहीं) बुद्धि आदि गुण जो हैं, वे अनुभव योग्य हैं और नाशवान् हैं। अब आगम का विरोध कहते हैं । कर्मों के अनुष्ठान और वर्जन के लिए बहुत सा उपदेश ऋषियों ने दिया है और उपदेश का फल होता है। शरीरधारियों की वर्ण आश्रम के विभाग से अनुष्ठान,रूपप्रवृत्ति और वर्जनरूपनिवृत्ति यह इस दृष्टि में विरुद्ध होते है, क्योंकि (इस दृष्टि में) कोई पुण्य वा पाप कर्म है नहीं, और न कर्म निमित्तक पुरुषों को सुख दुःख

का योग है। सो यह पापियों की मिथ्यादृष्टि है, कि अकर्मनिमित्तक शरीर की सृष्टि है और अकर्मनिमित्तक सुख दुःख का योग है।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थ अध्याय—प्रथम आह्निक।

मन के अनन्तर प्रवृत्ति की परीक्षा करनी चाहिये। इस विषय में, जितनी धर्म अधर्म के आश्रय शरीर आदि की परीक्षा की गई है, वह सब प्रवृत्ति की परीक्षा है, यह कहते हैं—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥

प्रवृत्ति जैसे कही है।

भाष्य—वैसे परीक्षा की गई है।

अवतरणिका—अच्छा तो प्रवृत्ति के अनन्तर जो दोष हैं, उन की परीक्षा करनी चाहिये, इस लिए कहा है—

तथा दोषाः ॥ २ ॥

वैसे दोष (राग द्वेष मोह, कहे हैं और-)

भाष्य—परीक्षा किये गए हैं। [दोष] बुद्धि के आधार (आत्मा) में रहने से आत्मा के गुण हैं। प्रवृत्ति के हेतु होने से और पुनर्जन्म के जोड़ने के सामर्थ्य से संसार के हेतु हैं। संसार के अनादि होने के कारण अनादि सिलसिले से चले आ रहे हैं। मिथ्याज्ञान (मोह) की निवृत्ति तत्त्व ज्ञान से होती है, उस की निवृत्ति होने पर राग द्वेष का उच्छेद होना मोक्ष है। [दोष] उत्पत्ति और विनाश धर्म वाले हैं इत्यादि बातें दोषों के विषय में कही हैं। 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (१।१।१८) यह का है। वैसे हैं (अर्थात् प्रवर्तनालक्षणा वाले हैं) मान, ईर्ष्या, असूया, संशय, मत्सर आदि। वे क्यों नहीं गिने, इस से कहता है-

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

उन की तीन राशियें हैं क्योंकि राग द्वेष और मोह अलग २ हैं (मान आदि इन्हीं तीनों में आ जाते हैं]

भाष्य—उन दोषों की तीन राशियें हैं तीन पक्ष हैं। राग के पक्ष में है-काम (स्त्री विषयक राग) मत्सर (रशक) स्पृहा, तृष्णा, लोभ। द्वेष पक्ष में हैं-क्रोध, ईर्ष्या (जलन) असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोप) द्रोह और अमर्ष। मोह के पक्ष में हैं-मिथ्या ज्ञान,संशय, मान, और प्रमाद। इस प्रकार [मान आदि] तीन पक्षों में आ जाने से अलग नहीं गिने। (प्रश्न) अच्छा तो लक्षण के एक होने से तीन होना भी अनुपपन्न है (उत्तर) अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि राग, द्वेष और मोह तीनों अलग पदार्थ हैं। राग का लक्षण तो आसक्ति (लगाव) है,द्वेष का न सहारना,और मोह का मिथ्याज्ञान। इस भेद को हरएक शरीरधारी का आत्मा अनुभव करता है। यह हरएक शरीरधारी अनुभव करता है किमुझेराग उत्पन्न हुआहै। है मेरे आत्मा में राग धर्म। विराग को भी अनुभव करता है, कि नहीं है मेरे आत्मा में राग धर्म। इस प्रकार दूसरे दोनों (द्वेष और मोह) के विषय में भी जानना। हां मान ईर्ष्या असूया आदि जो हैं, वे तीनों राशियों के अन्तर्भूत हैं, इस लिए अलग नहीं गिने हैं। [शंका-]

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

नहीं, क्योंकि एक विरोधी वाले हैं।

भाष्य—राग आदि (राग द्वेष मोह) अलग पदार्थ नहीं, क्योंकि तीनों एक विरोधी वाले हैं (तीनों का नाशक एक है) तत्त्व ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, आर्य प्रज्ञा, सम्बोध यह एक ही तीनों का विरोधी है [तत्त्व ज्ञान के होने पर न मोह रहता है न राग न द्वेष]।

व्यभिचाराद हेतुः ॥ ५ ॥

व्यभिचार से [एकप्रत्यनीकभावात्] हेतु नहीं।

भाष्य—पृथिवी में जो श्याम आदि हैं, उनका एक अग्नि संयोग विरोधी है और एक अग्निसंयोग ही सब का कारण है [पृथिवी में अग्नि संयोग पूर्व रूपादि का नाशक और रूपान्तर आदि का उत्पादक होता है]।

अवतरणिका—(इन तीनों के) अलग २ पदार्थ होते हुए-

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।६।

उन में से मोह पापिष्ठ है, क्योंकि मोहहीन को दूसरों [राग द्वेष] की उत्पत्ति नहीं होती।

भाष्य—मोह पापतर है, यह दो २ के अभिप्राय से कहा है*। कैसे ? क्योंकि मोहहीन के लिए दूसरों की उत्पत्ति नहीं होती। जो मोह से हीन है, उस को राग द्वेष उत्पन्न नहीं होते। मोह वाले को उस के संकल्पों के अनुसार इन की उत्पत्ति होती है। विषयों में राग वाले संकल्प राग के हेतु होते हैं, क्रोध वाले संकल्प द्वेष के हेतु होते हैं। ये दोनों प्रकार के संकल्प मिथ्या ज्ञान रूप मोह से अलग नहीं, राग द्वेष दोनों का मोह कारण है। तत्त्व ज्ञान से जब मोह की निवृत्ति हो जाती है, तब राग द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती,

---

*पापीयान्=पापतर, दो में से एक को अधिक पापी कहने में प्रयुक्त होता है, यहां तीन में से एक को अधिकपापी कहने में सूत्रकार ने पापीयान्= पापतर कैसे कहा [उत्तर] अभिप्राय यह है; कि राग और मोह में से मोह पापतर है, तथा द्वेष और मोह में से मोह पापतर है; इस प्रकार दो २ में से निर्धारण अभिप्रेत है, इस लिए पापतर कहा है।

इस प्रकार इन तीनों का विरोधी एक [तत्त्व ज्ञान] ठहरता है । इस प्रकार 'तत्त्व ज्ञान से दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञानों से उत्तर २ के नाश में उस से अनन्तर का नाश होने से मोक्ष होता है [१ । १ । २] यह व्याख्यासहित कहा गया है।

अवतरणिका—[यदि मोह कारण है और राग द्वेष कार्य हैं] तो प्राप्त होता है—

निमित्तनैमित्तिक भावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः।७।

कारण कार्यभाव के कारण (मोह का) दोषों से भेद ।

भाष्य—कारण अलग पदार्थ होता है और कार्य अलग पदार्थ होता है, सो दोषों का कारण होने से मोह दोष नहीं ठहरेगा (उत्तर)

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

नहीं, क्योंकि मोह दोष के लक्षण का लक्ष्य बन जाता है ।

भाष्य—'प्रवर्तणालक्षणा दोषाः' इस दोषलक्षण से मोह दोषों में आ जाता है ।

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानाम प्रतिषेधः ॥ ९ ॥

और एक जाति के पदार्थों में भी निमित्त नैमित्तिभाव बन सकता है, इसलिए (सूत्र ७ में कहा) प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—एक ही जाति के द्रव्यों और गुणों में अनेक प्रकार का निमित्तनैमित्तिकभाव देखा गया है (चाक आदि द्रव्य घड़े आदि के निमित्त हैं और बुद्धि गुण दूसरी बुद्धि का निमित्त होती है)।

(प्रकरण ३-प्रेत्यभाव की परीक्षा)

दोषों के पीछे प्रेत्यभाव (परीक्षणीय) है। (पूर्व पक्ष) उस की असिद्धि है। क्योंकि आत्मा नित्य है,नित्य न कोई जन्मता है, न मरता है। सो आत्मा के नित्य होने से उस के जन्म मरण बन नहीं सकते। यहीं दोनों (जन्म मरण) प्रेत्यभाव है (सिद्धान्त] इस पर यह सिद्धानुवाद है—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

आत्मा के नित्य होने में प्रेत्यभाव [मर कर होने] की सिद्धि है।

भाष्य--नित्य यह आत्मा चला जाता है अर्थात् पूर्व शरीर को त्यागता है, इसे कहा जाता है 'मरता है'। प्रेत्य=चल जाकर=पूर्व शरीर को त्याग कर,होता है अर्थात् जन्मता है अर्थात् शरीरान्तर को ग्रहण करता है । यह दोनों [पूर्व शरीर त्याग कर शरीरान्तर का ग्रहण करना] फिर जन्मना प्रेत्यभाव है । यह बात नित्य होने पर ही तो हो सकती है। और जिसके पक्ष में जीव का नाश प्रेत्यभाव है, उस के पक्ष में कृतहान और अकृताभ्यागम का दोष आता है। जीवनाश के हेतुवाद [सूखेतर्कवाद] में ऋषियों के सारे उपदेश अनर्थक ठहरते हैं।

अवतरणिका--कैसे उत्पत्ति होती है, यदि यह पूछो तो-

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

व्यक्त से व्यक्तों की [उत्पत्ति होती है] क्योंकि इस में प्रत्यक्ष की प्रमाणता है।

भाष्य--[प्रश्न] किस प्रकार से किस धर्म वाले कारण से व्यक्त शरीर उत्पन्न होता है ? [उत्तर] व्यक्त [रूपादि गुण वाला] जो भूत नाम से प्रसिद्ध पृथिवी आदि परम सूक्ष्म [परमाणु रूप]

नित्य द्रव्य है, उस से व्यक्त जो शरीर, इन्द्रिय, विषय और साधनों का आश्रय प्रत्यक्ष सिद्ध द्रव्य है, उत्पन्न होता है। व्यक्त जो है वह इन्द्रियग्राह्य है, उस के समान होने से उसका कारण भी व्यक्त है। (प्रश्न) क्या समानता है ? (उत्तर) रूप आदि गुणों का योग। रूप आदि गुणों से युक्त पृथिवी आदि नित्य द्रव्यों से, रूपादि गुण युक्त शरीरादि उत्पन्न होता है। जैसा कि इस में प्रत्यक्ष की प्रमाणता है। रूपादि गुण से युक्त मट्टी आदि से वैसे द्रव्य की उत्पत्ति देखी गई है। उस से अदृष्ट का अनुमान होता है (मट्टी और घड़े आदि) प्रकृति विकृति में रूपादि का अन्वय देखने से, पृथिवी आदि नित्य अतीन्द्रिय द्रव्यों का कारण होना अनुमान किया जाता है। (शंका—)

न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

नहीं, घड़े से घड़े की उत्पत्ति न होने से।

भाष्य—यह भी तो प्रत्यक्ष है, कि व्यक्त घट से व्यक्त घट उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता। सो व्यक्त से व्यक्त की अनुत्पत्ति देखने से व्यक्त कारण नहीं। (समाधान-)

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेर प्रतिषेधः ॥ १३ ॥

(उक्त) प्रतिषेध युक्त नहीं, क्योंकि व्यक्त से घट की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—हम यह नहीं कहते, कि सब सब का कारण है, किन्तु जो कोई भी व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है, वह वैसे से ही उत्पन्न होता है। कपाल नामी मट्टी द्रव्य, जिस से कि घड़ा उत्पन्न होता है, व्यक्त ही है। इस से इन्कार करने वाला कहीं भी (वाद में) अनुज्ञा पाने योग्य नहीं। (उत्पत्ति विषय में) यह तत्त्व है। इस से आगे वादियों की दृष्टियें दिखलाई जाती हैं।

(प्रकरण-अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन)

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्यप्रादुर्भावात् ।१४।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, क्योंकि बिना (बीज-) नाश किये (अंकुर का) प्रादुर्भाव नहीं होता।

भाष्य—असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, यह पक्ष है। क्योंकि नाश करके प्रकट होता है, बीज को नाश करके अंकुर उत्पन्न होता है, नाश किये बिना नहीं, यदि बीज का नाश अंकुर का कारण न होता, तो बीज के नाश हुए बिना भी अंकुर की उत्पत्ति हो जाती। इस पर कहते हैं—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

परस्पर विरोध से अयुक्त प्रयोग है।

भाष्य—'नाश करके प्रकट होता है' यह प्रयोग (अनुमान) अयुक्त है, क्योंकि (इससे) परस्पर विरोध आता है। जो नाश करने वाला है, वह नाश करके प्रकट नहीं होता, क्योंकि वह विद्यमान है, और जो प्रकट होता है, वह पहले प्रकट नहीं, अविद्यमान है, इस लिए उस से नाश नहीं होता (अर्थात् कारण द्रव्य विद्यमान होता है, कार्य अविद्यमान होता है) (शंका—)

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ।१६।

(प्रयोग अयुक्त) नहीं, क्योंकि बीते और आने वाले में कारक शब्दों के प्रयोग होते हैं।

भाष्य—जो बीत गया है, वा अभी हुआ ही नहीं, वह भी अविद्यमान है, पर उस में कारक शब्दों के प्रयोग होते हैं। जैसे 'पुत्र होगा, होने वाले पुत्र का आनन्द मनाता है, होने वाले पुत्र

का नाम करता है (यहां अविद्यमान पुत्र को उत्पत्ति का कर्ता कहा है) घड़ा था, टूट चुके घड़े पर शोक करता है, टूटे हुए घड़े के कपाल हैं (यहां पूर्व काल में विद्यमान वर्तमान में अविद्यमान घड़े को कर्ता कर्म और अवयवावयवी सम्बन्ध वाला कहा है) अजात हुए पुत्र पिता को सन्ताप देते हैं (यहां अविद्यमान पुत्रों को कर्ता कहा है) इस प्रकार अनेकों गौण प्रयोग देखने में आते हैं (इसी प्रकार नाश करके प्रकट होता है ' यह भी गौण प्रयोग है, होने वाले अंकुर को ही यहां कर्ता कहा है किन्तु वर्तमान में अविद्यमान होने से अभाव से भावोत्पत्ति ठीक है) (प्रश्न) क्या है यहां गौणता (उत्तर) अनन्तर होना गौणता है। अनन्तर होना इस अर्थ के सामर्थ्य से ' नाश करके प्रकट होता है ' का अर्थ होगा होने वाला अंकुर (बीज का) नाश करता है, इस प्रकार (अंकुर) गौण कर्ता होगा (समाधान—)

नविनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

(अभाव से उत्पत्ति) नहीं, क्योंकि नष्ट हुए [बीजों] से उत्पत्ति नहीं होती।

भाष्य—नष्ट हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, इस लिए अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं है।

[शंका–बीज के फटने से ही अंकुर उत्पन्न होता है, फिर वह फटना कारण क्यों नहीं ? [उत्तर—]

क्रमनिर्देशाद प्रतिषेधः ॥ १८ ॥

क्रम के निर्देश से (फटने को कारणता का) प्रतिषेध नहीं।

भाष्य—(फटने और प्रकट होने में) क्रम यह है, कि बीज पहले फटता है, पीछे अंकुर निकलता है, यह नियम है। यह नियम

अभाव से भाव की उत्पत्ति का हेतु बतलाया गया है, इसका प्रतिषेध नहीं किया है । किन्तु (इस फटने से तो बीज के) अवयवों की रचना बदल कर, पहली रचना की निवृत्ति होने पर, नई रचना से द्रव्य की उत्पत्ति होती है, अभाव से नहीं । बीज के अवयवों में जब किसी निमित्त से क्रिया उत्पन्न होती है, तब वे पहली रचना को त्याग देते हैं, और दूसरी रचना को प्राप्त होते हैं, उस दूसरी रचना से अंकुर उत्पन्न होता है । अंकुर की उत्पत्ति के हेतु अवयव और उन के संयोग प्रत्यक्ष देखने में आते हैं । पहली रचना के निवृत्त हुए बिना बीज के अवयवों की दूसरी रचना हो नहीं सकती, इस लिए फटने और प्रकट होने का पूर्वापर होने का नियम ही क्रम है । इस लिए अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं । क्योंकि बीज के अवयवों के बिना और कुछ अंकुर की उत्पत्ति का कारण नहीं है, इस लिए बीज उपादान है, यह नियम है ।

(प्रकरण-ईश्वर कर्मसापेक्ष निमित्त है, न कि उपादान)

अवतरणिका—अब दूसरा (वादी) कहता है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।१९।

ईश्वर कारण है, क्योंकि पुरुष के कर्मों की निष्फलता देखी जाती है ।

भाष्य—पुरुष चेष्टा करता हुआ फल को अवश्यमेव प्राप्त हो, ऐसा नहीं होता, इस से अनुमान होता है, कि पुरुष के कर्मफल की सिद्धि पराधीन है, जिस के अधीन है, वह ईश्वर है । इस लिए ईश्वर कारण है (वह रचने में अन्य किसी वस्तु की वा कर्म की अपेक्षा नहीं रखता, यह आशय है) ।

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥

नहीं, क्योंकि पुरुष के कर्म के अभाव में फल की सिद्धि नहीं होती।

भाष्य—(अनीश्वर वादीकृतखण्डन) ईश्वर के अधीन यदि फल की सिद्धि हो, तो पुरुष की चेष्टा के बिना फल सिद्ध हो (पर ऐसा नहीं होता, इसलिए ईश्वर कारण नहीं, यह अभिप्राय है)।

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

उस से उत्पन्न कराया जाता है, इस से (पूर्व हेतु) अहेतु है।

भाष्य—(सिद्धान्त--) पुरुषकर्म को ईश्वर सहायता देता है अर्थात् फल के लिए यत्न करते हुए पुरुष को ईश्वर फल देता है, और जब फल नहीं देता है, तो पुरुष का कर्म निष्फल होता है। सो ईश्वर से कराया हुआ होने के हेतु 'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः' यह अहेतु है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति में न केवल कर्म निमित्त हैं, और न कर्मानपेक्ष ईश्वर कारण है। किन्तु कर्म सापेक्ष ईश्वर निमित्त कारण है, यह अभिप्राय है)। गुणों से विशिष्ट आत्मा विशेष है ईश्वर, आत्मप्रकार से भिन्न उस का कोई और प्रकार नहीं बन सकता है। अधर्म, मिथ्या ज्ञान, और प्रमाद से रहित, तथा धर्म, ज्ञान, और समाधि की संपदा से युक्त आत्मविशेष है ईश्वर *। अणिमा आदि आठ प्रकार का ऐश्वर्य उस का धर्मसमाधि का फल है। संकल्प के

---

* किस प्रकार का है ईश्वर? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है, वह आत्मप्रकार का है, किन्तु जीवात्माओं में जो अधर्म अज्ञान और प्रमाद आदि है, इन अवगुणों से वह सर्वथा रहित और धर्म ज्ञान आदि गुणों से युक्त आत्म विशेष है।

अनुसारी इस का धर्म है † हर एक आत्मा में वर्तमान जो धर्म और अधर्म का संचय है, उस का और पृथिवी आदि भूतों का प्रवर्तक है। ऐसा मानने में स्वकृताभ्यागम का लोप न होने से ईश्वर को रचना में जो स्वतन्त्रता है, वह उस के स्वकृत कर्म का फल जानना चाहिये‡। आप्त कल्प (बिना स्वार्थफल के परार्थ में प्रवृत्त) है परमेश्वर। जैसे पिता अपनी सन्तानों का, वैसे ईश्वर सब जीवों का पितृभूत है। आत्मप्रकार से भिन्न उस का कोई प्रकार नहीं हो सकता है। ज्ञान के बिना और कोई धर्म इस का लिङ्ग नहीं वर्णन

---

† आठ प्रकार का ऐश्वर्य–अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व, सत्यसंकल्पता, दूसरे सब आत्माओं की भलाई ही के लिए जो उस की प्रवृत्ति है, यही उस का धर्म है, जो उस के शिवसंकल्प के अनुसारी है। मनुष्य में जो निःस्वार्थ परानुग्रह के लिए प्रवृत्ति है, यही आत्मा का उच्चतम धर्म है परमेश्वर में केवल सर्वथा स्वार्थ से शून्य परार्थ प्रवृत्ति है, इसलिए उस की इस प्रवृत्ति को हमारी दृष्टि से धर्म कहा है, पर परमेश्वर में यह स्वभावसिद्ध है, धर्म की दृष्टि से नहीं।

‡ ईश्वर पृथिवी आदि का भी अधिष्ठाता है, और मनुष्यों के धर्माधर्म के संचयों का भी अधिष्ठाता है, सो जब वह पृथिवी आदि से स्वतन्त्रता के साथ शरीर आदि की रचना करता है, तो मनुष्यों के कर्मसंचयों के अनुसार हर एक शरीर की रचना करता है। ऐसा मानने में रचने में ईश्वर की स्वतन्त्रता भी है, और किये कर्म का लोप भी नहीं आता है। ईश्वर की स्वतन्त्रता भी, अलंकृत दृष्टि से कहें, तो उस की परार्थ प्रवृत्ति रूप धर्म का फल है। अर्थात् जिस का संकल्प सदा हमारी भलाई में रहता है, वह हमारा ईश्वर होने के योग्य है।

किया जा सकता है §। आगम से भी ईश्वर द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता सिद्ध है। बुद्धि आदि जो आत्मा के लिङ्ग हैं, उन से यदि शून्य हो, तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम की विषयता से परे वर्तमान ईश्वर को कौन उपपादन करने के समर्थ हो सकता है। स्वकृताभ्यागम के लोप से इस की प्रवृत्ति हो, तो जो प्रतिषेध अकर्मनिमित्तक शरीररचना में कहा है, वह सब इस पर आता है।

(आकस्मिकत्व प्रकरण)

अवतरणिका—और (वादी) अब कहता है—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टक तैक्ष्ण्यादि दर्शनात् ॥ २२ ॥

बिना निमित्त के (शरीर आदि) भावों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि (बिना निमित्त के) कांटे की तीक्ष्णता आदि देखी जाती है।

भाष्य—बिना निमित्त के शरीरादि की उत्पत्ति होती है। कांटे की तीक्ष्णता, पर्वत की धातों के भिन्न २ रंग, शिलाओं की सफाई, सर्वत्र बिना निमित्त के उपादान देखा जाता है, वैसे शरीर की सृष्टि होगी (शंका—)

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥

अनिमित्त को निमित्त होने से बिना निमित्त के नहीं है।

भाष्य—'अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है' यह कहा

---

§ वे जो ईश्वर को निर्विशेष मान कर, उसी से जगत् की उत्पत्ति वा विवर्त मानते हैं, उन के लिए कहते हैं। कि ज्ञान आदि वाला उस को न मानें, तो उस के अस्तित्व में कोई लिङ्ग बन नहीं सकता है।

है। जिस से (भावों की) उत्पत्ति होती है, वह निमित्त होता है। इस प्रकार अनिमित्त (उत्पत्ति का) निमित्त बन गया, तब बिना निमित्त के भाव की उत्पत्ति न हुई (समाधान—)

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तर भावादप्रतिषेधः ।२४।

यह प्रतिषेध ठीक नहीं, क्योंकि निमित्त और अनिमित्त दो अलग पदार्थ हैं।

भाष्य—निमित्त एक अलग पदार्थ है और निमित्त का प्रतिषेध एक अलग पदार्थ है। प्रतिषेध कभी प्रतिषेध्य वस्तु नहीं हुआ करता। जैसे जल रहित है कमण्डलु, यहां जल का प्रतिषेध जल नहीं होता है।

यह वाद 'अकर्मनिमित्तक है शरीरादि की रचना' इस वाद से कोई भेद नहीं रखता है, भेद न होने से उस के खण्डन से यह भी खण्डित जानना चाहिये (इस लिए सूत्रकार ने इस का अलग खण्डन नहीं किया)।

(प्रकरण—'सब कुछ अनित्य है' पक्ष का खण्डन)

अवतरणिका—और (वादी) मानते हैं—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ।२५।

सब अनित्य है, क्योंकि उत्पत्ति विनाश धर्म वाला है।

भाष्य—अनित्य क्या है? जिस का किसी समय अस्तित्व है, (न कि सदा) वह अनित्य है। उत्पत्ति धर्म वाला जो है, उस का उत्पत्ति से पूर्व अस्तित्व नहीं होता, और जो नाशधर्मवाला है, वह जब विनष्ट हो जाता है, तो उस का अस्तित्व नहीं रहता। (प्रश्न-) सब क्या है? (उत्तर-) भौतिक जो शरीरादि है, और अभौतिक जो बुद्धि आदि है, ये दोनों उत्पत्ति विनाश धर्म वाले

विज्ञात होते हैं (ये ही दोनों सब हैं) इस लिए यह सब अनित्य है । (शंका—)

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

नहीं, अनित्यता के नित्य होने से ।

भाष्य—यदि सब की अनित्यता नित्य है, तो उस के नित्य होने से सब अनित्य नहीं हैं, और यदि (अनित्यता भी) अनित्य है, तो उस के न रहने पर सब नित्य हो गए ?(समाधान--)

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ।२७।

अग्नि के दाह्य पदार्थ को नाश करके पीछे स्वयं नष्ट होने की नाईं उस की (=अनित्यता की) अनित्यता है । (सिद्धान्त--)

भाष्य---उस अनित्यता की भी अनित्यता है । कैसे ? जैसे अग्नि दाह्य को नष्ट करके पीछे आप भी नष्ट हो जाती है, वैसे सब की अनित्यता सब को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाती है ।

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्था नात् ॥ २८ ॥

नित्य का खण्डन हो नहीं सकता, क्योंकि उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होती है ।

भाष्य—यह वाद (सर्वानित्यतवाद) नित्य का खण्डन करता है । पर नित्य का खण्डन बन नहीं सकता । क्यों ? इस लिए, कि उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होती है । जिस का उत्पत्ति विनाश धर्म वाला होना प्रमाण से उपलब्ध होता है, वह अनित्य है । जिस का नहीं उपलब्ध होता है, वह नित्य है । परम सूक्ष्म भूत (=परमाणु) आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन, और इन के कई एक गुण, तथा सामान्य, विशेष और समवाय, इन का उत्पत्ति

विनाश धर्म वाला होना किसी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता, इस लिए ये नित्य हैं।

(सर्व नित्यता वाद प्रकरण)

अवतरणिका—यह और एकतर्फा वाद है—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥

पांचों भूतों के नित्य होने से सब नित्य है।

भाष्य—(वृक्ष पर्वत आदि जो कुछ इस जगत् में है) यह सब भूतमय है, और भूत नित्य हैं, क्योंकि भूतों का उच्छेद (मूल-नाश) नहीं बन सकता। (खण्डन—)

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

नहीं, क्योंकि उत्पत्ति और विनाश के कारण की उपलब्धि होती है।

भाष्य—(घड़े आदि की) उत्पत्ति और विनाश का कारण (प्रत्यक्ष) उपलब्ध होता है, यह बात सब के नित्य होने में विरुद्ध पड़ती है (इस लिए सब नित्य नहीं हैं) (शंका-)

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

उन (भूतों) के लक्षण से युक्त होने से प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—तुम, जिस की उत्पत्ति और विनाश का कारण उपलब्ध होता है, ऐसा मानते हो, वह भूतों के लक्षण से हीन कोई और वस्तु गृहीत नहीं होती। सो भूतों के लक्षण से युक्त होने से यह सब भूतमात्र है,* इस लिए यह (पूर्व सूत्रोक्त) प्रतिषेध युक्त नहीं।

---

* भूतों के विशेष गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भूतों के लक्षण हैं। ये गुण घट आदि में भी हैं, इस लिए वे भी भूत हैं।

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

नहीं, क्योंकि उत्पत्ति और उस की कारण की उपलब्धि है।

भाष्य—(घड़े आदि में–) कारण (=मट्टी आदि) के समान गुणों की उत्पत्ति और कारण (=मट्टी आदि) प्रत्यक्ष दृष्ट है। ये दोनों बातें (उत्पत्ति की उपलब्धि और उस के कारण की उपलब्धि) नित्य की नहीं हुआ करतीं। और न ही उत्पत्ति की और उस के कारण की उपलब्धि से इन्कार हो सकता है । और न ही बिना विषय के कोई उपलब्धि होती है । सो उपलब्धि के बल से यह अनुमान होता है, कि कारण के समान गुणों वाला कार्य उत्पन्न होता है, वह (इस–) उपलब्धि का विषय है । ऐसी अवस्था में भूतों के लक्षण का (भूतों के कार्य में) घट जाना बन सकता है। सो भौतिक पदार्थ उत्पत्ति नाश वाले हैं। तथा उत्पत्ति और विनाश के कारण से प्रेरे हुए ज्ञाता का (उत्पन्न करने और नाश करने के लिए) प्रयत्न देखा गया है। 'प्रसिद्ध है अवयवी उन धर्मों वाला '= अवयवी जो है (घड़ा आदि) वह उत्पत्ति विनाश धर्मों वाला प्रसिद्ध है (इस लिए मूलभूत यद्यपि नित्य हैं, तथापि उन से उत्पन्न होने वाले भौतिक अनित्य ही हैं । भौतिकों में जो भूतों के गुण हैं, वे कारण गुणों से उन में आए हैं, इस लिए लक्षण की समानता है। पर इतने से वे नित्य नहीं ठहरते, क्योंकि नित्य का लक्षण यह नहीं, कि जो भूत हो, वह नित्य होता है, किन्तु यह है, कि जो उत्पत्ति नाश रहित हो, वह नित्य होता है)।

किञ्च—(उक्त नित्यता साधक हेतु से) शब्द, कर्म और बुद्धि आदि की अव्याप्ति है ' अर्थात् पांच भूतों के नित्य होने से (२९)

और भूतों का अत्यन्त विनाश होता नहीं, इस लिए ये जो उत्पत्ति विनाश गृहीत होते हैं, यह अवयवों के क्रम का बदलनामात्र है और कुछ नहीं, इसलिए उत्पत्ति विनाश वास्तव नहीं, यह आशय है।

और उन के लक्षणों से युक्त होने से (३१), इस से शब्द, कर्म, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भयत्न बीच में नहीं आते (अर्थात् न ये भूत हैं, न भूतों के लक्षणों से युक्त हैं, ये जब बाहर रह गए, तो फिर यह कहना कि सब नित्य हैं, क्योंकि पांच भूत नित्य हैं, ऐसा ही है, जैसे कोई कहे, कि सब जीव उड़ते हैं, क्योंकि पक्षी उड़ते हैं)। इस लिए यह एकतर्फा वाद है, 'स्वप्न के विषयों के मान लेने की तरह यह मिथ्या उपलब्धि है, यदि ऐसा कहो, तो यह भूतों की उपलब्धि में भी बराबर है ' अर्थात् जैसे स्वप्न में विषयों का अभिमान होता है, इसी प्रकार कारण की उत्पत्ति का अभिमान है, (उत्पत्ति वस्तुभूत नहीं) । ऐसा मानों, तो यह बात भूतों की उपलब्धि में भी तुल्य है, अर्थात् पृथिवी आदि भूतों की उपलब्धि भी स्वप्न विषयों के अभिमान की तरह माननी पड़ती है (यदि उत्पत्ति की उपलब्धि मिथ्या मानते हो, तो भूतों की उपलब्धि के मिथ्या मानने में कौन बाधक है) 'पृथिवी आदि के अभाव में सारे व्यवहारों का लोप होगा, यदि ऐसा कहो, तो यह उधर भी समान है ' अर्थात् उत्पत्ति विनाश के कारण की उपलब्धि का विषय न मानने में भी सारे व्यवहारों का लोप आता है (अर्थात् घड़ा बन गया है, घड़ा टूट गया है इत्यादि व्यवहार नहीं बनेंगे) । सो एक तो नित्य द्रव्य इन्द्रियग्राह्य नहीं होते (और घड़ा आदि इन्द्रिय-ग्राह्य है) दूसरा (सब को नित्य मानने में) उत्पत्ति विनाश का विषय कोई नहीं बनता, इस कारण ' स्वप्न विषय के मान लेने की तरह ' यह कथन बिना हेतु के हैं ।

' टिके हुए उपादान का धर्म मात्र निवृत्त होता है, और धर्म मात्र उत्पन्न होता है, वह (धर्म मात्र) उत्पत्ति विनाश का विषय है । पर जो उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति से पूर्व भी है, और जो

निवृत्त होता है, वह निवृत्त हुआ भी विद्यमान है, इस प्रकार सब की नित्यता है*

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

नहीं, व्यवस्था के न बनने से ।

भाष्य—जब कि उत्पन्न हुआ और निवृत्त हुआ दोनों विद्यमान हैं, तब 'यह उत्पत्ति है, यह निवृत्ति है' ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती । तथा (उत्पन्न निवृत्त) दोनों की विद्यमानता में किसी प्रकार का भेद न रहने से 'अमुक उत्पन्न हुआ और अमुक निवृत्त हुआ,' इस में गड़बड़ हो जायगी (जिस को उत्पन्न हुआ कहते हो, उसी को निवृत्त हुआ क्यों न कहा जाय) । 'अब उत्पत्ति हुई है, अब निवृत्ति हुई है' । तथा 'अब इस की उत्पत्ति वा निवृत्ति हुई है, अब नहीं हुई है' यह काल की व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि (सब) सदा विद्यमान हैं । 'इस धर्म (घड़े) की उत्पत्ति वा निवृत्ति हुई है, इस (कुण्डल) की नहीं' यह व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि दोनों में विशेषता न होने से (दोनों ही विद्यमान हैं) । 'होगा' हो

---

* उपादान द्रव्य धर्मी है, उस की भिन्न २ आकृतियें उस के भिन्न २ धर्म हैं । उपादान द्रव्य सदा एकरस टिका रहता है । धर्म बदलते रहते हैं । जैसे सोना धर्मी है । डली भी उस का धर्म है, कड़े भी उस का धर्म हैं, कुण्डल भी उस का धर्म हैं । डली निवृत्त होती है, तो कड़े उत्पन्न होते हैं । सोना ज्यों का त्यों है । जो कड़े बने हैं, वे उत्पत्ति से पूर्व भी अव्यक्त रूप में थे । और जो डली निवृत्त हुई है, वह निवृत्त हुई भी अव्यक्त रूप में है, क्योंकि जिस द्रव्य के वे धर्म है, वह सदा है। यह आशय है । (यह मत स्वायंभुवों का है—वाचस्पति मिश्र)

चुका है ' यह काल की व्यवस्था भी नहीं बनेगी, क्योंकि जो विद्यमान है, उस का काल एक वर्तमान ही होता है। सो 'अविद्यमान का आत्मलाभ उत्पत्ति है, और विद्यमान का आत्महान निवृत्ति है ' ऐसा मानने में ये दोष नहीं रहते । इस लिए जो यह कहा है, कि 'उत्पत्ति से पूर्व भी है, और निवृत्त हुआ भी है ' यह अयुक्त है।

(सर्व नानात्व का खण्डन-)

अवतरणिका—यह और एक तर्फा वाद है-

सर्वं पृथक् भावलक्षण पृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

हर एक वस्तु नाना है, क्योंकि भाव का नाम नाना वस्तुओं का बोधक होता है।

भाष्य—हर एक वस्तु नाना है, कोई भी एक भाव नहीं है। क्यों ? इस लिए, कि भाव का लक्षण अर्थात् जिस से भाव लखा जाता है, वह नाम शब्द, नाना पदार्थों का बोधक होता है। हरएक भावनाम समूह का वाचक होता है, जैसे घड़ा यह जो संज्ञा शब्द है,यह गन्ध रस रूप स्पर्श के समूह तथा तला पासे और ग्रीवा आदि के समूह में रहता है (अर्थात् घड़ा कहने से किसी एक वस्तु का बोध नहीं होता, गन्ध रस रूप स्पर्श इन गुणों के समुदाय का और तला पासे गला आदि अवयवों के समुदाय का बोध होता है, इन सब को मिला कर एक नाम दिया गया है) यह निदर्शन मात्र है (और भी सभी नाम इसी प्रकार समुदाय वाचक हैं) (खण्डन-)

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

(सब नाना) नहीं, क्योंकि अनेक प्रकार के भावों से एक भाव की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—' अनेकलक्षणैः ' का अर्थ है ' अनेकविधलक्षणैः ' अनेक प्रकार के लक्षणों से। मध्यम पद लोपी समास है। अर्थात् गन्ध आदि गुणों और तले आदि अवयवों के साथ सम्बन्ध रखने

वाला एक भाव उत्पन्न होता है । गुणों से अलग है द्रव्य और अवयवों से अलग है, अवयवी, यह अलग २ अनुमानों से सिद्ध है । किञ्च—

लक्षणव्यवस्थानादेवा प्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

नाम की व्यवस्था से ही प्रतिषेध युक्त नहीं ।

भाष्य—'एक भाव कोई नहीं' यह प्रतिषेध अयुक्त है । क्यों इस लिए, कि नाम की व्यवस्था है । जो यह लक्षण अर्थात् भाव का संज्ञा शब्द (घड़ा आदि) है, वह एक में व्यवस्थित है 'जिस घड़े को मैंने देखा था, उसी को छूता हूं, जिस को छुआ था, उसी को देखता हूं' अणुसमूह का ग्रहण तो होता नहीं, और जब अणुसमूह का ग्रहण होता नहीं, तो जो गृहीत होता है, वह एक है (क्योंकि एकत्वेन गृहीत होता है)

'और जो यह कहा है, कि जिस से सब कुछ समुदाय रूप है, इस लिए एक भाव कोई भी नहीं, सो एक के न बनने से समूह भी नहीं बनता ।' अर्थात् कोई भी एक भाव नहीं है, क्योंकि समूह में भाव के नाम का प्रयोग होता है । इस पर यह कहा जाता है, कि एक के न बनने से समूह नहीं बन सकता । क्योंकि एकों का समुच्चय ही समूह होता है । 'समूह में भाव शब्द के प्रयोग से' इस से समूह का आश्रय लेकर समूह को बनाने वालों का प्रतिषेध किया है, कि कोई एक भाव नहीं । सो यह सब प्रकार से विरोध आने से यत्किञ्चनवाद है ।

(सर्व शून्यता का खण्डन)

अवतरणिका—यह और एकतर्फा वाद है—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥३७॥

सब अभाव (रूप) है, क्योंकि (सारे) भावों में अन्योऽन्याभाव की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जो नाम भाव है, वह सब अभाव है, क्यों ? इसलिए, कि भावों में अन्योऽन्याभाव की सिद्धि होती है । गौ घोड़े के रूप से असत् हैं, गौ घोड़ा नहीं (अर्थात् घोड़े का अभाव रूप है)। घोड़ा गौ के रूप से असत् है, घोड़ा गौ नहीं है। इस प्रकार असत् प्रतीति और निषेध का भाववाचक के साथ सामानाधिकरण होने से सब अभाव है।

(इस मत का सूत्रकार कृत खण्डन से पूर्व भाष्यकारकृत खण्डन—) 'प्रतिज्ञा वाक्य में दोनों पदों का, तथा प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध होने से यह युक्त नहीं है'=सर्व शब्द का अर्थ है अनेकों की अशेषता, और अभाव शब्द का अर्थ है भाव का प्रतिषेध। पहला पद सोपाख्य (वस्तु बोधक) है, दूसरा निरुपाख्य (वस्तु के अभाव का बोधक) है। ऐसा होने पर जो सद्रूप से कहा जा रहा है, वह कैसे निरुपाख्य अभाव हो ? अभाव जो कि निरुपाख्य है, उस के अनेक वा अशेष होने की प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती (अभाव में अनेकता अशेषता होती नहीं, और सर्व का अर्थ है अनेकों की अशेषता, इस लिए सर्वमभावः' यह दो पद परस्पर विरुद्ध हैं)। यह सब अभाव है, अर्थात् यह जिस को कि तुम सब करके मानते हो, यह अभाव है। ऐसा मानने में भी परस्पर विरोध नहीं हटता है। क्योंकि अनेक वा अशेष ऐसी प्रतीति अभाव की हो नहीं सकती, और है यह प्रतीति 'सब'। इस लिए अभाव नहीं है।

प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है। सब अभाव है, यह भाव का प्रतिषेध है प्रतिज्ञा। 'भावों में अन्योऽन्याभाव की सिद्धि से' यह है हेतु। भावों में अन्योऽन्याभाव की अनुमति देकर और उसी का आश्रय लेकर अन्य में अन्य के अभाव की सिद्धि होने पर सब अभाव है, यह कहा है। यदि सब अभाव है, तो 'भावों में अन्योऽन्योभाव की सिद्धि से' यह नहीं बन सकता है। और यदि भावों

में अन्याऽन्योभाव की सिद्धि है, तो सब अभाव है, यह नहीं बन सकता है । (यहां तक सूत्र से अलग भाष्यकार कृत स्वतन्त्र खण्डन है । आगे सूत्रीय खण्डन का-) सूत्र के साथ सम्बन्ध है—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥

(सब अभाव) नहीं, क्योंकि (सब) भावों की अपने धर्मों से सिद्धि है ।

भाष्य—(१)--सब अभाव नहीं, क्योंकि अपने धर्म से भावों का सद्भाव है अर्थात् अपने धर्म से युक्त है भाव, यह प्रतिज्ञा है । (प्रश्न) क्या है भावों का अपना धर्म (उत्तर) सत् होना आदि द्रव्य गुण कर्म तीनों का सामान्य धर्म है, और क्रिया वाला होना इत्यादि द्रव्यों का विशेष धर्म है । और स्पर्श पर्यन्त (अर्थात् रूप रस गन्ध स्पर्श) पृथिवी के धर्म हैं । इस प्रकार एक २ को लेकर (धर्मों का) अनन्त भेद है । सामान्य, विशेष और अभावों के एक से दूसरे को अलग करने वाले धर्म जाने जाते हैं । सो यह अर्थ-भेद अभाव का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव निरुपाख्य होता है । सो यह भेद है, इस लिए सब अभाव नहीं है ।

(दूसरा अर्थ -) अथवा, नहीं, क्योंकि भावों की स्वरूप से सिद्धि है । 'गौ' शब्द के प्रयुक्त होने पर गोत्वजातिविशिष्ट द्रव्य जाना जाता है, न कि अभाव मात्र । यदि सब अभाव हो, तो गौ कहने पर अभाव प्रतीत हो, और गौ शब्द से अभाव कहा जाय । पर क्योंकि गौ शब्द के प्रयोग में द्रव्यविशेष प्रतीत होता है, न कि अभाव, इस लिए (सब अभाव कहना) अयुक्त है ।

(तीसरा अर्थ--) अथवा--नहीं, क्योंकि अपने रूप से सिद्धि है । 'गौ अश्व रूप से असत् है' ऐसा कहा जाता है, 'गौ रूप से असत्' क्यों नहीं कहा जाता, न कहने से यह सिद्ध है, कि गौ रूप से गौ है,इस प्रकार अपने रूप से उस की सिद्धि है । घोड़ा

घोड़ा नहीं, 'गौ गौ नहीं' यह क्यों नहीं कहा जाता, ऐसा न कहने से यह जाना जाता है, कि अपने रूप से द्रव्य की विद्यमानता है (अभाव नहीं)।

किञ्च—(अश्व रूप से गौ असत् है वा गौ घोड़ा नहीं, इत्यादि से) भावों के अव्यतिरेक का प्रतिषेध है। संयोग आदि सम्बन्ध है व्यतिरेक, और अव्यतिरेक है अभेद सम्बन्ध (भेद न होना-एक रूप होना), इस से असत् और भाव एक साथ प्रतीत होते हैं। जैसे कुण्ड में बेर नहीं है (यहां संयोग का प्रतिषेध है), अर्थात् 'गौ घोड़े के रूप से असत् है' 'गौ घोड़ा नहीं है' इस से गौ और घोड़े के अव्यतिरेक (=अभेद) का प्रतिषेध किया है, कि गौ और घोड़े की एकता नहीं है। इस प्रतिषेध करने में असत् प्रतीति की समानाधिकरणता भाव रूप गौ के साथ होती है। जैसे कुण्ड में बेर नहीं हैं। यहां कुण्ड में बेरों का संयोग प्रतिषेध करने में सत् के साथ असत् प्रतीति की समानाधिकरणता है।

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

(भावों की) अपने भाव से सिद्धि नहीं, क्योंकि दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि होती है।

भाष्य—आपेक्षिक का अर्थ है अपेक्षा से किया हुआ। ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ होता है, दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व होता है। कोई भी वस्तु अपने रूप से अवस्थित नहीं, किन्तु अपेक्षा के सामर्थ्य से है। इस लिए अपने भाव से भावों की सिद्धि नहीं है। (समाधान-)

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

व्याहत (विरुद्ध) होने से (पूर्वोक्त) अयुक्त है।

भाष्य—यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है, तो अब ह्रस्व किस की अपेक्षा से है। और यदि दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व है, तो अब

दीर्घ बिना अपेक्षा के हुआ। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय में एक की असिद्धि से दूसरे की असिद्धि आती है, इस लिए दीर्घ की अपेक्षा से (ह्रस्व की) व्यवस्था अयुक्त है।

किञ्च—अपने भाव से सिद्धि न हो, तो जो दोनों सम हैं, वा दोनों गोल हैं, उन द्रव्यों में अपेक्षा कृत दीर्घत्व ह्रस्वत्व क्यों नहीं होते। इस लिए एक दूसरे की अपेक्षा होने वा न होने में दोनों अवस्थाओं में दोनों द्रव्यों में कोई भेद नहीं आता। एक दूसरे की अपेक्षा करने में वे दोनों द्रव्य परिमाण में जितने हैं, न अपेक्षा करने में भी वे उतने ही होते हैं, किसी एक में कोई भेद नहीं होता। यदि अपेक्षा कृत हों, तो किसी एक में कोई विशेष (धर्म) उत्पन्न हो जाय। 'अच्छा तो फिर अपेक्षा का क्या सामर्थ्य है, यदि यह पूछो, तो दो के ग्रहण में अतिशय के ग्रहण की प्रतीति'। दो द्रव्यों को देखता हुआ एक में अतिशय को ग्रहण करता है—पर वह अतिशय है उस में पहले ही विद्यमान- उस को दीर्घ निश्चय करता है, और जिस को छोटा ग्रहण करता है, उस को ह्रस्व निश्चय करता है। यह अपेक्षा का सामर्थ्य है।

(संख्या के एकान्त वाद का प्रकरण)

अवतरणिका—अब ये संख्या के एकतर्फा वाद हैं। (पहला वाद--) सब एक है, क्योंकि (सब) सत् से अभिन्न हैं (सत्प्रतीति सब में एक समान है) (दूसरा वाद--) नित्य और अनित्य भेद से सब दो प्रकार है। (तीसरा वाद--) सब तीन प्रकार का है ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय (चौथा वाद) सब चार प्रकार का है--प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति, इसी प्रकार यथा सम्भव और भी (वाद) हैं। उन के विषय में यह परीक्षा है—

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्।४१।

कारण के होने वा न होने से संख्या के एकतर्फा वाद की असिद्धि है।

भाष्य—यदि साध्य और साधन का भेद है, तो एक होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दोनों का भेद है। और यदि साध्य साधन का अभेद है, तो इस प्रकार भी एक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि साधन नहीं है, उस के विना किसी की सिद्धि नहीं होती। (आक्षेप-)

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

नहीं, कारण को अवयव होने से।

भाष्य—संख्या के एकान्तों की असिद्धि नहीं। किस से? कारण को (साध्य का) अवयव होने से। (साध्य का) अवयव कोई साधनभूत है, इस लिए भेद नहीं (और न ही विना साधन के सिद्धि है) इसी प्रकार दो आदि का भी (कोई अवयव ही साधन मान कर उन पक्षों की सिद्धि होती है) (समाधान-)

निरवयवत्वाद हेतुः ॥ ४३ ॥

निरवयव होने से (पूर्व हेतु) असद्धेतु है।

भाष्य—'कारणावयव भावात्' यह अहेतु है। क्यों? इस लिए, कि 'सब एक है' इस प्रकार विना छोड़े, प्रतिज्ञा करके किसी का एकत्व कहा है। ऐसा होने पर अलग कोई अवयव साधनभूत बन नहीं सकता है। इसी प्रकार दो आदि (संख्यावादों) में भी। ये जो संख्या के एकान्त है, ये विशेषधर्मों से किये अर्थ भेद के विस्तार से इन्कार करके (केवल सामान्य धर्म को लेकर) प्रवृत्त होते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के विरोध से मिथ्या-वाद ठहरते हैं। और यदि विशेषधर्म को मान कर प्रवृत्त होते हैं, तो समान धर्म को लेकर अर्थों का संग्रह (एक जाति के होना) और विशेष धर्मों को लेकर अर्थों का भेद सिद्ध होता है। इस प्रकार

एकान्तत्व को त्याग देते हैं। सो ये एकान्त बाद (प्रेत्यभाव की परीक्षा के प्रसंग से) तत्त्व ज्ञान की विवेचना के लिए परखे हैं । प्रेत्यभाव के अनन्तर (क्रम प्राप्त) फल है । उस में--

सद्यः कालान्तरेच फलनिष्पत्तेः संशयः ।४४।

झटपट और कालान्तर में फल की सिद्धि के कारण संशय होता है।

भाष्य--पकाता है, दोहता है, इन क्रियाओं का फल झटपट होता है भात और दूध । हल वाहता है, बीज बोता है, इन क्रियाओं का फल कालान्तर में होता है खेती का लाभ । है यह भी क्रिया 'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' । इस के फल में संशय होता है (सिद्धान्त-)

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥

झटपट नहीं, क्योंकि कालान्तर में उपभोग के योग्य होता है।

भाष्य--स्वर्ग फल सुना जाता है । वह फल इस देह के टूटने पर दूसरे देह से उत्पन्न होता है, इसलिए स्वर्गादि की कामना वालों को झटपट कर्म का फल नहीं मिलता है। (शंका-)

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतु विनाशात् ।४६।

कालान्तर में सिद्धि नहीं बनती, क्योंकि (कालान्तर में) हेतु का नाश हो जाता है ।

भाष्य--जब प्रवृत्ति (अग्निहोत्र का कर्म) नष्ट हो गया, तो प्रवृत्ति का फल अब कारण के बिना उत्पन्न हो नहीं सकता । नष्ट हुए कारण से कभी कुछ नहीं उत्पन्न होता (समाधान-)

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् ॥ ४७ ॥

सिद्धि से पूर्व वृक्ष के फल की नाईं वह (फल) होगा ।

भाष्य--जैसे फलार्थी से वृक्ष के मूल में जल सेचन आदि कर्म किया जाता है । उस कर्म के नष्ट हो जाने पर पृथिवी धातु जल धातु से सम्मिलित हुआ, अन्दर के तेज से पकता हुआ, रस द्रव्य को उत्पन्न करता है। आगे वह रसद्रव्य वृक्ष के अन्दर पकता हुआ रचनाविशेष के रूप में आकर पत्ते आदि फल को उत्पन्न करता है। इस प्रकार जल सेचन आदि कर्म सार्थक है। किन्तु नष्ट हुए से फल की सिद्धि नहीं है । इसी प्रकार (हवन आदि रूप) प्रवृत्ति से धर्मअधर्मरूप संस्कार उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न हुआ, और निमित्त की सहायता से (अपने समय पर) फल को उत्पन्न करता है । जैसा कि कहा है ' पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ' (३ । २ । ६०) ।

अवतरणिका--(अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या यह फल अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् होता है वा असत्, वा सदसत् अथवा न सत् न असत् । इस में पूर्व पक्षी-) सो यह उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाला जो है, वह-

नासन्नसन्नसदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् । ४८।

न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, क्योंकि सत् असत् परस्पर विरोधी होते हैं ।

भाष्य—उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्तिधर्मवाला जो है, वह असत् नहीं, क्योंकि उपादान का नियम पाया जाता है। किसी की उत्पत्ति के लिए कोई नियत वस्तु ली जाती है (जैसे मक्खन के लिए दूध ही) न कि सब सब की उत्पत्ति के लिए । यदि कार्य असत् हो, तो फिर यह नियम नहीं बन सकता । (यदि उत्पत्ति से पूर्व मक्खन दूध में न हो, तो फिर मक्खन के लिए दूध के उपादान का नियम

न होता)। सत् भी नहीं, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व ही जो विद्यमान है, उस की उत्पत्ति नहीं बन सकती । सत् असत् भी नहीं, क्योंकि सत् असत् परस्पर विरोधी हैं । सत् कहने से किसी अर्थ का अंगीकार है, और असत् कहने से अर्थ का प्रतिषेध है । इन का परस्पर विरोध है, विरोध होने से इन का अभेद नहीं बन सकता ।

अवतरणिका—(सिद्धान्ती-) उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्ति धर्म वाली वस्तु असत् है, यह पक्की बात है। किस से ?

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥

उत्पत्ति और नाश के (प्रत्यक्ष-) देखने से ।

अवतरणिका—और जो कहा है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् नहीं, क्योंकि उपादान का नियम पाया जाता है ? (इस का उत्तर यह है कि—)

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥

वह असत् (=भावि कार्य) बुद्धि से सिद्ध है (इस कारण से उत्पन्न होगा अन्य से नहीं, इस अनुमान से सिद्ध है, इस लिए कार्यकर्त्ता नियत उपादान को लेता है)।

भाष्य—यह इस की उत्पत्ति के लिए समर्थ है, सब नहीं, इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व नियत कारण वाला कार्य बुद्धि से सिद्ध है, क्योंकि उत्पत्ति का नियम देखा जाता है । इस लिए उपादना का नियम बन जाता है । पर कार्य यदि उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान हो, तो उत्पत्ति ही नहीं बन सकती । (शंका-)

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्ति वदित्य हेतुः ॥ ५१ ॥

आश्रय के भेद से, वृक्ष के फल की उत्पत्ति की नांई, यह हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—मूल में जल सेचन, और फल दोनों वृक्ष के आश्रय हैं (और दार्ष्टान्तिक में-) कर्म तो इस शरीर में है, और फल परलोक में (दूसरे शरीर के आश्रय) होता है, इस प्रकार (कर्म और फल के) आश्रय का भेद होने से (प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात्) यह हेतु नहीं बनता। (समाधान-)

प्रीतेरात्माश्रयत्वाद प्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

प्रीति (सुख सन्तोष) को आत्मा के आश्रय होने से (तुम्हारा) प्रतिषेध अयुक्त है।

भाष्य—प्रीति आत्मा को प्रत्यक्ष होने से आत्मा के आश्रय है, और उसी के आश्रय कर्म होता है, जिस का नाम धर्म है, क्योंकि धर्म आत्मा का गुण है (न कि शरीर का) इस लिए आश्रय का भेद सिद्ध नहीं (जिस आत्मा में कर्म है उसी में फल है) (आक्षेप--)

न पुत्रपशु स्त्रीपरिच्छद हिरण्यान्नादि फलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥

(फल प्रीति) नहीं, क्योंकि पुत्र, पशु, स्त्री, उपकरण, सेना, अन्न आदि फलों का निर्देश है।

भाष्य—(जहां तहां) पुत्रादि फल बतलाया है, न कि प्रीति। जैसा कि 'ग्राम की कामना वाला याग करे' 'पुत्र की कामना वाला याग करे' इत्यादि। तब यह जो कहा है, कि फल प्रीति है, यह अयुक्त है। (समाधान-)

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

उन के सम्बन्ध से फल की सिद्धि होने से, उन में 'फल' की नाईं प्रयोग है।

भाष्य—पुत्रादि के सम्बन्ध से फल जो प्रीतिरूप है, वह उत्पन्न होता है, इस लिए पुत्रादि में फल की नाईं लक्षणा से प्रयोग है। जैसे अन्न में प्राण शब्द का प्रयोग है 'अन्नं वैप्राणाः'।

(दुःख परीक्षा प्रकरण)

अवतरणिका—फल के अनन्तर दुःख उद्दिष्ट है। और कहा है 'बाधनालक्षणं दुःखम्' (१ । १ । २१)। यह (फल के अनन्तर सुख दुःख दोनों को न कह कर केवल दुःख का कथन) क्या प्रत्येक आत्मा से अनुभव के योग्य, सब जीवों को प्रत्यक्ष होने वाले सुख का इन्कार है, अथवा कोई और प्रकार है। और प्रकार है, यह उत्तर है। (प्रश्न) कैसे ? (उत्तर) सारा लोक जिस का साक्षी है, उस सुख से इन्कार तो हो नहीं सकता। किन्तु जन्म मरण के सिलसिले के अनुभव के निमित्त से जो दुःख है, उस दुःख से उदास हुए, दुःख को त्यागना चाहते हुए को यह दुःख नाम की भावना का उपदेश दुःख के त्याग के लिए है। (प्रश्न) किस युक्ति से ? (उत्तर) सारे जीवशरीर, सारे उत्पात्तिस्थान, सारा फिर २ जन्म, पीड़ा से जकड़ा हुआ है, इस लिए दुःख के साहचर्य से ऋषियों ने उसे बाधनालक्षण दुःख कहा है, इस से दुःख नाम की भावना का उपदेश दिया है (दुःख से जकड़े हुए इस सुख को दुःख करके ही मानो, तब तुम इस सुख को छोड़ना मुक्ति रूप चाहोगे) और इस में यह हेतु दिया है—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेवजन्मोत्पात्तिः ।५५।

नाना विध पीड़ाओं के योग के कारण जन्म की उत्पात्ति दुःख ही है।

भाष्य—जन्म का यहां अर्थ है उत्पन्न होने वाला अर्थात् शरीर इन्द्रिय और बुद्धि। रचना विशेष से युक्त शरीर आदि का प्रादुर्भाव उत्पात्ति है। नाना विध पीड़ाएं हैं हीन, मध्यम और उत्कृष्ट।

उत्कृष्ट पीड़ाएं नारकी जीवों को होती हैं, तिर्यग्योनियों को मध्यम पीड़ाएं है, मनुष्यों को हीन, देवताओं को और वीतरागों को हीनतर होती हैं । इस प्रकार हर एक उत्पत्तिस्थान को नाना विध पीड़ाओं से जकड़ा हुआ देखते हुए के लिए, सुख में और उसके साधन जो शरीर इन्द्रिय बुद्धि हैं, उन में, दुःख संज्ञा की व्यवस्था की है। इन को दुःख नाम देने से सब लोकों के विषय में वैराग्य होता है, विरक्त की उन सब लोकों में तृष्णा नहीं रहती, तृष्णा के मिट जाने से सब दुःखों से छूट जाता है । जैसे विष के योग से दूध को विष मानता हुआ ग्रहण नहीं करता, और ग्रहण न करता हुआ मरने के दुःख को नहीं प्राप्त होता।

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

नहीं, सुख की (दुःख के) अन्तराल में सिद्धि से।

भाष्य—यह जो दुःख का उद्देश है, यह सुख का इन्कार नहीं, किस से, इस से, कि सुख की अन्तराल में सिद्धि होती है। यह सब शरीर धारियों के आत्माओं से अनुभव सिद्ध होता है, कि बाधनाओं के अन्तराल में सुख उत्पन्न होता है, इस से इन्कार नहीं हो सकता है। किञ्च—

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

प्रार्थना के दोष के कारण पीड़ा की निवृत्ति न होने से ऐसा अनुभव करने वाले के लिए अप्रतिषेध है।

भाष्य—'सुख का दुःख के उद्देश से' (अप्रतिषेध है) यह प्रकरण से सिद्ध है। पर्येषण=प्रार्थना, विषयों के उपार्जन की तृष्णा। उस का दोष यह है, कि यह जानने वाला जिस वस्तु को चाहता

है। वह उस की वाञ्छित वस्तु तय्यार नहीं होती, वा तय्यार हो कर नष्ट हो जाती है, वा न्यून तय्यार होती है, वा अनेक विघ्नों से घिरी हुई तय्यार होती है, इस प्रकार के प्रार्थनादोष से नाना प्रकार का मानस संताप होता है । ऐसा अनुभव करने वाले को प्रार्थना के दोष से पीड़ा की निवृत्ति नहीं होती। पीड़ा की निवृत्ति न होने से दुःख संज्ञा की भावना करने का उद्देश है। इस कारण से जन्म दुःख कहा है, इस लिए नहीं, कि सुख है ही नहीं। यह भी कहा है 'विषयों की कामना वाले की कामना जब पूरी होती है, तब इस को जल्दी ही और कामना आ सताती है'। 'चाहे कोई समुद्र पर्यन्त सारी भूमि को गौ घोड़ों समेत प्राप्त करले, तौ भी उस धन से वह धनाभिलाषी तृप्त नहीं होता है, धनाभिलाषी को क्या सुख है?

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

दुःख के विकल्प में सुख के अभिमान से भी—

भाष्य—सुख संज्ञा की भावना का उपदेश किया है । यह सुख के अनुभव में लगा हुआ सुख को परम पुरुषार्थ मानता है। सुख से भिन्न कोई कल्याण नहीं, सुख के प्राप्त होने पर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। इस मिथ्या संकल्प से पुरुष सुख और उस के साधन जो विषय हैं, उन में प्रीति वाला होता है, प्रीति वाला हुआ सुख के लिए चेष्टा करता है, चेष्टा करते हुए को जन्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, अनिष्ट का संयोग, इष्ट से वियोग, और वाञ्छित की असिद्धि के कारण अनेक प्रकार का जो दुःख उत्पन्न होता है, उस दुःख विकल्प को सुख है ऐसा मान लेता है, कि सुख का अंगभूत जो दुःख है, वह दुःख नहीं है, क्योंकि दुःख उठाए बिना सुख मिल नहीं सकता है। सुखके लिए होने से यह दुःख भी सुख ही है, इस प्रकार सुख के नाम से उस का विवेक मारा जाता है, वह जन्म मरण के चक्र रूपी संसार से परे नहीं होता है । इस लिए सुखसंज्ञा के

विरोधी दुःख संज्ञा की भावना का उपदेश दिया है, कि दुःख से जकड़ा हुआ होने के कारण जन्म दुःख है। इस लिए नहीं, कि सुख है ही नहीं। (प्रश्न) यदि ऐसे है, तो 'जन्म दुःख है' क्यों नहीं कहा। (दुःख ही है' क्यों कहा) (उत्तर) कहना तो ऐसा ही चाहिये था, तिस पर जो ऐसे कहा है कि 'दुःख ही है जन्म' इससे सुख का अभाव जितलाया है यह 'ही' शब्द जन्म की निवृत्ति के लिए है (अर्थात् जन्म को जन्म न मान कर दुःख मानो) कैसे? जन्म स्वरूप से दुःख नहीं, किन्तु गौण रूप से दुःख, है इसी प्रकार सुख भी (गौण दुःख है)। यह इस (ही) से निवृत्त किया है, यह भाव नहीं, कि 'दुःख ही जन्म'।

(मोक्ष परीक्षा प्रकरण)

अवतरणिका—दुःख के उपदेश के अनन्तर मोक्ष है, उस से इन्कार है—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ।५९।

ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति (इन तीनों) के अटूट सम्बन्ध से मोक्ष का अभाव है।

भाष्य—ऋण के अटूट सम्बन्ध से मोक्ष नहीं है, 'उत्पन्न हुआ ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् होता है, ब्रह्मचर्य से ऋषियों के लिए, यज्ञ से देवताओं के लिए, सन्तान से पितरों के लिए (तैत्ति० सं० ६।३।१०) ये (तीन) ऋण हैं। इन का अनुबन्ध अर्थात् अपने कर्तव्यों के साथ सम्बन्ध। कर्तव्यों के साथ सम्बन्ध कहने से (इतना हेतु है)। 'बुढ़ापे और मृत्यु तक है यह सत्र, जो कि अग्निहोत्र है, और दर्श पौर्णमास है। बुढ़ापे से वह इस सत्र से छूटता है, वा मृत्यु से'। इस प्रकार (आयु भर) ऋणों के साथ नित्यसम्बन्ध होने से मोक्ष के अनुष्ठान का काल ही नहीं रहता है, इस लिए मोक्ष का अभाव है। तथा क्लेशों के साथ नित्य सम्बन्ध से मोक्ष का

अभाव है । (राग, द्वेष, और मोह इन) क्लेशों से सम्बद्ध हुआ यह (प्राणी) मरता है, और क्लेशों से सम्बद्ध हुआ ही जन्मता है, इस को क्लेशों के सम्बन्ध का विच्छेद कभी अनुभव नहीं होता है । तथा प्रवृत्ति के नित्य सम्बन्ध से मोक्ष का अभाव है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त यह प्राणी वाचिक मानसिक और शारीरिक कर्मों से न छूटा हुआ देखने में आता है । ऐसी अवस्था में जो यह कहा है कि 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान, इन में से उत्तर २ के नाश में, उस से अनन्तर का नाश होने से मोक्ष होता हैं'। यह अयुक्त है।

अवतरणिका—इस पर कहा जाता है, कि पहले जो यह कहा है, कि 'ऋणों के नित्य सम्बन्ध से' यहां ऋण से अभिप्राय है ऋणों की नाईं जो हैं-

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दा प्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

मुख्य शब्द के न बन सकने से गौण शब्द से अनुवाद है, क्योंकि इस से निन्दा और प्रशंसा बन जाती है।

भाष्य—(श्रुति में जो) ऋणैः (है) यह मुख्य शब्द नहीं है। जहां कोई प्रत्यादेय (जिस को फिर ले लेना है उस वस्तु) को देता है, और दूसरा प्रतिदेय (जिस को फिर मोड़ देना है, उस वस्तु) को लेता है, वहां ऋण शब्द बोला जानेसे वहीं यह मुख्य शब्द होता है। यह बात यहां (ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण में) नहीं घटती। सो मुख्य शब्द के न बनने से गौण शब्द से यह अनुवाद है। ऋणैः अर्थात् ऋणैरिव=ऋण की नाईं जो हैं, उन से । ऐसी उपमा बोलने में आती है । जैसे 'अग्निर्माणवकः' अग्नि है यह ब्रह्मचारी अर्थात् तेजस्वी होने से अग्नि की नाईं है । सो अन्यत्र

(कर्ज़ अर्थ में) देखा हुआ यह ऋण शब्द यहां प्रयुक्त हुआ है। जैसे अग्नि शब्द अन्यत्र अग्नि में देखा हुआ यहां) ब्रह्मचारी में है। गौण शब्द से अनुवाद क्यों है?। क्योंकि इस प्रकार वर्णन से निन्दा और प्रशंसा सिद्ध होती है। जैसे ऋण न देने से ऋणी निन्दनीय होता है, इसी प्रकार कर्म के लोप में वह निन्दनीय होता है, और जैसे ऋण के देने से ऋणी प्रशंसनीय होता है, इसी प्रकार कर्म के अनुष्ठान में वह प्रशंसनीय होता है, यह उपमा का अर्थ है। 'जायमानः'=उत्पन्न हुआ, यह भी गौण शब्द है क्योंकि इस से उलट में अधिकार ही नहीं बनता' 'उत्पन्न हुआ ब्राह्मण' यहां 'उत्पन्न हुआ' का अर्थ है गृहस्थ हुआ। क्योंकि जब यह गृहस्थ होता है, तब कर्मों का अधिकारी होता है, माता से उत्पन्न हुए को अधिकार ही नहीं है। जब माता से उत्पन्न होता है, तब वह कर्म का अधिकारी नहीं होता है, क्योंकि अर्थी और समर्थ को अधिकार होता है। अर्थी का कर्मों में अधिकार होता है, क्योंकि कर्म विधि में कामना का सम्बन्ध बतलाया जाता है जैसे—'स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे' इत्यादि (अर्थात् कामना वाले को अधिकार बतलाया है। तथा समर्थ की ही प्रवृत्ति हो सकती है। समर्थ का कर्मों में अधिकार है, क्योंकि उसी की प्रवृत्ति हो सकती है। समर्थ जो है, वह विहित कर्म में प्रवृत्त होता है, दूसरा नहीं। 'मुख्यशब्द का अर्थ लेने में इन दोनों का अभाव होता है' माता से उत्पन्न हुए में दोनों बातें (स्वर्ग का) अर्थी होना (और कर्म करने का) सामर्थ्य नहीं होते। वैदिक वाक्य लौकिक वाक्यों से कोई निराला नहीं हुआ करता, क्योंकि वह भी समझ पूर्वक काम करने वाले पुरुष से कहा गया है, वहां लौकिक पुरुष तो साधारण भी जातमात्र कुमार को ऐसा नहीं कहेगा कि-पढ़, यज्ञ कर, ब्रह्मचर्य धारण कर, कहां फिर यह ऋषि जो युक्त और निर्दोष कहने वाला है, वह उपदेश के लिए प्रवृत्त हुआ, ऐसा उपदेश कर सकता है। कभी नाचने वाला अन्धों में नहीं प्रवृत्त होता,

न गाने वाला बहिरों में । उपदिष्ट अर्थ का जानने वाला ही उपदेश का पात्र होता है । जो उपदिष्ट अर्थ को जानता है, उसी को उपदेश किया जाता है, यह बात जातमात्र कुमार में है नहीं । किञ्च-गृहस्थपन के चिन्हों वाला ही मन्त्र और ब्राह्मण,कर्म को बतलाता है । जो मन्त्र और ब्राह्मण कर्म को बतलाता है, वह पत्नी का सम्बन्ध आदि जो ग्रहस्थपन के चिन्ह हैं, उन से युक्त होता है (अर्थात् पत्नी संयुक्त को ही कर्म बतलाए हैं) इस लिए 'उत्पन्न हुआ' से अभिप्राय गृहस्थी होने से ही है ।

'अर्थीपन के न बदलने में बुढ़ापे और मरने का वाद बन जाता है' अर्थात् जब तक फल का अर्थी होना इस का दूर नहीं होता, तब तक इस के लिए कर्म अनुष्ठेय है, इस अभिप्राय से उस के विषय में बुढ़ापे और मरने का वाद कहा है 'कि बुढ़ापे से' (इस ऋण से छूटता है) । सो 'बुढ़ापे से इस से छूटता है' इस वचन से आयु का चौथा भाग जो संन्यास का है, उस का कथन किया है । आयु का चौथा भाग जो संन्यास युक्त है, उसी को यहां 'बुढ़ापा' कहा है । क्योंकि उस अवस्था में संन्यास का विधान है । यदि अत्यन्त बुढ़ापे से अभिप्राय हो, तो 'बुढ़ापे से' (इस ऋण से छूटता है) यह वचन अनर्थक हो जाय (क्योंकि मरने से छूटता है, कहने में यह बात भी आ गई) (यदि बुढ़ापे का अर्थ लो कि) जब अशक्त हो जाता है, तब छूटता है' तो यह भी नहीं बन सकता । क्योंकि जो स्वयं अशक्त है, उस के लिए (शास्त्र) बाह्य शक्ति (का सहारा) बतलाता है । जैसे 'उस का विद्यार्थी ही होम करे, क्योंकि वह वेद से खरीदा गया है (वेद जो उसे पढ़ाया है । इस से उस पर स्वत्व हो गया है) अथवा होता हवन करे, क्योंकि वह धन से खरीदा गया है । (इस लिए बुढ़ापे से अभिप्राय अशक्त नहीं किन्तु आर्थिपन का निवृत्त होना है) (प्रश्न उत्पन्न होता है, कि हो अग्निहोत्रादि कर्म गृहस्थ के लिए, बालक के लिए इस

से पहले और कर्म होंगे, इस लिए 'जायमानः' का मुख्य अर्थ मानने में कोई हानि नहीं। इस का उत्तर देते हैं)

किञ्च–'यह विधान किये हुए का अनुवाद है, अथवा अपनी स्वतन्त्रता से विधि की कल्पना करनी है' इन में से विहित का अनुवाद ही युक्त है (क्योंकि विधि वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि बहुत से हैं। जब यह विधि न रही, तो फिर इस में गौणी कल्पना ही हो सकती है) इस लिए 'ऋणवान् की नाईं अस्वतन्त्र हुआ गृहस्थ कर्मों में प्रवृत्त होता है' यह इस वाक्य का सामर्थ्य है। फल के साधनों के विषय में प्रयत्न हुआ करता है, न कि फल में। फल के साधन जब समर्थ होते हैं, तो वे आगे फल को उत्पन्न किया करते हैं (इस लिए यद्यपि सुख आदि फल बालक को भी होता है, तथापि कर्म का विधान उस के लिए तभी हो सकता है, यदि वह साधनों का प्रयोग कर सके) इस लिए जो साधन संपन्न है, वह यहां 'जायमानः' से कहा है।

(बुढ़ापे के कथन से जो संन्यास का अभिप्राय लिया है, उस पर यह शंका समाधान है कि) (संन्यास की) प्रत्यक्ष विधि नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो प्रतिषेध का भी तो प्रत्यक्ष विधान नहीं है' अर्थात् गृहस्थाश्रम का ब्राह्मण ने प्रत्यक्ष विधान किया है, यदि कोई और आश्रम होता, तो उस का भी प्रत्यक्ष विधान करता। प्रत्यक्ष विधि के अभाव से सिद्ध है, कि और कोई आश्रम है ही नहीं? (उत्तर) यह युक्त नहीं, क्योंकि प्रतिषेध का भी प्रत्यक्ष विधान नहीं है। प्रतिषेध भी ब्राह्मण ने प्रत्यक्ष विधान नहीं किया कि 'और कोई आश्रम नहीं है, एक गृहस्थ ही आश्रम है'। सो प्रतिषेध की प्रत्यक्ष श्रुति न होने से यह अयुक्त है (यद्यपि आश्रमान्तर स्मृतियें विधान करती हैं, तथापि श्रुति से प्रत्यक्ष प्रतिषिद्ध अर्थ स्मृति का

नहीं माना जाता, जो साक्षात् प्रतिषिद्ध नहीं, वह माना जाता है)

'अधिकार से (गृहाश्रम का) विधान है, दूसरी विद्याओं की नांई' अर्थात् जैसे भिन्न २ शास्त्र अपने २ अधिकार के प्रत्यक्ष से विधायक होते हैं, न कि दूसरे विषय के अभाव से (जैसे व्याकरण प्रत्यक्ष से शब्द का विधायक है, प्रमाणों का विधायक नहीं। यह उस का नविधान इस लिए नहीं, कि प्रमाण हैं नहीं) इसी प्रकार यह ब्राह्मण अपने अधिकार में गृहस्थ शास्त्र का प्रत्यक्ष विधायक है, इस लिए नहीं, कि दूसरे आश्रम हैं नहीं। मोक्ष के बतलाने वाली भी ऋचाएं और ब्राह्मण बतलाए गए हैं। ऋचाएं और ब्राह्मण अपवर्ग के बतलाने वाले हैं। ऋचाएं जैसे-'सन्तान वाले, धन के चाहने वाले ऋषि कर्मों के द्वारा जन्म मरण में पड़े रहे, और जो दूसरे विज्ञानी ऋषि कर्मों से ऊपर पहुंच गए, वे अमृतत्व को प्राप्त हुए'। तथा-'न कर्म से, न प्रजा से, न धन से, किन्तु अकेले त्याग (संन्यास) से अमृतत्व को प्राप्त हुए, जो स्वर्ग (कर्म फल) से परे गुफा में स्थित (लौकिक बुद्धियों से छिपा) हुआ चमकता है, जिस में यति प्रवेश करते हैं'। 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूं, जो अन्धकार (अविद्या) से परे सूर्य की नांई चमक रहा है, उसी को जान कर पुरुष मृत्यु से पार होता है, और कोई मार्ग चलने (वा पहुंचने) के लिए नहीं है'।

अब ब्राह्मण हैं—'धर्म के तीन स्कन्ध (बड़े डाल) हैं। यज्ञ स्वाध्याय और दान यह पहला (स्कन्ध) है। तप ही दूसरा है। ब्रह्मचारी बन कर अपने को सदा तपस्या द्वारा क्षीण करते हुए आचार्य के घर रहना तीसरा है। ये सारे (धर्मी) पुण्य लोकों को प्राप्त होते हैं। हां ब्रह्म में दृढ़ निष्ठा वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है। (छान्दोग्य २ । २ । २३) 'इसी (आत्मा को चाहते हुए परिव्राजक घरों से चले जाते हैं' (बृहदारण्यक ४ । ४ । २२) 'और

भी कहते हैं कि 'यह पुरुष कामनामय ही है। उसकी जैसी कामना होती है, वैसा संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा फल लगता है' बृहदारण्यक ४।४।५) इस प्रकार कर्मों से संसारगति कह कर प्रकृत जो दूसरी बात है, उसका उपदेश करते हैं 'यह उस पुरुष के विषय में कहा है, जो कामना वाला है, अब उस को कहते हैं, जो कामना नहीं करता है। वह जो कामनाओं से रहित है जो कामनाओं से ऊपर हो गया है, जिस की कामनाएं पूरी हो गई हैं, जिस को केवल आत्मा की कामना है, उस के प्राण नहीं निकलते हैं (दूसरा देह नहीं धारते हैं) यहीं लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है (बृहदारण्यक ४। ४। ६)। ऐसी अवस्था में जो यह कहा है कि 'ऋणों के के नित्य सम्बन्ध से मोक्ष का अभाव है' यह अयुक्त है। 'जो चार मार्ग हैं देवताओं की गति के' इस प्रकार चारों आश्रमों के श्रुति-विहित होने से एक आश्रम का होना अयुक्त है। फलार्थी (जो कामना से परे नहीं हुआ) के लिए यह ब्राह्मण है, कि 'बुढ़ापे और मरने तक है यह सत्र, जो अग्निहोत्र है, और दर्शपौर्णमास है'(प्रश्न) कैसे (उत्तर-)

समारोपणादात्मन्य प्रतिषेधः ॥ ६१ ॥

(अग्नियों के) आत्मा में समारोपण से (संन्यास का) प्रतिषेध अयुक्त है।

भाष्य—'प्राजापत्या इष्टि का निर्वाप करके, उस में सर्वस्व होम कर, आत्मा में अग्नियों का समारोपण करके ब्राह्मण संन्यास लेवे' यह श्रुति है। इस से जानते हैं, कि सन्तान, धन और लोक की कामना से जो ऊपर उठ चुका है, उस का अब फलार्थी होना

निवृत्त हो गया है, ऐसी अवस्था में (अग्नियों का आत्मा में) समारोपण विधान किया है। (अर्थात् अब उस के लिए अग्निहोत्र अनुष्ठेय नहीं रहा)। इसी प्रकार ब्राह्मण हैं–'अब याज्ञवल्क्य एक नए कर्तव्य को आरम्भ करने लगा बोला 'हे मैत्रेयि ! मैं इस स्थान (गृहाश्रम) से चला जाने को हूं, हन्त अब तेरा इस कात्यायनी के साथ विभाग कर जाऊं' (बृह० ४ । ५ । १-२) किञ्च–'हे मैत्रेयि ! तुझे पूरी शिक्षा दे दी है, इतना ही हे प्रिये अमृतत्व है, यह कह कर याज्ञवल्क्य (जंगल को) चला गया (बृह०४ । ५ । १५)

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः । ६२ ।

पात्रचय पर्यन्त कर्म के न बनने से फल नहीं होता।

भाष्य—(यजमान के मरने पर यजमान के शरीर के साथ अंग २ के साथ नियत २ यज्ञ पात्र रख कर अन्त्येष्टि की जाती है। यदि–) बुढ़ापे और मृत्यु तक कर्म सबके लिए कल्पना किया जाय, तो सब के लिए पात्रचय (यज्ञपात्र रखने) पर्यन्त कर्म हों, यह अतिव्याप्ति आती है। ऐसी अवस्था में कामनाओं से ऊपर उठना श्रुति में न कहा जाता, जैसा कि कहा है 'इसी को जानते हुए पूर्व विज्ञानियों ने सन्तान की कामना नहीं की 'हम सन्तान से क्या करेंगे, जिन के पास यह आत्मा है, यह लोक (ब्रह्म) है' और वे पुत्रों की कामना से, धन की कामना से और लोक की कामना से उठ कर भिक्षा वृत्ति से घूमते रहे' (बृहदा० ४ । ४ । २२) जो कामनाओं से ऊपर उठ चुका है, उस के लिए पात्रचयान्त कर्म नहीं बन सकते। इसलिए कर्ता को अविशेष से फल नहीं होता है (किन्तु जो प्रजा, धन और लोक की वासना से युक्त हैं, उन्हीं को फल मिलता है)।

किञ्च–इतिहास, पुराण और धर्म शास्त्रों में चारों आश्रमों के विधान से एक ही आश्रम का होना नहीं बनता है । 'वे अप्रमाण हैं, यदि ऐसा कहो, तो नहीं क्योंकि प्रमाणभूत (ब्राह्मण) से उन की प्रमाणता मानी गई है' =प्रमाणभूत (ब्राह्मण) से इतिहास पुराण की प्रमाणता मानी गई है 'ये जो अथर्वाङ्गिरस हैं, उन्होंने इस इतिहास पुराण का कथन किया इतिहास पुराण पांचवां वेदों का वेद है' इस लिए यह अयुक्त है, कि ये प्रमाण नहीं है। 'धर्म शास्त्र की अप्रमाणता में तो सारी लोक मर्यादा का लोप हो जाने से लोक के नाश का प्रसंग होगा । 'द्रष्टा और प्रवक्ता की समानता से भी अप्रमाणता नहीं बनती'। जो मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा हैं, वे ही इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता हैं । विषय की व्यवस्था के अनुसार अपने २ विषय में सब की प्रमाणता होती है। मन्त्र और ब्राह्मण का एक अलग विषय है, और इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों का अलग है। मन्त्र ब्राह्मण का विषय है यज्ञ, इतिहास पुराण का विषय है लोक बीती, और धर्मशास्त्रों का विषय है लोक व्यवहार की व्यवस्था करनी । ऐसा होने पर एक शास्त्र से सारी व्यवस्थाएं नहीं की जातीं। किन्तु (सारे शास्त्र) इन्द्रियों की नाईं अपने २ विषय में प्रमाण होते हैं।

अवतरणिका—अच्छा तो जो यह कहा है कि क्लेशों के नित्य सम्बन्ध से (अपवर्ग नहीं है, इस पर कहते हैं–)

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाव वदपवर्गः ।६३।

सुषुप्त को स्वप्न न देखने की अवस्था में जैसे क्लेशों का अभाव होता है, वैसा मोक्ष है ।

भाष्य—जैसे सुषुप्त को स्वप्न न देखने की अवस्था में

राग का सम्बन्ध और सुख दुःखों का सम्बन्ध कट जाता है, वैसे मोक्ष में भी। और यही ब्रह्मवेत्तामुक्त आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं।

अवतरणिका—और जो कहा है, कि प्रवृत्ति के नित्य सम्बन्ध से (इस का उत्तर है—)

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ।६४।

नहीं, क्योंकि जिस के क्लेश कट गए हैं, उस की प्रवृत्ति फिर जन्म के लिए नहीं होती।

भाष्य—राग द्वेष मोह के नष्ट हो जाने पर प्रवृत्ति फिर जन्म के लिए नहीं होती। प्रति सन्धान=मुड़ कर जोड़ना, से अभिप्राय पूर्व जन्म की निवृत्ति में फिर जन्म है जो कि अदृष्ट के कारण होता है। प्रवृत्ति के नष्ट होने पर पूर्व जन्म के अभाव में जन्मान्तर का जो अभाव है वह अप्रतिसन्धान अपवर्ग है। (तब) 'कर्मों के निष्फल होने का प्रसंग होगा, यदि ऐसा कहो, तो नहीं, क्योंकि कर्म विपाक के भोगने से इन्कार नहीं किया है'=पूर्व जन्म की निवृत्ति में फिर जन्म नहीं होता है, यह कहा है, न कि कर्मविपाक के भोगने का खण्डन है। सारे पूर्व कर्म अन्तले जन्म में पक जाते हैं।

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥

नहीं, क्योंकि क्लेशों का सिलसिला स्वाभाविक है।

भाष्य—क्लेशों के सिलसिले का कट जाना नहीं बन सकता। क्यों? इस लिए कि क्लेशों का सिलसिला स्वाभाविक है। अनादि है यह क्लेशों का सिलसिला, और अनादि जो है, वह उखाडा नहीं जा सकता। इस पर कोई (एक देशी) समाधान कहता है—

प्रागुत्पत्तेरभावा नित्यत्ववत् स्वाभाविकेप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव (प्रागभाव) है, उस की अनित्यता की नाई स्वाभाविक में भी अनित्यता हो सकती है।

भाष्य—जैसे उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव है, वह अनादि है, वह उत्पन्न हुए भाव से निवृत्त कर दिया जाता है (घट से घट-प्रागभाव निवृत्त होता है) इसी प्रकार स्वाभाविक भी क्लेश का सिलसिला अनित्य है।

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥

अथवा अणुओं की श्यमता के अनित्य होने की नाई।

भाष्य—दूसरा (एक देशी) कहता है। जैसे अनादि है अणुओं की श्यामता, और है अग्नि संयोग से अनित्य (नाश वाली), वैसे क्लेशों का सिलसिला भी (अनादि होकर भी अनित्य है) (ये दोनों एक देशी मत हैं, इन में से प्रथम का खण्डन करते हैं–) सद्वस्तु का धर्म है नित्यता वा अनित्यता, (अभाव का नहीं)। वह अभाव में लक्षणा से कही जाती है (नित्य वह होता है, जिस का कोई कारण न हो, प्रागभाव भी बिना कारण के होता है, इसलिए उसे लक्षणा से नित्य कहा है) (दूसरे एक देशी का खण्डन) अणुओं की श्यामता अनादि है, यह बात युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि इस में कोई हेतु नहीं। जो अनुत्पत्ति धर्म वाला हो, वह अनित्य हो, इस में कोई हेतु नहीं हो सकता है (अर्थात् अणु श्यामता अनादि नहीं, पाकज होने से उत्पत्तिमती है)। यह है परम समाधान–

न संकल्प निमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ।६८।

नहीं, क्योंकि संकल्प भी रागादि का निमित्त होता है।

भाष्य—(रागादि का) निमित्त कर्म भी होता है, और (राग आदि) आपस में भी एक दूसरे के निमित्त होते हैं। इन दोनों बातों का (सूत्रस्थ) 'च' से समुच्चय होता, है, (संकल्प निमित्त

को उपपादन करते हैं-) मिथ्या संकल्प, जो पुरुष को रक्त, क्रुद्ध और मोहित करने वाले होते हैं, उन से राग द्वेष और मोह उत्पन्न होते हैं। (कर्म निमित्त का उपपादन करते हैं-) कर्म जो भिन्न २ जीव जातियों का उत्पादक होता है, वह नियत राग द्वेष मोहों को उत्पन्न करता है, क्योंकि ऐसा नियम देखा जाता है, कि किसी जीवजाति में राग प्रधान होता है (जैसे कबूतर में) किसी में द्वेष प्रधान होता है, [जैसे सर्प में] किसी में मोह प्रधान होता है [जैसे अजगर में] [तीसरा निमित्त] आपस में एक दूसरे के निमित्त से रागादि की उत्पत्ति होती है। मोह वाला पुरुष किसी पर अनुरक्त होता है [उस के विरोधी आदि पर] क्रुद्ध होता है। इसी तरह रक्त पुरुष मोहित होता है, कुपित भी मोहित होता है। [सो संकल्प रागादि का निमित्त है) और सारे मिथ्या संकल्पों का तत्त्वज्ञान से नाश होता है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस से राग आदि की फिर कभी उत्पत्ति नहीं होती।

किञ्च—क्लेशों का सिलसिला अनादि है, यह बात ही अयुक्त है। सारे ये शरीर आदि आध्यात्मिक भाव अनादि सिलसिले से चले आ रहे हैं, इन में कोई ऐसा उत्पन्न नहीं होता, जो पहले कभी उत्पन्न न हुआ हो, यहीं उस की प्रथम उत्पत्ति हो, सिवाय तत्त्व ज्ञान के। (सो क्लेश प्रवाह से अनादि होते हुए भी स्वरूप से अनादि नहीं हैं]। ऐसा मानने में अनुत्पत्ति धर्म वाली कोई वस्तु नाश धर्म वाली नहीं प्रतिज्ञात होगी [अन्यथा अनादि राग द्वेष मोह का नाश मानने में अनुत्पत्ति धर्म वाले का नाश मानना होगा]। कर्म जो जीव जातियों का उत्पादक है, वह तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्या संकल्प के मिट जाने के कारण रागादि की उत्पत्ति का निमित्त नहीं होता, हां सुख दुःख का अनुभव रूप फल होता है।

इति श्री वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अथ चतुर्थाध्यायस्यद्वितीयमाह्निकम् ।

अवतरणिका—(मोक्ष की परीक्षा के अनन्तर अब मोक्ष के साधन तत्वज्ञान की परीक्षा आरम्भ करते हैं-) (पूर्वपक्षी) क्या भाई (इस विषय में) जितने विषय हैं, उन सब में, अलग २ एक २ के विषय में ज्ञान उत्पन्न होता है,वा कहीं२ उत्पन्न होता है, । (प्रश्न) इस में क्या भेद है, (उत्तर) जितने विषय हैं, उन सब में एक २ में तो उत्पन्न हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं (वे जानने के अशक्य हैं) और कहीं २ उत्पन्न होता हो, यह भी नहीं बनता। क्योंकि जहां उत्पन्न न हुआ, वहां मोह (अज्ञान) निवृत्त न हुआ, इस लिए मोह बना रहेगा । और ऐसा हो नहीं सकता, कि एक वस्तु के विषय में तत्त्वज्ञान होने से अन्य वस्तु के विषय में मोह हट जाय (सो मोह बना रहने से मोक्ष नहीं होगा) (सिद्धान्ती) मोह से अभिप्राय मिथ्या ज्ञान है, न कि तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र। वह मिथ्या ज्ञान जिस विषय में हुआ संसार का बीज होता है, वही विषय तत्त्व से जानने योग्य है । (प्रश्न) अच्छा तो वह मिथ्या ज्ञान कौनसा है ? (उत्तर) अनात्मा को 'यह मैं हूं' इस प्रकार आत्मा करके ग्रहण करना मोह है यही अहंकार है। अनात्मा को 'यह मैं हूं' ऐसे देखते हुए की यह दृष्टि अहंकार है । (प्रश्न) अच्छा तो वह अर्थ-जात क्या है, जिस के विषय में अहंकार होता है (उत्तर) शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, और बुद्धि (प्रश्न) कैसे इन के विषय में अहं-कार संसार का बीज होता है (उत्तर) यह पुरुष शरीर आदि अर्थजात को 'यह मैं हूं' ऐसा समझता हुआ,उसके उच्छेद से आत्मा का उच्छेद मानता हुआ, उच्छेद न हो, इस तृष्णा से दबाया हुआ, बार २ उस (शरीरादि अर्थजात) को ग्रहण करता है। उस को ग्रहण करता हुआ ऐसा प्रयत्न करता है, जिस से जन्म मरण बना रहता है, उस (जन्म मरण) से अलग न होने से दुःख से अत्यन्त मुक्त नहीं

होता है। पर जो दुःख को, दुःख के घर (शरीर इन्द्रिय विषयों को) और दुःख से जकड़े हुए सुख को, इस सब को, दुःख करके देखता है। वह दुःख को पहचान लेता है, पहचाना हुआ दुःख त्याग दिया जाता है, क्योंकि वह फिर उसको ग्रहण नहीं करता, जैसे विष युक्त अन्न को। इसी प्रकार दोषों (राग द्वेष मोह) को और कर्म को दुःख का हेतु करके देखता है। वह देखता है, कि दोषों के नष्ट हुए बिना दुःख के सिलसिले का उच्छेद हो नहीं सकता है, इस लिए दोषों को त्यागता है। दोषों के नष्ट हो जाने पर 'फिर प्रवृत्ति पुनर्जन्म के लिए नहीं होती' (४ । १ । ६४) यह पूर्व कह आए हैं। सो प्रेत्य-भाव, फल और दुःख इन को तो ज्ञेय (जानने योग्य अर्थ) स्थिर करता है और कर्म और दोषों को हेय (त्यागने योग्य)। मोक्ष को अधिगन्तव्य (प्राप्त करने योग्य) और तत्त्व ज्ञान को (मोक्ष की) प्राप्ति का उपाय (जानता है)। इस प्रकार चार प्रकारों में बांटे हुए प्रमेय का लगातार अभ्यास करते हुए, भावना में लाते हुए को, सम्यग् दर्शन=जैसा है, वैसे का बोध=तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। और तब—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहंकारनिवृत्तिः ।१।

दोषों (रागादि) के निमित्तों (शरीरादि) के तत्त्व ज्ञान से अहंकार की निवृत्ति होती है।

भाष्य—शरीर से लेकर दुःख पर्यन्त जो प्रमेय है (१।१ ९), वह दोषों का निमित्त है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान उन के विषय में होता है। इस लिए उन के विषय में उत्पन्न हुआ तत्त्व ज्ञान अहंकार को निवृत्त करता है, क्योंकि समान विषय में उन दोनों (तत्त्व ज्ञान और अहंकार रूप मिथ्या ज्ञान) का विरोध है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इन में से उत्तर २ के नाश होने पर उस से अनन्तर का अभाव होने से मोक्ष होता है

(१।१।२)। सो यह शास्त्र के तात्पर्य का संग्रह वहां अनुवाद किया है, अपूर्व विधान नहीं है। (आत्मा से अलग करके जानने का ज्ञान किस से आरम्भ करे? इस का उत्तर देते हैं) अलग २ ध्यान करने के क्रम से तो—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः।२।

दोषों का निमित्त होते हैं, संकल्प में लाए हुए रूपादि विषय।

भाष्य—इन्द्रियों के अर्थ=रूपादि, कामना का विषय हैं, वे मिथ्या संकल्प में लाए हुए राग द्वेष मोह को उत्पन्न करते हैं, उन को पहले ध्यान में लाए, उन को ध्यान में लाते हुए का रूपादि के विषय में जो मिथ्या संकल्प है, वह निवृत्त हो जाता है। उस के निवृत्त होने पर अध्यात्म जो शरीरादि है, उस को ध्यान में लाए, उस को ध्यान में लाने से अध्यात्म (शरीरादि के) विषय में अहंकार निवृत्त हो जाता है। तब यह अध्यात्म (शरीरादि) और बाह्य (रूपादि) दोनों से विरक्त हो विचरता हुआ मुक्त कहा जाता है।

अवतरणिका—इससे आगे (जो उपदेश है, वह इसलिए है, कि) कोई संज्ञा त्याज्य है और कोई भावना के योग्य है, यह उपदेश दिया है। किसी अर्थ का खण्डन वा ग्रहण नहीं है। (प्रश्न) कैसे?

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः॥ ३॥

उन का निमित्त है अवयवी का अभिमान।

भाष्य—उन का=दोषों का निमित्त हुआ करता है अवयवी का अभिमान। पुरुष के लिए है स्त्री संज्ञा अपनी सजावट समेत और स्त्री के लिए है पुरुष संज्ञा। सजावट के दो भेद हैं, एक निमित्त संज्ञा, दूसरी अनुव्यञ्जनसंज्ञा। निमित्तसंज्ञा होती हैं दन्त, ओष्ठ, नेत्र, नासिका। और अनुव्यञ्जनसंज्ञा, ऐसे हैं दांत, और ऐसे हैं ओष्ठ।

यह संज्ञा काम को बढ़ाती है, और काम के साथ लगे रहने वाले वर्जनीय दोषों को बढ़ाती है (अर्थात् रागादि दोषों का निमित्त पुरुष के लिए स्त्री का, उसके अंगों, अंगों की बनावट और सजावट का चिन्तन है, इसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष के)। इस (संज्ञा) का वर्जन तब होता है, जब भेद से उस के अवयवों के नाम धरे जाएं। जैसे (स्त्री वस्तुतः) केश, लोम, मांस, लहू, हड्डी, नाड़ियें, सूक्ष्म नाड़ियें, कफ, पित्त और मल मूत्रादि का ही नाम है (इस के सिवाय और क्या है)। इस को अशुभ संज्ञा कहते हैं। इस संज्ञा की भावाना करने वाले का काम राग दूर हो जाता है। सो विषय के (अवयवी रूप और अवयव रूप) दो प्रकार के होते हुए कोई संज्ञा भावना करने योग्य है, और कोई वर्जन करने योग्य है, यह उपदेश है। जैसे विष मिले अन्न में अन्न संज्ञा उस के ग्रहण के लिए होती है और विष संज्ञा त्याग के लिए (इस लिए विष मिले अन्न की अन्न संज्ञा त्याग कर विष संज्ञा ही चिन्तन करनी चाहिये। इसी प्रकार स्त्री संज्ञा त्याग कर मांस रुधिर संज्ञा ही चिन्तन करनी चाहिये)।

(अवयवावयवी प्रकरण)

अवतरणिका—अब अर्थ का प्रतिषेध करते हुए अवयवी का उपपादन करते हैं—

विद्या विद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥४॥

उपलब्धि और अनुपलब्धि के दो प्रकार का होने से संशय होता है।

भाष्य—सत् की और असत् की उपलब्धि से दो प्रकार की उपलब्धि है तालाब में सत् जल की उपलब्धि होती है, और मरु-मरीचिका में असत् जल की)। इसी प्रकार सत् असत् की अनु-पलब्धि से अनुपलब्धि भी दो प्रकार की है (दबे हुए सत् धन की भी अनुपलब्धि है, और असत् धन की भी अनुपलब्धि है)। अब

अवयवी को यदि उपलब्ध होता हुआ मानो, तो उपलब्धि के दो प्रकार का होने से संशय होगा, और यदि अनुपलब्ध मानो, तो अनुपलब्धि के दो प्रकार का होने से संशय होगा। सो यह अवयवी उपलब्ध होता है, तौ भी, नहीं उपलब्ध होता है, तौ भी, संशय से किसी प्रकार नहीं छूट सकता है (सिद्धान्ती)-

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५॥

उस में संशय अयुक्त है, क्योंकि पूर्व हेतुओं से पूरा सिद्ध हो चुका है।

भाष्य--उस (अवयवी) में संशय अयुक्त है, क्योंकि (अवयवी के साधक) पूर्वोक्त (२ । १ में कहे) हेतुओं का अप्रतिषेध होने से, है अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति। (पूर्वपक्षी-)

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६॥

वृत्ति के न बनने से भी तब संशय नहीं (यदि पूर्व हेतुओं की प्रसिद्धि से तुम्हें अवयवी के होने में संशय नहीं, तो अवयवों की अवयवी में वृत्ति न बनने से अवयवी के न होने में भी कोई संशय नहीं)।

भाष्य--अवयवी है नहीं, इस में संशय नहीं। इस को खोल कर कहते हैं-

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः * ॥ ७ ॥

अवयवों की, अवयवी सारे में, वा उस के एक देश में, वृत्ति न बनने से अवयवी का अभाव है।

---

* विश्वनाथ ने यह सूत्र नहीं लिखा, पर भाष्य और वार्तिक में ' तद्विभाजते ' अवतरण देकर इस के उतारने से सूत्र ही प्रतीत होता है और न्याय सूची में भी है।

भाष्य—(क्या एक २ अवयव सारे अवयवी में रहता है, वा अवयवी के एकदेश में रहता है ?) एक २ अवयव सारे अवयवी में वर्तमान हो, ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि अवयव और अवयवी के परिमाण का भेद है (अवयव की लम्बाई चौड़ाई वा तोल अवयवी के बराबर नहीं होते)। दूसरा—दूसरे अवयवों के सम्बन्ध के अभाव का प्रसंग होगा (जब एक ही अवयव सारे अवयवी में वर्तमान हुआ, तो दूसरे अवयवों का सम्बन्ध कहां होगा)। (अवयव) अवयवी के एक देश के साथ सम्बद्ध हो, यह भी नहीं बनता, क्योंकि इस के एक देश (उन अवयवों के सिवाय) कोई और अवयव तो है ही नहीं (जिन में उन की वृत्ति मानी जाए, और उसी अवयव को एकदेश मान कर उसी में रहता है कहो, तो आत्माश्रय दोष आएगा । इस लिए अवयवों का अवयवी में रहना तो दोनों प्रकार से नहीं बन सकता) अब यदि अवयवों में अवयवी रहता है, ऐसा कहो तो—

तेषुचावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

उन में भी अवृत्ति से अवयवी का अभाव आता है ।

भाष्य—अवयवी एक २ (अवयव) में तो रहता नहीं है, क्योंकि उन दोनों के परिमाण का भेद है (यदि एक २ अवयव में रहे, तो एक २ अवयव उतना हो, जितना अवयवी है)। और दूसरा उत्पत्ति वाले द्रव्य को एक द्रव्य से बना हुआ मानने का प्रसंग आएगा (और है यह विरुद्ध, अकेली वस्तु उसी रूप में रहती है, उस से कुछ नहीं बनता । और मानो ही, तो द्व्यणुक एक परमाणु से बना ठहरा, और एक परमाणु में विभाग होगा नहीं, और कारण विभाग के बिना कार्य का नाश नहीं होगा, तब द्व्यणुक का नाश कभी होगा ही नहीं) और न ही यह बनता है, कि अवयवी अपने एक २ देश से सारे अवयवों में रहता है, क्योंकि (उन अवयवों के सिवाय)

और कोई अवयव हैं नहीं (जो अवयवी के एकदेश हों । और उन्हीं अवयवों से उन में रहना आत्माश्रय दोष से नहीं बनता)। सो इस प्रकार संशय युक्त नहीं। अवयवी कोई नहीं है

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

और कि, अवयवों से भिन्न (कोई अवयवी) है नहीं।

भाष्य—अवयव जो कि धर्मी हैं, उन से अलग (किसी अवयवी) धर्म का ग्रहण भी नहीं होता।

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

और अवयव ही अवयवी नहीं (इस लिए अवयवी कोई है ही नहीं)।

एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्द प्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

एक में भेद का अभाव होने से, भेद वाचक शब्दों का प्रयोग बन ही नहीं सकता, इस लिए (पूर्वोक्त) प्रश्न अयुक्त है

भाष्य—क्या एक २ अवयव में सारा अवयवी रहता है, या एक देश से रहता है? यह प्रश्न बन नहीं सकता। क्यों? इस लिए कि एक में भेद का अभाव होने से भेद वाचक शब्द का प्रयोग नहीं बनता। 'सारा' इस शब्द से तो अनेकों की अशेषता का कथन होता है। और 'एक देश' इस से भेद में किसी अंश का कथन होता है। इस प्रकार ये दोनों 'सारा, और एक देश' शब्द, भेद में बोले जाते हैं, अवयवी जो एक है, उस में नहीं बन सकते, क्योंकि उस में भेद का अभाव है

अवतरणिका—(और जो कहा है कि-) अन्य अवयवों के

न होने से एकदेश से भी (अवयवी अवयवों में) नहीं रहता है, यह अहेतु है, क्योंकि

अवयवान्तर भावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

और अवयव होने में भी तो वृत्ति नहीं हो सकती, इस लिए अहेतु है।

भाष्य—'और अवयव के न होने से' यह हेतु दिया है। (इस पर कहते हैं) यदि और अवयवभूत एकदेश हो, तौ भी तो अवयव में दूसरा अवयव वर्तेगा, न कि अवयवी। सो अन्य अवयव होने में भी (उस में अवयवी की) वृत्ति न होने से 'एकदेश से वृत्ति नहीं बनती, क्योंकि और कोई अवयव है नहीं' यह हेतु नहीं बनता। (इस लिए अवयवी जब एक है, तो उस में यह प्रश्न नहीं बनता, कि वह सारा वर्तता है, वा एकदेश से वर्तता है)। (प्रश्न) अच्छा तो फिर (अवयवी की अवयवों में) वृत्ति किस प्रकार है, यदि ऐसा कहो, तो जिस का आत्मलाभ (स्वरूप स्थिति) जिस से अन्यत्र न बने, वह आश्रय होता है। कारण द्रव्य (=अवयवों) से अन्यत्र कार्य द्रव्य (=अवयवी) आत्मलाभ नहीं कर सकता (इस लिए अवयव सारे मिल कर आश्रय हैं और अवयवी उन सब के आश्रित है)। और कारण द्रव्यों में उलट है (वे कार्य के बिना अलग २ अपना आत्मलाभ रखते हैं)। 'नित्यों में कैसे होगा, यदि ऐसा कहो, तो अनित्यों में देखने से वहां सिद्ध है' नित्य द्रव्यों में कैसे है आश्रयाश्रयिभाव यदि ऐसा कहो, तो अनित्यों में आश्रयाश्रित भाव देखा जाता है, नित्यों में (इसी रीति पर लक्षणा से) सिद्ध होता है। इस लिए (सूत्र ३ में) मोक्षार्थी के लिए अवयवी के अभिमान का निषेध किया है, न कि अवयवी का। जैसे रूपादियों के विषय में मिथ्या संकल्प का निषेध है, न कि रूपादि का।

अवतरणिका—'अवयवी की असिद्धि से किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं होगा' इस प्रकार उत्तर दिया हुआ भी [परमाणु-पुञ्ज वादी] कहता है—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धि वत् तदुपलब्धिः ॥१३॥

मोतियाबिन्द वाले को केश के समूह में उपलब्धि की नांई उस की (परमाणु पुञ्ज की) उपलब्धि होगी।

भाष्य—जैसे मोतियाबिन्द वाले को एक २ केश उपलब्ध नहीं होता है, पर केश समूह उपलब्ध होता है। इसी प्रकार एक २ अणु उपलब्ध नहीं भी होता। तथापि अणु समूह का ग्रहण होता है। सो यह जो उपलब्धि है यह अणुसमूह के विषय में है (अवयवी कोई नहीं है)

(समाधान—)

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥१४॥

इन्द्रिय के पटु होने वा मन्द होने के कारण विषय ज्ञान का इस प्रकार होना जो है, यह अपने विषय को उल्लङ्घन किये बिना ही होता है, अविषय में प्रवृत्ति नहीं है।

भाष्य—इन्द्रियों के पटु और मन्द होने से विषय ग्रहण का पटु होना वा मन्द होना अपने २ विषय में होता है। नेत्र उत्कृष्ट हुआ भी (नेत्र का) अविषय जो गन्ध है, उसको ग्रहण नहीं करता, और निकृष्ट हुआ भी अपने विषय से नहीं फिसलता है। सो यह मोतियाबिन्द वाला कोई द्रष्टा नेत्र के विषय भूत केश को ग्रहण नहीं करता (दृष्टि के मन्द होने से) और केश समूह को ग्रहण करता है, पर मोतियाबिन्द के रोग से रहित नेत्र से दोनों (केश और केश समूह) ग्रहण किये जाते हैं। पर परमाणु जो हैं, वे तो इन्द्रियों का

विषय ही नहीं, किसी से भी इन्द्रियों द्वारा नहीं गृहीत होते, और इकट्ठे हुए गृहीत होजाते हैं, ऐसा मानने में अविषय में इन्द्रिय की प्रवृत्ति का प्रसंग होगा। क्योंकि (तुम्हारे मतमें तो) अणुओंसे भिन्न कोईवस्तु गृहीत नहीं हो रही। तब ये परमाणु इकट्ठे हुए तो इन्द्रियों का आविषय होने रूप धर्म को त्याग देते हैं, और अलग २ हुए गृहीत न होते हुए इन्द्रियों का विषय नहीं बनते हैं। यह बड़ा भारी विरोध द्रव्य की उत्पत्ति न मानने में आता है। इस लिए सिद्ध है, कि एक अन्य द्रव्य (अवयवी) उत्पन्न हो जाता है, जो उपलब्धि का विषय होता है। 'संचय (ढेर) मात्र विषय है, यदि ऐसा कहो, तो संचय है संयोग, और संयोग अतीन्द्रिय वस्तुओं का उपलब्ध नहीं होता, इस लिए यह अयुक्त है'=संचय है अनेकों का संयोग, और संयोग अपने आश्रय भूत द्रव्यों के ग्रहण के आश्रय पर गृहीत होता है, अतीन्द्रियों के आश्रय गृहीत नहीं होता। क्योंकि संयोग की उपलब्धि इस प्रकार ही होती है कि 'यह इस से संयुक्त है' (सो 'यह और इस' पहले गृहीत हो, तब ऐसी उपलब्धि होगी) इस लिए यह (तुम्हारा कथन) अयुक्त है। किञ्च--इन्द्रिय से जो विषय गृहीत हो सकता है, उस की अनुपलब्धि में अनुपलब्धि का कारण आवरण आदि उपलब्ध होता है (पर यहां कोई ऐसा कारण उपलब्ध नहीं होता, जिस से यह सिद्ध हो सके, कि इस प्रतिबन्ध के हटा देने से परमाणु प्रत्यक्ष हो जाता है)। इस लिए अणुओं की यह अनुपलब्धि इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण नहीं (अपितु नेत्र का अविषय होने से है) जैसे नेत्र से गन्ध आदि की अनुपलब्धि नेत्र की दुर्बलता के कारण नहीं।

अवयवावयविप्रसंगश्चैव माप्रलयात् ॥१५॥

इस प्रकार (वृत्ति न बन सकने से अवयवी का अभाव मानने में) तो अवयवावयवी का प्रसंग नाश तक पहुंचेगा।

भाष्य—अवयवों में वृत्ति न बनने से अवयवी का जो अभाव

कहा है, वह (इसी प्रकार आगे) अवयव के अवयवों में प्रसक्त होता हुआ सर्वनाश तक पहुंचता है वा निरवयव परमाणु से निवृत्त हो जाता है (अर्थात् अपने अवयवों में वृत्ति न बनने से स्थूल का अभाव जैसे है, वैसे अपने अवयवों में वृत्ति न बनने से उस अवयव का भी अभाव, है इस प्रकार यह अभाव सर्वनाश तक पहुंचता है, वा परमाणु पर जा कर ठहर जाता है) दोनो प्रकार से उपलब्धि के विषय का अभाव आता है (सर्व नाश में तो उपलब्धि का विषय कोई रहा ही नहीं, और परमाणुपर्यन्त कहनेमें, परमाणु अतीन्द्रिय होने से उपलब्धि का विषय नहीं)। उस (उपलब्धि के विषय) के अभाव से उपलब्धि का अभाव आता है। किञ्च-उपलब्धि के आश्रय पर यह वृत्ति का प्रतिषेध किया है, वह अपने आश्रय का बाध करता हुआ अपना ही बाधक बनता है।

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

सर्वनाश नहीं है, क्योंकि अणु हैं।

भाष्य—अवयवों का आगे २ विभाग होते जाने से जो (अवयवी की) वृत्ति का प्रतिषेध है, वह परमाणु से निवृत्त होता है, सर्व नाश तक नहीं पहुंचता है। परमाणु निरवयव है, क्योंकि विभागों के द्वारा (किसी अवयवी का) छोटे से छोटा होता जाने का जो प्रसंग है, वह, जिस से आगे और छोटा नहीं हो सकता, वहां ठहर जाता है। ढेले को विभक्त करते २ उत्तरोत्तर छोटे से छोटा टुकड़ा निकलता आएगा, वह यह अल्पतर का प्रसंग जिस से आगे अल्पतर कोई नहीं, जो परम अल्प है, वहां निवृत्त हो जाता है। जिस से अल्पतर कोई नहीं, उस को हम परमाणु कहते हैं।

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥

अथवा त्रसरेणु से परे है।

भाष्य—यदि अवयवविभाग की कहीं स्थिति न मानें, तो त्रसरेणु के अवयव भी अनन्त मानने होंगे, इस से त्रसरेणुत्व की निवृत्ति होगी (जब अवयवावयवी धारा का कहीं विश्राम न हो, तो जैसे हिमालय के अनन्त अवयव, वैसे ही त्रसरेणु के अनन्त अवयव होने से त्रसरेणुत्व की निवृत्ति होगी)

(परमाणु की निरवयवता का प्रकरण)

अवतरणिका—अब शून्यवादी कोई भी वस्तु नहीं है, ऐसे मानता हुआ कहता है—

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥१८॥

आकाश के अन्तः समावेश से उस की [निरवयव परमाणु की] अनुपपत्ति है।

भाष्य—उस की अर्थात् निरवयव अणु की अनुपपत्ति है, क्यों ? इस लिए, आकाश उस के अन्दर घुसा हुआ है। अणु जो है, वह अन्दर बाहर आकाश से समाविष्ट है, समावेश से सावयव है, सावयव होने से अनित्य है।

आकाशासर्वगतत्वंवा ॥ १९ ॥

या फिर आकाश सब जगह नहीं होगा।

भाष्य—यदि यह नहीं मानते, किन्तु मानते हो, कि परमाणु के अन्दर आकाश नहीं है, तो आकाश का सर्वगत [सर्वत्र] होना नहीं रहता [समाधान-]

बहिरन्तश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तर वचनाद कार्ये तदभावः ॥ २० ॥

अन्दर बाहर ऐसा कार्य द्रव्य के कारणविशेषों का कथन

होता है, इस लिए अकार्य में उन का अभाव है [अन्दर बाहर कहना बन ही नहीं सकता]।

भाष्य—अन्दर से अभिप्राय उस कारण द्रव्य से होता है, जो दूसरे [ऊपरले] कारणद्रव्यों से ढका हुआ है । और बाहर से अभिप्राय ढकने वाला और स्वयं न ढका हुआ कारण ही कहा जाता है [ऊपरले अवयवों का नाम बाहर है, अन्दरले अवयवों का नाम अन्दर] यह बात कार्य द्रव्य की बन सकती है, न कि परमाणु की, क्योंकि वह अकार्य है । परमाणु जो कि अकार्य है, उस में अन्दर बाहर का अभाव है । और जहां इस का भाव है, वह अणुओं का कार्य है, न कि परमाणु, जिस से कोई अल्पतर नहीं है, वह परमाणु है।

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २२ ॥

शब्द के और संयोग के सर्वत्र होने से सर्वगत है।

भाष्य—जहां कहीं शब्द उत्पन्न होते हैं, आकाश में होते हैं। तथा मन, परमाणु और उन के कार्यों के साथ आकाश के संयोग हैं, कोई भी मूर्त द्रव्य नहीं मिलता है, जो आकाश से संयुक्त न हो, इस से आकाश असर्वगत नहीं है।

अव्यूहाविष्टम्भ विभुत्वानि चाकाशधर्माः । २३।

न हटना, न रोकना और व्यापक होना ये आकाश के धर्म हैं।

भाष्य—जैसा कि काष्ठ से जल हटाया जाता है, इस प्रकार आकाश किसी प्रतिघाति द्रव्य से हटाया नहीं जाता । क्योंकि वह निरवयव है । और आगे २ चलते हुए किसी प्रतिघाति द्रव्य को रोकता भी नहीं, अर्थात् उस की क्रिया के हेतु को रोकता नहीं । क्योंकि स्पर्श से हीन है । इस से उलट में रुकावट देखी

जाती है [रोकने वाला सभी द्रव्य स्पर्श वाला देखा गया है] सो स्पर्श वाले में देखे धर्म की उस से विपरीत [स्पर्श हीन] के विषय में शंका करनी ठीक नहीं है।

'अणु का अवयव अणुतर मानना पड़ेगा, इस से अणु के कार्य का प्रतिषेध है' अर्थात् अणु को सावयव मानें, तो अणु का अवयव अणुतर मानना होगा, क्योंकि कार्य द्रव्य और कारण द्रव्य के परिमाण का भेद देखा जाता है। इस लिए अणु का अवयव अणुतर होगा, और जो सावयव है, वह अणु का कार्य है। इस लिए अणु को अणु का कार्य होना प्रतिषिद्ध है। किञ्च–कार्य की अनित्यता कारण द्रव्य के विभाग [अलग २ होने] से होती है, न कि आकाश के समावेश से। ढेले की अनित्यता अवयवों के विभाग से होती है, न कि आकाश के समावेश से [ढेला इस लिए अनित्य नहीं होता कि उस के अन्दर आकाश था, किन्तु इस लिए, कि उस के अवयव अलग २ हो जाते हैं, सो अवयवविभाग अनित्यता का कारण है, न कि आकाश का अन्तः समावेश] [शंका]

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ।२३।

मूर्ति वालों का संस्थान बन सकने से अवयवों की विद्यमानता है।

भाष्य—परिच्छिन्न वस्तुएं जो स्पर्श वाली हैं, उनका संस्थान त्रिकोण, चतुष्कोण, चपटा, गोल इस प्रकार बनता है। यह संस्थान है अवयवों का सन्निवेश [अर्थात् अवयवों के नीचे ऊपर आगे पीछे रखने का ढंग=तरतीब] परमाणु भी गोल हैं, इसलिए वे सावयव हैं।

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ।

संयोग के बनने से भी [परमाणु सावयव हैं]

भाष्य—[तीन परमाणु जब एक दूसरे के आगे मिलें तब]

मध्य में हुआ अणु पूर्वले और पिछले अणुओं से संयुक्त हुआ उन दोनों में व्यवधान उत्पन्न करता है, उस व्यवधान से अनुमान किया जाता है, कि वह (मध्य का अणु) पूर्व भाग से पूर्वले अणु के साथ संयुक्त हुआ है, और पर भाग से परले के साथ संयुक्त हुआ है। ये जो पूर्वले और परले भाग हैं, वे उस (मध्य के अणु के) अवयव हैं। इसी प्रकार सब ओर से संयुक्त हुए के सब ओर के जो भाग हैं, वे सब ओर के अवयव हैं।

(इन दोनों हेतुओं का खण्डन-) यह जो है, कि 'मूर्तिमतां संस्थानोपपत्तेरवयव सद्भावः' इस के विषय में तो कहा ही है। क्या कहा है? जिस से छोटा नहीं होता है, वहां विभाग द्वारा छोटा २ होता जाने का प्रसंग निवृत्त हो जाता है, और अणु के अवयव को अणुतर होने के कारण अणु का कार्य नहीं मान सकते। और जो कहा है 'संयोगोपपत्तेश्च'। यहां यह है, कि स्पर्श वाला होने से व्यवधान होता है, और संयोग अपने सारे आश्रय का व्यापक नहीं होता, इस लिए लक्षणा से (संयुक्त का) भाग बोलने में आता है' इस विषय में कहा है 'अणु स्पर्श वाला है' सो स्पर्श वाले दोनों अणुओं के प्रतिघात से मध्य का अणु व्यवधायक होता है, सावयव होने के कारण नहीं। और स्पर्श वाला होने के कारण जब व्यवधान हुआ, तब अणुओं का संयोग अपने आश्रय को व्याप नहीं लेता, (अव्याप्यवृत्ति होता है) इस लिए वहां लक्षणा से (संयोग की अव्याप्यवृत्तिता बतलाने के लिए) भाग बोला जाता है, कि मानों यह भागों वाला है (वस्तुतः उस के भाग नहीं क्योंकि अवयव नहीं)। सो कहा है इस विषय में, कि जिस से और छोटा नहीं है, विभाग में छोटा २ होने का प्रसंग वहां जा ठहरता है, किञ्च अणु के अवयव को अणुतर का प्रसंग आता है, इस से 'अणु कार्य हैं,' इस बात का प्रतिषेध है।

अवतरणिका—'मूर्ति वालों का संस्थान बन सकने से, और संयोग बन सकने से' परमाणु सावयव हैं, इन दोनों हेतुओं को—

अनवस्था कारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चा प्रतिषेधः ॥ २५ ॥

अनवस्थाकारी होने से, और अनवस्था के अयुक्त होने से, (निरवयवता का) प्रतिषेध अयुक्त है।

भाष्य—जो मूर्ति वाला है, और जो संयुक्त होता है, वह सब सावयव है, यह दोनों हेतु अनवस्थाकारी हैं, और अनवस्था अयुक्त है। अवस्था हो, तो हेतु सच्चे बनें, इस लिए (इन हेतुओं से) निरवयवता का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। और विभाग का प्रलय तक पहुंचना नहीं बनता, क्योंकि विभक्त होने वाला भी कोई हो, तभी विभाग होता है, सो विभाग से विभाज्य की हानि नहीं बनती। किञ्च--अनवस्था में हर एक अवयवी में द्रव्य के अवयव अनन्त मानने पड़ेंगे, इस से परिमाण का भेद वा गुरुत्व के भेद का ग्रहण नहीं बनेगा। जब परमाणु से आगे भी अवयव विभाग माना, तो फिर अवयव और अवयवी सब समान परिमाण वाले मानने होंगे (और ऐसा मानना दृष्ट विरुद्ध है)।

(प्रतीति के मिथ्यात्ववाद का खण्डन-)

अवतरणिका— यह जो आप बुद्धि का आश्रय लेकर 'बुद्धि के विषय हैं,' ऐसा मानते हैं। ये तो बुद्धियें ही मिथ्या हैं। यदि कोई तत्त्व बुद्धियें भी हों, तब तो बुद्धि से विवेचना करने पर बुद्धि के विषयों का यथार्थ होना उपलब्ध हो—

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावाना याथात्म्यानुपल-

ब्धिस्तन्त्वपकर्षणेपटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ २६ ॥

पर भावों की, बुद्धि से विवेचना करने से, यथार्थता की अनुपलब्धि है जैसे तन्तु २ के अलग करने में वस्त्र के सद्भाव की अनुपलब्धि है, इस प्रकार उस की अनुपलब्धि है।

भाष्य—जैसे यह तन्तु है, यह तन्तु है, इस प्रकार एक २ करके तन्तुओं को अलग करें, तो उन तन्तुओं से अतिरिक्त कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है, जो वस्त्र बुद्धि का विषय हो। सो (वस्त्र की) यथार्थता की अनुपलब्धि से बिना, अपने निज विषय की उत्पन्न होती हुई वस्त्र बुद्धि मिथ्या बुद्धि है, इसी प्रकार सर्वत्र है। (समाधान-)

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

परस्पर विरुद्ध होने से (पूर्वोक्त हेतु) अहेतु है।

भाष्य—यदि भावों की बुद्धि से विवेचना होती है, तो फिर सारे भावों की यथार्थता की अनुपलब्धि नहीं (तन्तु मान कर वस्त्र से इन्कार करने में तन्तु तो यथार्थ सिद्ध हुए, और उस के भी आगे अवयव मान कर उस को अयथार्थ कहो, तौ भी जो अन्तिम अवयव ठहरेंगे, उन की तो यथार्थता माननी ही होगी, और यदि सारे भावों की यथार्थता की अनुपलब्धि है, तो बुद्धि से विवेचना नहीं बनती, बुद्धि से विवेचना करने में तो अन्त में कोई ठहरेगा ही) सो बुद्धि से भावों की विवेचना, और यथार्थता की अनुपलब्धि ये परस्पर विरोधी हैं। सो कहा है 'अवयवावयव विप्रसंगइचैव माप्रलयात्' (पूर्व १५) (और जो यह कहा है, कि वस्त्र तन्तुओं से अलग गृहीत नहीं होता, इस का उत्तर यह है)।

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

उन के आश्रय होने से अलग ग्रहण नहीं होता ।

भाष्य—कार्य द्रव्य कारण द्रव्य के आश्रित होता है, इसलिए अपने कारणों से अलग उपलब्ध नहीं होता । विपर्यय में अलग ग्रहण होता है। जहां आश्रयाश्रित भाव नहीं, वहां अलग ग्रहण होता है (जैसे घट और पट अलग २ गृहीत होते हैं)। बुद्धि से विवेचना करने से भावों का अलग ग्रहण (यद्यपि अवयवावयवी के इन्द्रिय ग्राह्य होने में अस्फुट है तथापि) अतीन्द्रिय अणुओं में (स्फुट है) वहां (त्रसरेणु रूप कार्य) जो इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, वह बुद्धि से विवेचना किया हुआ [अणुओं से सुस्पष्ट] अलग है [क्योंकि अणु अतीन्द्रिय हैं और यह ऐन्द्रियिक है] ।

प्रमाणतश्चार्थ प्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

किञ्च-प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है ।

भाष्य—बुद्धि से विवेचना करने से भावों की यथार्थता की उपलब्धि है । जो है और जैसा है, वह सब प्रमाण द्वारा उपलब्धि से सिद्ध होता है, जो प्रमाण से उपलब्धि है, वही भावों की बुद्धि से विवेचना है, इस से सारे शास्त्र, सारे कर्म, और शरीरधारियों के सारे व्यवहार व्याप्त हैं । परीक्षा करता हुआ बुद्धि से निश्चय करता है, कि यह है, यह नहीं है। ऐसी अवस्था में सारे भावों की अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

प्रमाणों के बनने और न बनने से ।

भाष्य—ऐसा होने पर ‘ सब नहीं हैं ’ यह नहीं बनता है । किस से ? प्रमाण के बनने और न बनने से । यदि ‘ सब नहीं है ’ इस में प्रमाण बन जाता है, तो ‘ सब नहीं है ’ यह बाधित हो

जाता है [क्योंकि प्रमाण तो है] यदि प्रमाण नहीं बनता है, तो 'सब नहीं है' इस की कैसे सिद्धि है। यदि प्रमाण के बिना सिद्धि है, तो 'सब है' इस की क्यों सिद्धि नहीं। [शंका-]

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ३१ ॥

स्वप्न के विषयों के अभिमान की नांई ये सारा प्रमाण प्रमेय का अभिमान है।

भाष्य—जैसे स्वप्न में विषय नहीं, और अभिमान होता है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय नहीं हैं, तथापि प्रमाण प्रमेय का अभिमान होता है।

मायागन्धर्व नगरमृगतृष्णिकावद्वा । ३२ ।

अथवा इन्द्रजाल, गन्धर्व नगर और मृगतृष्णिका की नांई [बाह्य विषयों का मिथ्याभिमान है] [समाधान-]

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

हेतु के अभाव से [प्रमाण प्रमेयाभिमान की] असिद्धि है।

भाष्य—स्वप्नावस्था में विषयों के अभिमान की नांई प्रमाण प्रमेय का अभिमान है, पर जागरित अवस्था में विषयों की उपलब्धि की नांई सच्ची उपलब्धि नहीं, इस विषय में [कोई विनिगमक] हेतु नहीं है। हेतु के अभाव से असिद्धि है। किञ्च-स्वप्नावस्था में न होते हुए विषय उपलब्ध होते हैं, इस में भी तो कोई हेतु नहीं बतलाया। 'जागने में उन विषयों के उपलब्ध न होने से कहो, तो जाग्रत के विषयों की उपलब्धि से फिर भी प्रतिषेध नहीं बनता' अर्थात यदि जागने पर उपलब्ध न होने से स्वप्न में विषय नहीं हैं ऐसा कहो, तो यह जो जागे हुए पुरुष को विषय उपलब्ध होते हैं, ये तो हैं, क्योंकि (जाग्रत में) उपलब्ध होते हैं। क्योंकि उलट में हेतु का

सामर्थ्य है। उपलब्धि का अभाव हो, तब अनुपलब्धि से अभाव सिद्ध होता है। दोनों प्रकार से (=उपलब्धि अनुपलब्धि में) अभाव मानने में तो अनुपलब्धि का (अभाव के सिद्ध करने में) कोई सामर्थ्य नहीं है। (जब उपलब्धि में भी अभाव ही माना जाय, तो फिर अनुपलब्धि से अभाव कैसे सिद्ध हो) जैसे प्रदीप के अभाव से रूप का अदर्शन है वहां भाव से अभाव का सामर्थ्य सिद्ध होता है (यदि दीपक होने पर रूप का दर्शन होता है, तभी न होने से अदर्शन कहना बनता है)। किञ्च-'स्वप्नों के भेद में हेतु कहना चाहिये' =स्वप्न के विषयों के अभिमान की नांई' ऐसा कहने वाले को स्वप्नों के भेद में हेतु कहना चाहिये, कि क्यों? कोई स्वप्न भय से मिला होता है, कोई आनन्द से भरा होता है। कोई दोनों से विपरीत होता है। और किसी समय स्वप्न दीखता ही नहीं है। जो स्वप्न के विषयों के अभिमान का कोई निमित्त मानता है, उस के पक्ष में तो निमित्त के भेद से भेद बन जाता है (पर अर्थाभाववाद में तो निमित्त को भी सत्य नहीं माना है)।

स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ।३४।

स्मृति और संकल्प की नांई स्वप्न के विषयों का अभिमान है।

भाष्य—जैसे स्मृति उस अर्थ को विषय करती है, जो पहले जाना हुआ है, और संकल्प भी पहले जाने हुए को विषय करता है, (स्मरण और संकल्प के समय विषय नहीं होता, तथापि स्मरण होता उस का है, जो पहले जाना हुआ है. और संकल्प (चिन्तन) होता उसी के विषय में है, जो पहले जाना हुआ है, इस लिए स्मृति और संकल्प के समय उन का विषय नहीं, पर) वे उस के खण्डन के समर्थ नहीं होते। वैसे स्वप्न में भी जो विषयज्ञान है, वह पहले जाने हुए के विषय में होता हुआ उस के खण्डन के समर्थ नहीं है। इस प्रकार स्वप्न का विषय जाग्रत अवस्था वाले ने देखा हुआ

है, जो सोया हुआ स्वप्न देखता है, वह जाग कर स्वप्न के दर्शनों का स्मरण करता है । यह मैंने देखा था । तब जाग्रत् के ज्ञान के अधीन यह निश्चय होता है, कि स्वप्न के विषय का अभिमान मिथ्या है । अर्थात् स्मरण होने पर जो जागते हुए की बुद्धि वृत्ति है, उस के अधीन यह निश्चय होता है, कि स्वप्न के विषय का अभिमान मिथ्या है । 'दोनों के एक जैसा होने में तो साधन अनर्थक होता है'=जिस के पक्ष में स्वप्न और जाग्रत् के विषय में कोई विशेषता नहीं (दोनों मिथ्या हैं) उस का 'स्वप्न के विषय की अभिमान की नाईं' ऐसा साधन अनर्थक है, जब कि उस के (मिथ्यात्व बुद्धि के) आश्रय ही का खण्डन कर दिया है । 'न उस में वह' यह मिथ्या निश्चय प्रधान (=सच्चे ज्ञान) के आश्रय होता है । अपुरुष जो स्थाणु [खंभा] है, उस के विषय में 'पुरुष है' यह जो निश्चय है, वह प्रधान के आश्रय होता है। ऐसा नहीं होता, कि पुरुष पहले जाना ही न हो, फिर अपुरुष में पुरुष ऐसा निश्चय हो । इसी प्रकार स्वप्न विषय का निश्चय कि 'मैंने हाथी देखा, पर्वत देखा' यह भी प्रधान के आश्रय ही होने योग्य है [सच्चा हाथी और सच्चा पर्वत भी होना चाहिये, जिस को देखने के पीछे भूल से पुरुष इनको अन्य में समझे] । और ऐसा होने पर [अर्थात् मिथ्या ज्ञान को प्रधान के आश्रय होने पर-]

मिथ्योपलब्धि विनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमान प्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

मिथ्या उपलब्धि का नाश होता है तत्व ज्ञान से [जो कि उस का बाधक है] जैसा कि जागने पर स्वप्न विषय के अभिमान का नाश होता है [न कि अर्थ सामान्य का] ।

भाष्य—स्थाणु में 'यह पुरुष है' ऐसा निश्चय मिथ्या बुद्धि है, जो कि 'न उस में वह है' यह ज्ञान है । और स्थाणु में 'स्थाणु

है' यह निश्चय तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान से मिथ्या उपलब्धि निवृत्त होती है, न कि अर्थ सामान्य स्थाणु वा पुरुष। जैसे जागने में जो ज्ञान की वृत्ति है, उस से स्वप्न विषय का अभिमान निवृत्त किया जाता है, न कि अर्थ अर्थात् [स्वप्न दृष्ट] विषय का सामान्य स्वरूप। वैसे इन्द्रजाल, गन्धर्व नगर और मृगतृष्णिका की जो बुद्धियां है, ये भी 'न उस में वह हैं' ये निश्चय हैं, वहां भी इसी ढंग से तत्त्व ज्ञान से मिथ्या उपलब्धि का नाश होता है, न कि अर्थ का प्रतिषेध [अर्थ तो वे जगत् में होते ही हैं]। किञ्च-इन्द्रजाल आदि में मिथ्या ज्ञान अपने नियत उपादान [समवायि कारण] वाला होता है। जो कुछ दूसरों को दिखलाना है, उस के सदृश द्रव्य को लेकर [उस रूप में दिखलाने के] साधनों वाला [मायावी] मिथ्या निश्चय उत्पन्न कर देता है, वह इन्द्रजाल है। कुहर आदि का नगर के सदृश सन्निवेश (तरतीब) होने में दूर से नगर बुद्धि उत्पन्न होती है, उलटमें नहीं होती। इसीप्रकार सूर्यकी किरणें, जब भूमिकी गर्मीसे मिल कर लहराती हैं; तो उन में सामान्य (जो किरणों और जलों का सामान्य धर्म श्वेतता और लहराना है, उस) के ग्रहण से जल बुद्धि उत्पन्न होती है। निकट स्थित पुरुष को इस के उलट वह बुद्धि नहीं होती। कहीं, कभी, किसी को होने से मिथ्या ज्ञान बिना निमित्त के नहीं होता। किञ्च-माया के चलाने वाले को और दूसरे को बुद्धि का भेद देखा गया है (द्रष्टा को जो दीखता है, मायावी स्वयं उस को वैसा नहीं समझता) तथा दूरस्थ और निकटस्थ को इन्द्रजाल, गन्धर्व नगर और मृगतृष्णिका में (बुद्धि भेद होता है) तथा सोए हुए और जागे हुए को (बुद्धि भेद होता है) यह सब (भेद) सब के अभाव में बिना स्वरूप के निरुपाख्य रूप में नहीं बन सकता है।

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

और इसी प्रकार बुद्धि और निमित्त का होना उपलब्ध होने से [बुद्धि और बुद्धि का निमित्त है, शून्य नहीं]।

भाष्य—अर्थ की नाईं मिथ्या बुद्धि का भी प्रतिषेध नहीं हो सकता। क्यों? इस लिए, कि [बुद्धि के] निमित्त की उपलब्धि है और [बुद्धि के] सद्भाव की उपलब्धि है। मिथ्या बुद्धि का निमित्त (जो अर्थ है, वह भी) उपलब्ध होता है, और मिथ्या बुद्धि भी अनुभव का विषय होने से हर एक आत्मा में उत्पन्न हुई उपलब्ध होती है, इस लिए मिथ्या बुद्धि भी है। [और मिथ्या बुद्धि का निमित्त होने से अर्थ भी है, अन्यथा मिथ्या बुद्धि की उत्पत्ति ही नहीं बनेगी]।

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ।३७

तत्त्व [अर्थ] और प्रधान [मिथ्या बुद्धि में भी समान अर्थ] के भेद से मिथ्याबुद्धि [के निमित्त] का दो प्रकार का होना बनता है [दोनों के सहारे ज्ञान उत्पन्न होता है]।

भाष्य-[खम्भे को भूल से पुरुष समझने में] तत्त्व [अर्थ] है खम्भा, और प्रधान है पुरुष, तत्त्व और प्रधान के भेद अर्थात् दोनों के होने के कारण स्थाणु में 'पुरुष' यह मिथ्याबुद्धि उत्पन्न होती है, कारण इस में दोनों के सामान्य धर्म का ग्रहण [और विशेष धर्म का अग्रहण है]। इसी प्रकार (श्वेत) झंडी में बगला, और ढेले में कबूतर यह मिथ्या बुद्धि होती है। और एक ही विषय में मिथ्या बुद्धियों का समावेश (इकट्ठ) भी नहीं होता, क्योंकि (सब के) सामान्य धर्म का ग्रहण नहीं है। पर जिस के मत में सब शून्यरूप निरुपाख्य है, उस के मत में (एक ही विषय में सारे मिथ्याज्ञानों के) समावेश की प्राप्ति आती है (क्योंकि शून्य रूप होने से तत्त्व प्रधान भेद ही नहीं बनता) और गन्ध आदि प्रमेय में गन्ध आदि बुद्धियें, जो कि मिथ्या मानी हैं वे तत्त्व बुद्धियें ही ठहरती हैं, क्योंकि (तुम्हारे मत में) न कोई

तत्त्व प्रधान है, न सामान्य ग्रहण है। इस लिए यह कहना अयुक्त है, कि प्रमाण प्रमेय बुद्धियें मिथ्या हैं।

(प्रकरण-तत्वज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि के उपाय)

अवतरणिका—दोष के निमित्तों के तत्त्व ज्ञान से मुक्ति होती है, यह कहा है। अब तत्त्व ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है?

समाधि विशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

समाधि विशेष के अभ्यास से।

भाष्य—इन्द्रियों से लौटा लिए हुए मन का धारक (एक जगह टिका देने वाले) प्रयत्न से टिकाए हुए का तत्त्व ज्ञान की इच्छा से आत्मा के साथ संयोग होता है। उस (संयोग) के होने पर इन्द्रियों के विषयों में बुद्धियें उत्पन्न नहीं होती हैं, उसके अभ्यास के वश से तत्त्व बुद्धि उत्पन्न होती है।

(शंका)—जो कहा है, कि उस (संयोग) के होते हुए इन्द्रियों के विषयों में बुद्धियें नहीं उत्पन्न होती हैं। यह—

नार्थविशेष प्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

(ठीक) नहीं, क्योंकि विषय विशेष की प्रबलता होती है।

भाष्य—न चाहते हुए को भी बुद्धि की उत्पत्ति होती है, इस लिए यह युक्त नहीं। क्यों? इस लिए, कि विषय विशेष की प्रबलता होती है। न चाहते हुए को भी बुद्धि की उत्पत्ति देखी गई है, जैसे बिजली की कड़क आदि में (सुनना न चाहते हुए को भी कड़क सुनाई देती है)ऐसी अवस्था में समाधि विशेष नहीं बन सकता है।

क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ॥४०॥

भूख आदि से भी प्रवृत्ति होती है।

भाष्य—भूख प्यास से, शीत उष्ण से और रोगों (की पीड़ा) से न चाहते हुए की भी बुद्धियें प्रवृत्त होती हैं। इस से एकाग्रता नहीं बन सकती।

(समाधान-) हो यह बात, कि (भूख आदि से) समाधि को त्याग करके व्युत्थान, और व्युत्थान का निमित्त समाधि का विरोधी (कड़क आदि) भी हो, इस के होते हुए भी—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

पूर्व किये (योग के) और फल के सम्बन्ध से उस (समाधि) की उत्पत्ति होगी।

भाष्य—पूर्व किया, अर्थात् जन्मान्तर में संचय किया तत्त्वज्ञान का हेतु जो धर्म रूप प्रबल संस्कार, और फल का सम्बन्ध अर्थात् यहां किये योग के अभ्यास का सामर्थ्य, क्योंकि अभ्यास निष्फल हो, तो अभ्यास का आदर ही न करें, लौकिक कर्मों में अभ्यास का सामर्थ्य देखा जाता है (स्वर के अभ्यास से रागी और शिल्प के अभ्यास से शिल्पी होता है) (सो पूर्व जन्म के पुण्य प्रभाव से और इस जन्म के अभ्यास से चित्त अधिकाधिक टिकने वाला बन जाता है)। और (समाधि के) विरोधियों को दूर रखने के लिए ही तो बन गुफा और बरेते आदि (एकान्त) स्थानों में योगाभ्यास करने का उपदेश है। योगाभ्यास से उत्पन्न हुआ धर्म जन्मान्तर में साथ रहता है, वह तत्त्व ज्ञान का हेतु भूत धर्म इकट्ठा होते २ जब सीमा तक पहुंच जाता है, तब प्रकृष्ट समाधिभावना के होने पर तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है। (निःसंदेह अर्थ विशेष की प्रबलता से दुर्बल समाधि का भंग होता है, पर प्रबल समाधि का नहीं जैसा कि) समाधि से अर्थविशेष की प्रबलता का दबाव देखा

गया है जैसा कि 'मैंने यह नहीं सुना, मैंने यह नहीं जाना, मेरा मन अन्यत्र था' यह लौकिक पुरुष कहा करते हैं।

(शंका-) यदि अर्थविशेष की प्रबलता से न चाहते हुए को भी बुद्धि की उत्पत्ति मानते हो, तो-

अपवर्गेऽप्येवंप्रसङ्गः ॥ ४२ ॥

मोक्ष में भी ऐसा प्रसंग होगा।

भाष्य—मुक्त को भी बाह्य अर्थ के सम्बन्ध से बुद्धियें उत्पन्न होंगी। (समाधान-)

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४३ ॥

नहीं; क्योंकि (शरीर की) सिद्धि में तो (विषयों का ग्रहण) अवश्यम्भावी होता है।

भाष्य—जब कर्म के वश से शरीर, जो चेष्टा इन्द्रिय और विषयों का आश्रय है, बन गया, तो अब निमित्त के हो जाने से बुद्धियों की उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो गई। किन्तु प्रबल भी बाह्य अर्थ (इन्द्रियों के बिना निरे) आत्मा की बुद्धि उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है, उस का तो इन्द्रियों के साथ संयोग होने से बुद्धि के उत्पन्न करने में सामर्थ्य देखा गया है।

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४४ ॥

और मोक्ष में उस का (इन्द्रिय और अर्थ के आश्रयभूत शरीर का) अभाव है।

भाष्य—उस का अर्थात् बुद्धि के निमित्त का आश्रय जो शरीर और इन्द्रिय है, उसका मोक्ष में धर्माधर्म के अभाव के कारण अभाव होता है, तब जो यह कहा है 'अपवर्गेऽप्येवंप्रसंगः' यह अयुक्त है। इस लिए सारे दुःखों से छूटना मोक्ष है। यतः मोक्ष में

सारे दुःखों का बीज (राग द्वेष मोह) और सारे दुःखों का घर (शरीर) नष्ट हो जाता है, इस लिए मोक्ष सारे दुःखों से छूटना है। बीज के बिना और आश्रय के बिना दुःख उत्पन्न नहीं होता है।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म विध्युपायैः ॥ ४५ ॥

उस (मोक्ष) के लिए यम और नियमों के द्वारा, तथा योग (शास्त्र) से अध्यात्म विद्या के उपायों (प्राणायाम आदि) द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिये।

भाष्य—उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए यम और नियमों के द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिये। यम (अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह) सारे आश्रमियों का समान धर्म है। नियम (अपना २) अलग २ है। आत्मा का संस्कार है अधर्म का त्याग और धर्म की वृद्धि। तथा योगशास्त्र से अध्यात्मविधि जाननी चाहिये, वह है तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, और ध्यान। इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य का अभ्यास राग द्वेष के दूर करने के लिए है। और उपाय है योग के आचारों (एकान्त सेवन आदि) का अनुष्ठान।

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।४६।

और (उपाय है) शास्त्र के ज्ञान का अभ्यास, और उस विद्या वालों के साथ संवाद।

भाष्य—'उस के लिए' यह प्रकृत है। ज्ञान का अर्थ है, जिस से जाना जाय, अर्थात् आत्म विद्या का शास्त्र (शरीर आदि से आत्मा के भेद का बोधक न्याय शास्त्र), उस का ग्रहण, अर्थात् उस का पढ़ना और धारणा, अभ्यास है, लगातार पढ़ना, सुनना

और सोचना । (अर्थात् मोक्ष के लिए अध्यात्म शास्त्रों को लगातार पढ़े सुने और सोचे)। और उस विद्या वालों के साथ संवाद प्रज्ञा के परिपक्व करने के लिए होता है । परिपक्व करना है संशय का मिटाना, अविज्ञात अर्थ का जानना, और निर्धारित अर्थ में सम्मति मिल जानी । 'उस विद्या वालों के साथ संवाद' इस संक्षिप्त वचन को खोलते हैं-

तंशिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ४७ ॥

उस (संवाद) को सरल प्रकृति वाले शिष्य, गुरु, सब्रह्मचारी, और विशिष्ट (विद्वान् धर्म निष्ठ) और कल्याण चाहने वालों के साथ अंगीकार करे।

भाष्य—इस का आशय पाठ से ही स्पष्ट है ।

अवतरणिका—यदि ऐसा विचार हो, कि पक्ष प्रतिपक्ष का स्वीकार करना दूसरे के (गुरु आदि के) प्रतिकूल है, तो-

प्रतिपक्षहीन मपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।४८।

अर्थी होने में अपने प्रयोजन के लिए प्रतिपक्ष से हीन ही (उस संवाद को अंगीकार करे)।

भाष्य—'उस को अंगीकार करे' यही पिछले सूत्र से आ रहा है । दूसरे से प्रज्ञा लेना चाहता हुआ, तत्त्व जानना चाहता हूं, ऐसी इच्छा को प्रकाश करके अपना पक्ष स्थापन किये बिना उस से अपने दर्शन का परिशोध करे।

अवतरणिका—एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं वादियों के दर्शन, सो कई (वादी) अपने पक्ष के राग से न्याय का उल्लङ्घन कर जाते हैं, वहां-

तत्त्वाध्यावसाय संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीज-प्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ४९ ॥

तत्त्व ज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा होते हैं, जैसे बीज के अंकुर की रक्षा के लिए कांटों की बाड़ होती है।

भाष्य—पर यह अनुज्ञा उन के लिए है, जिन को अभी तत्त्व ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, दोष क्षीण नहीं हुए, किन्तु अभी उसके लिए चेष्टा कर रहे हैं। और जब कि विद्या और वैराग्य आदि से प्रतिवादी ने अपमान किया हो (अपने सच्छास्त्र और उस के प्रवर्तकों को अज्ञानी और असत्यवादी ठहरा कर साधारण लोगों को धर्म से विमुख करता हो, तब उस के साथ-)।

ताभ्यां विगृह्यकथनम् ॥ ५० ॥

उन दोनों (जल्प वितण्डा) के द्वारा झगड़ कर कहना बनता है।

भाष्य—'झगड़ कर' कहने से यह विचार विपक्षी को जीतने की इच्छा से होता है, न कि तत्त्व जानने की इच्छा से। और यह भी विद्या की रक्षा के लिए होना चाहिये, न कि लाभ, पूजा और ख्याति के लिए।

इति श्री वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

* 'साधर्म्य और वैधर्म्य को लेकर खण्डन करने के भेदों से जातियें अनेक होती हैं' यह संक्षेप से कहा है (१।२।२० के भाष्य में)। उस का विस्तार से विभाग करते हैं। वे जातियें,

---

* परीक्षा समाप्त हो चुकी, अब अन्त में जाति और निग्रह-स्थानों के भेद खोल कर वर्णन करते हैं। जिस से कि शिष्य अपने प्रयोग में इन से बचे, और दूसरे से प्रयुक्त किये को पकड़ सके।

स्थापना हेतु का प्रयोग करने पर, २४ प्रकार के प्रतिषेध के हेतु रूप हैं—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्ष वर्ण्यावर्ण्य विकल्प-साध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्ग प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्ति संशयप्रकरण हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धि नित्यानित्यकार्यसमाः† ॥ १ ॥

साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्ग-सम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्ति सम, संशयसम, प्रकरण सम, हेतु सम, अर्थापत्ति सम, अविशेष सम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, कार्यसम।

भाष्य—साधर्म्य से किसी अर्थ का खण्डन करना जो स्थापना के हेतु से विशेषता नहीं रखता है वह साधर्म्य सम है। यह अविशेषता वहां २ उदाहरणों द्वारा स्फुट करते जाएंगे। इसी प्रकार वैधर्म्यसम आदि का भी निर्वचन जानना। लक्षण ये हैं—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

साधर्म्य और वैधर्म्य से उपसंहार हो, वहां उन (साधर्म्य वैधर्म्य) से उलटा बन सकने से साधर्म्य सम और वैधर्म्य सम (प्रतिषेध) होते हैं।

---

† 'सम' शब्द का एक २ के साथ सम्बन्ध होने से 'साधर्म्यसम' इत्यादि अर्थ होगा।

भाष्य—जब समान धर्म को लेकर उपसंहार हो, तो साध्य-धर्म के विपरीत बन सकने से, समान धर्म को लेकर ही जो उस का प्रतिषेध है, जो कि स्थापना के हेतु से कोई भेद नहीं रखता है, वह साधर्म्यसम प्रतिषेध है। उदाहरण--आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि द्रव्य का क्रिया के हेतु गुण से सम्बन्ध होता है। द्रव्य है ढेला, वह क्रिया के हेतु भूत गुण (=वेग वाले द्रव्य का संयोग) से युक्त है अतएव क्रियावान् है। आत्मा भी वैसा है (द्रव्य है, अतएव क्रिया हेतु गुण प्रयत्न वा अदृष्ट से युक्त है) इस लिए क्रियावान् है। ऐसा उपसंहार करने पर वादी साधर्म्य से ही उस का प्रतिवाद करता है, क्रिया रहित है आत्मा, क्योंकि विभु द्रव्य क्रिया रहित होता है, विभु है आकाश, सो क्रिया रहित है, वैसा आत्मा है, इस लिए क्रिया रहित है, (यह जात्युत्तर है-जात्युत्तर असदुत्तर होता है, क्योंकि) इस में कोई विशेष हेतु नहीं है, कि क्रियावन् के साधर्म्य से क्रियावान् होना चाहिये, न कि क्रिया रहित के साधर्म्य से क्रिया रहित (हो)। विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्यसम प्रतिषेध होता है।

अब वैधर्म्य सम (कहते हैं)। क्रिया के हेतु भूत गुण से युक्त ढेला परिच्छिन्न देखा गया है, आत्मा वैसा नहीं है, इस लिए ढेले की नाईं क्रियावान् नहीं है। यहां भी कोई विशेष हेतु है नहीं, कि क्रिया वाले के साधर्म्य से क्रिया वाला होना चाहिये, न कि क्रिया वाले के वैधर्म्य से क्रियाहीन (हो) इस प्रकार विशेष हेतु के अभाव से वैधर्म्यसम है। वैधर्म्य से उपसंहार करने पर (वैधर्म्य सम जैसे) क्रिया हीन है आत्मा, क्योंकि विभु है। क्रिया वाला द्रव्य अविभु देखा गया है, जैसे ढेला, आत्मा वैसा नहीं है, इस लिए क्रिया हीन है। (इस स्थापना का) वैधर्म्य से प्रतिषेध, जैसे क्रिया हीन द्रव्य आकाश क्रिया के हेतु भूत गुण से रहित देखा गया है, आत्मा वैसे नहीं है, इसलिए क्रिया हीन नहीं है। और इस में विशेष हेतु कोई नहीं,

कि क्रिया वाले के वैधर्म्य से क्रिया हीन तो होना चाहिये, पर क्रिया हीन के वैधर्म्य से क्रिया वाला (नहीं होना चाहिये) इस प्रकार विशेष हेतु के अभाव से वैधर्म्य सम है। क्रियावान् जो ढेला है, वह क्रिया के हेतुभूत गुण से युक्त देखा गया है, वैसा आत्मा है, इस से क्रिया वाला है। और कोई विशेष हेतु है नहीं, कि क्रिया वाले के वैधर्म्य से क्रिया हीन तो हो, और क्रिया वाले के साधर्म्य से क्रियावान् न हो। विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्य सम है*।

इन दोनों का उत्तर है—

गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

गोत्व से गौ की सिद्धि की नाईं (अव्यभिचारी हेतु से) उस की सिद्धि होती है (न कि केवल साधर्म्य वैधर्म्य से)।

भाष्य—साधर्म्य मात्र से वा वैधर्म्य मात्र से जब साध्य के साधन की प्रतिज्ञा हो, तब तो अव्यवस्था हो। पर वह अव्यवस्था धर्म विशेष में नहीं बन सकती। गौओं का समान धर्म जो गोत्व रूप जाति विशेष है, उस से गौ की सिद्धि होती है, न कि शृंग आदि (किसी एक) समान धर्म से। अश्वादि से विरुद्ध धर्म भी गोत्व से गौ की सिद्धि होती है, न कि (किसी) गुण आदि के भेद से। अवयव प्रकरण में इस की व्याख्या की गई है। (अनुमान-) वाक्य में (शब्द आदि) प्रमाण मिल कर आपस के सम्बन्ध से एक साध्य को सिद्ध करते हैं। और यह जो अव्यवस्था है, यह हेत्वाभासों के आश्रय होती है।

---

* इन उदाहरणों में सिद्धान्ती जाति वादी है। इस लिए वार्तिककार ने इन उदाहरणों को छोड़ कर शब्द की नित्यता अनित्यता के साधक उदाहरण दिये हैं। भाष्यकार का अभिप्राय यह है, कि कोई भी ऐसा उत्तर दे, तो वह जात्युत्तर होगा।

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पा दुभयसाध्यत्वा-
च्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ।४।

साध्य और दृष्टान्त के धर्मों की नाना कल्पना से, दोनों (दृष्टान्त और साध्य) के साध्य होने से उत्कर्षसम, अपकर्ष सम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, और साध्यसम होते हैं

भाष्य—दृष्टान्त के धर्म को पक्ष में लगाता हुआ (प्रतिषेध) उत्कर्षसम होता है (अभिमत धर्म से अधिक धर्म का आपादन उत्कर्षसम है) जैसे यदि क्रिया के हेतु भूत गुण के योग से ढेले की नाईं क्रियावान् है आत्मा, तो ढेले की नाईं स्पर्शवान् भी प्राप्त होता है। यदि ढेले की नाईं स्पर्शवान् नहीं, तो क्रियावान् भी नहीं प्राप्त होता है, या फिर उलट मानने में विशेष कहना चाहिये।

दृष्टान्त के सहारे पर साध्य में किसी धर्म के अभाव की आपत्ति डालना अपकर्षसम है। ढेला जो क्रियावान् है, वह अविभु देखा गया है, ठीक ऐसे ही आत्मा भी क्रियावान् है, तो अविभु हो, या फिर इस से उलट मानने में कोई विशेष (विनिगमक हेतु) कहना चाहिये।

स्थापन करने योग्य धर्म वर्ण्य है, उस से उलटा अवर्ण्य है। इन दोनों साध्य धर्म और दृष्टान्त धर्म को उलटा करने से वर्ण्य-सम और अवर्ण्यसम होते हैं।

साधन के धर्म से युक्त दृष्टान्त में दूसरे किसी धर्म को लेकर साध्य में किसी दूसरे धर्म की आपत्ति देना विकल्पसम है। जैसे क्रिया के हेतु भूत गुण से युक्त कोई वस्तु भारी देखने में आती है, जैसे ढेला, कोई हल्की जैसे वायु। ऐसे ही क्रिया के हेतु से युक्त वस्तु कोई क्रिया वाली हो, जैसे ढेला, कोई अक्रिय हो, जैसे आत्मा, वा इस में विशेष कहना चाहिये। हेतु आदि (अनुमान के-) अवयवों

के सामर्थ्य से युक्त धर्म साध्य है, उस धर्म को दृष्टान्त में लगाना साध्यसम है। जैसे यदि जैसा ढेला है, वैसा आत्मा है, तो यह भी आता है, कि जैसा आत्मा है, वैसा ढेला है। और आत्मा का क्रियावान होना है साध्य, तो (वैसा होने से) निःसंदेह ढेला भी (क्रियावान) साध्य हुआ। और यदि ऐसा नहीं, तो जैसा ढेला है, वैसा आत्मा है, यह भी नहीं। इन का समाधान—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

किसी साधर्म्य को लेकर उपसंहार की सिद्धि होने से, किसी वैधर्म्य को लेकर उस का प्रतिषेध नहीं बनता।

भाष्य—जो सिद्ध है, उस से इन्कार नहीं हो सकता, और यह सिद्ध है. कि किसी ही साधर्म्य को लेकर उपमान होता है (न कि सारे धर्मों को लेकर)। जैसे गौ है, वैसे गवय है। वहां गौ और गवय के धर्म भेद की आपत्ति नहीं दी जाती (यह नहीं कह सकते, कि जैसे गौ है. वैसे गवय है, तो गवय भी गौवत् ग्राम्य पशु हो, वा दूध दुहाने वाला हो, नहीं तो गौ भी ग्राम्य वा दूध दुहाने वाली न हो) इसी प्रकार साधक धर्म जब दृष्टान्त आदि के सामर्थ्य से युक्त हो, तब साध्य और दृष्टान्त के अनुक्त धर्म को लेकर वैधर्म्य से प्रतिषेध नहीं कह सकते।

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

किञ्च—साध्य की उपमा देने से दृष्टान्त बनता है।

भाष्य—जिस में लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि की समता होती है, ठीक वैसे ही अर्थ को. दूसरे को जितलाने के लिए उपमा दी जाती है। इसी प्रकार साध्य की उपमा देने से दृष्टान्त बन सकता है, तो दृष्टान्त का साध्य बनाना अयुक्त है।

प्राप्यसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्ट-त्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥७॥

साध्य को प्राप्त हो कर वा प्राप्त न हो कर (साध्य की सिद्धि मानने में) हेतु की प्राप्ति से तो कोई विशेषता के न होने से और अप्राप्ति में असाधक होने से प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम होते हैं।

भाष्य—हेतु प्राप्त हो कर साध्य को साधता है, वा बिना प्राप्त हुए। प्राप्त हो कर तो नहीं बनता, क्योंकि प्राप्ति में विशेषता न होने से हेतु साधक नहीं होगा। क्योंकि दोनों के विद्यमान होते हुए उन की प्राप्ति बनती है (सो जब दोनों पहले ही विद्यमान हैं) तब कौन किस का साधक वा साध्य हो। और प्राप्त न हो कर साधक होता नहीं। दीपक बिना प्राप्ति किसी का प्रकाश नहीं करता है। सो प्राप्ति से प्रतिषेध प्राप्तिसम, और अप्राप्ति से प्रतिषेध अप्राप्तिसम होता है। इन दोनों का उत्तर—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचाराद प्रतिषेधः ॥ ८ ॥

(प्राप्त हुए साधनों से) घट आदि की उत्पत्ति देखने से और (शत्रु को) पीड़ने में (अप्राप्त साधन-) अभिचार कर्म से (फलोत्पत्ति देखने से) प्रतिषेध अयुक्त है।

भाष्य—यह प्रतिषेध दोनों तरह अयुक्त है। कर्ता, करण और अधिकरण (ये साधन) मिट्टी को प्राप्त हो कर घट आदि कार्य को उत्पन्न करते हैं। और अभिचार कर्म से (शत्रु को) पीड़ा होने में बिना प्राप्त हुए भी साधनता देखी गई है।

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

दृष्टान्त का कारण न बतलाने से प्रसङ्गसम और प्रति दृष्टान्त द्वारा प्रतिषेध करने से प्रतिदृष्टान्तसम (प्रतिषेध) होता है ।

भाष्य—साधन का भी साधन कहना चाहिये इस प्रसङ्ग (आगे २ साधन पूछने के प्रसंग) से जो प्रतिषेध है, वह प्रसंग सम प्रतिषेध है। जैसे क्रिया हेतु गुण के योग वाला ढेला क्रियावान् है, इस में हेतु नहीं बतलाया है (कि ढेले में क्रिया हेतु गुण के योग का साधन यह है) और हेतु के बिना सिद्धि नहीं होती ।

प्रति दृष्टान्त से जो प्रतिषेध है, वह प्रति दृष्टान्त सम प्रतिषेध है। क्रिया हेतु गुण के सम्बन्ध से आत्मा ढेले की नाईं क्रियावान् है, ऐसा कहने पर प्रति दृष्टान्त लिया जाता है, कि क्रिया हेतु गुण से युक्त है आकाश और वह निष्क्रिय देखा गया है। (प्रश्न) अच्छा तो आकाश का क्रिया हेतु गुण है क्या ? (उत्तर) यह जो वायु के साथ संयोग है, जो कि संस्कार (वेग) की अपेक्षा रखता है। जैसे वायु और वनस्पति का संयोग (संस्कार की अपेक्षा रखता है) । इन दोनों के उत्तर—

प्रदीपोपादान प्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ।१०।

दीपक के ग्रहण के प्रसंग की निवृत्ति की नाईं उस की निवृत्ति होती है ।

भाष्य—इस से यह बात पूछनी चाहिये, कि दीपक को कौन ग्रहण करते हैं और किस लिए ग्रहण करते हैं (उत्तर) देखना चाहते हुए दृश्य के देखने के लिए (प्रश्न) अच्छा तो दीपक को देखना चाहते हुए दूसरा दीपक क्यों नहीं लेते (उत्तर) दूसरे दीपक के बिना भी वह दीपक दिखलाई देता है, इसलिए वहां दीपक के देखने के लिए दूसरे दीपक का ग्रहण करना निरर्थक है (प्रश्न) अच्छा तो अब दृष्टान्त किस प्रयोजन के लिए कहा जाता है। (उत्तर) अज्ञात का बोध कराने

के लिए (प्रश्न) अच्छा तो दृष्टान्त में कारण का कथन किस प्रयोजन के लिए ढूंढते हो। यदि जितलाने के लिए (कि उस से दृष्टान्त में साध्य का ज्ञान हो जाय) तो दृष्टान्त तो होता ही ज्ञात है। जिस में लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि की समता हो, वही अर्थ दृष्टान्त होता है, उस के जितलाने के लिए कारण का कथन निरर्थक होगा। यह प्रसङ्गसम का उत्तर है। अब दृष्टान्त सम का उत्तर कहते हैं–

प्रतिदृष्टान्त हेतुत्वेनचाहेतुर्दृष्टान्तः ॥११॥

प्रति दृष्टान्त को साधक मानने पर दृष्टान्त असाधक नहीं हो सकता।

भाष्य—प्रति दृष्टान्त कहने वाले ने कोई विशेष हेतु नहीं बतलाया है, कि इस प्रकार से प्रति दृष्टान्त तो साधक है, दृष्टान्त नहीं। ऐसी अवस्था में जब प्रति दृष्टान्त को साधक मानते हो, तो दृष्टान्त कैसे असाधक हो सकता है। जब साधक (दृष्टान्त) अप्रतिषिद्ध हो, तो वह (प्रति दृष्टान्त) कैसे साधक हो।

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावा दनुत्पत्तिसमः ।१२।

उत्पत्ति से पहले कारण के अभाव से अनुत्पत्तिसम होता है।

भाष्य—'अनित्य है शब्द, क्योंकि प्रयत्न के पीछे होता है, जैसे घड़ा (प्रयत्न के अनन्तर होता है, वह अनित्य है) ऐसा कहने पर दूसरा कहता है। उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द उत्पत्ति वाला अभी है ही नहीं, तो प्रयत्न के अनन्तर होना, जो अनित्यता का कारण है, वही उस में नहीं। सो कारण के अभाव से नित्यता प्राप्त होती है। और नित्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस प्रकार अनुत्पत्ति से जो प्रतिषेध है वह अनुत्पत्ति सम है। इस का उत्तर है:—

तथाभावादुत्पन्नस्यकारणोपपत्तेर्नकारण प्रतिषेधः ॥ १३ ॥

उत्पन्न हुए को वैसा होने से (शब्द होने से) कारण बन सकने से कारण का प्रतिषेध नहीं बनता।

भाष्य—'उत्पन्न हुए को वैसा होने से' अर्थात् उत्पन्न हो कर ही तो यह शब्द होता है। उत्पत्ति से पूर्व तो शब्द ही नहीं है, क्योंकि उत्पन्न हुए को ही शब्दत्व है। सो जब शब्द बनता है, तो वह उत्पत्ति के अनन्तर ही होता है, इस लिए प्रयत्न के अनन्तर होना जो अनित्यता का कारण है, वह बन जाता है। सो कारण के बन सकने से यह दोष अयुक्त है कि 'उत्पत्ति से पूर्व कारण का अभाव होता है।

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्य साधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥

(शब्दत्व रूप) सामान्य और (घट रूप) दृष्टान्त ये दोनों इन्द्रिय (नेत्र) का विषय होने में एक समान हैं, इस नित्य (शब्दत्व) और अनित्य (घट) के साथ (शब्द के) साधर्म्य से संशयसम होता है।

भाष्य—'अनित्य है शब्द, क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है, जैसे घड़ा है' इस प्रकार कहे हेतु के विषय में दृष्टान्त को लेकर (जाति वादी) खण्डन करता है। प्रयत्न के अनन्तर होने पर भी, इस का इन्द्रिय ग्राह्य होना, नित्य सामान्य (शब्द रूप जाति जो नित्य है, उस) के साथ और अनित्य घट के साथ साधर्म्य है। सो नित्य और अनित्य के साथ साधर्म्य से (इस के नित्य वा अनित्य होने का) संशय नहीं दूर होता * इस का उत्तर

---

* दोनों के साथ साधर्म्य होने से संशयसम होता है, एक के साथ साधर्म्य होने से साधर्म्यसम होता है। यह इन दो जातियों में भेद है।

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा-संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

साधर्म्य से संशय के होते हुए भी वैधर्म्य (के दर्शन) से संशय नहीं होता है, यदि दोनों प्रकार से संशय हो, तो संशय सदा ही बना रहे, सो निरे सामान्य को नित्यता के संशय का कारण न मानने से, यह प्रतिषेध युक्त नहीं है।

भाष्य—जब वैधर्म्य अर्थात् विशेष धर्म को देख कर अर्थ का निश्चय हो गया, कि 'यह पुरुष है' तब स्थाणु पुरुष के साधर्म्य को लेकर संशय नहीं खड़ा हो सकता। इसी प्रकार वैधर्म्य अर्थात् विशेष धर्म, 'जो प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति है,' इसको लेकर जब शब्द की नित्यता का निश्चय होगया, तब नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशय अवकाश नहीं पा सकता है। ऐसी अवस्था में भी यदि संशय हो, तब तो अत्यन्त संशय हो, क्योंकि स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य का उच्छेद तो कभी नहीं होता। विशेष (धर्म) जब जाना जाए, तब साधर्म्य संशय का हेतु हो, ऐसा नहीं माना जाता। पुरुष का विशेष धर्म गृहीत होते हुए फिर स्थाणु पुरुष का साधर्म्य संशय का हेतु नहीं होता है।

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ।१६।

दोनों (नित्य, अनित्य) के साथ साधर्म्य से प्रकरण की सिद्धि से, प्रकरणसम होता है।

भाष्य—नित्य और अनित्य इन दोनों के साथ साधर्म्य से पक्ष प्रतिपक्ष का चलते रहना प्रकरण है। 'अनित्य है शब्द, क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर होता है, जैसे घड़ा' इस प्रकार एक अपने पक्ष

को चलाता है। और नित्य के साथ साधर्म्य (शब्दत्व के साथ श्रोत्रग्राह्य होने) से। ऐसी अवस्था में 'प्रयत्न के अनन्तर होना' यह हेतु जो अनित्य के साधर्म्य से कहा है, प्रकरण को नहीं उलांघता है, यह प्रकरण को न उलांघ कर जो प्रतिषेध है, यह प्रकरण सम है। (साधर्म्य से प्रकरण का चलाना उपलक्षण है) वैधर्म्य में भी यह बात समान है। दोनों के वैधर्म्य से प्रकरण का चलते रहना भी वैधर्म्यसम है, इस का उत्तर—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥

प्रतिपक्ष से प्रकरण चलता रहा, तो (वादी के साध्य का) प्रतिषेध नहीं बनता, क्योंकि प्रतिपक्ष (साधर्म्य से प्रतिवादी के साध्य की नाईं) प्रतिपक्ष (वादी का साध्य) भी बन जाता है।

भाष्य—दोनों के साधर्म्य से प्रकरण की सिद्धि कहते हुए (प्रतिवादी) ने प्रतिपक्ष से प्रकरण की सिद्धि भी कह दी है। यदि दोनों का साधर्म्य है, तब उन में से एक प्रतिपक्ष है ही, ऐसी अवस्था में प्रतिपक्ष बना रहता है। जब प्रतिपक्ष बना रहा, तो प्रतिषेध नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रतिपक्ष की सिद्धि और प्रतिषेध यह परस्पर विरुद्ध हैं। तत्त्व का निर्णय न होने से प्रकरण चलता है, इस के विपरीत प्रकरण समाप्त हो जाता है। अर्थात् तत्त्व का निर्णय हो जाने पर प्रकरण समाप्त हो जाता है (सारांश यह, कि प्रतिवादी ने जब दोनों के साथ साधर्म्य मान लिया, तो उन में से एक के साधर्म्य से उस के अपने पक्ष की सिद्धि की नाईं, दूसरे के साधर्म्य से प्रतिपक्ष की भी सिद्धि हो गई। (प्रतिपक्ष का प्रतिषेध न होने से असदुत्तर भी न बना)

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

हेतु (साधन) को तीनों कालों में (साध्य का) असाधन होने से अहेतुसम होता है।

भाष्य—हेतु अर्थात् साधन, यह क्या साध्य से पूर्व वा पीछे वा साथ होगा। यदि पूर्व है साधन, तो साध्य की अविद्यमानता में किस का साधन होगा। और यदि पीछे कहो, तो साधन की अविद्यमानता में किस का यह साध्य होगा। अब यदि साध्य साधन एक कालीन कहो, तो दोनों विद्यमानों में से कौन किस का साधन और कौन किस का साध्य होगा। इस प्रकार हेतु अहेतु से कोई विशेषता नहीं रखता है. यह अहेतु के साधर्म्य से प्रतिषेध अहेतुसम प्रतिषेध है। इस का उत्तर—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ।१९।

तीनों कालों में असिद्धि (कहना) उचित नहीं, क्योंकि हेतु से साध्य की सिद्धि होती है।

भाष्य—तीनों कालों की असिद्धि युक्त नहीं। किस से? क्योंकि हेतु से साध्य की सिद्धि होती है। साधने योग्य की सिद्धि और जानने योग्य का विज्ञान दोनों अपने साधन से होते हुए देखे जाते हैं। यह बड़ा भारी प्रत्यक्ष का विषय उदाहरण है। और जो कहा है कि 'साधन की अविद्यमानता में किस का साधन हो'? (इस का उत्तर है कि) जो किया जा रहा है वा जाना जा रहा है, उस का।

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ।२०।

प्रतिषेध के न बनने से प्रतिषेधनीय का प्रतिषेध नहीं हुआ।

भाष्य—(तुम्हारा आक्षेप तुम्हारे ऊपर भी आता है, कि) प्रतिषेध (प्रतिषेधनीय से) पहले पीछे वा साथ नहीं बन सकता है (पहले मानो, तो प्रतिषेधनीय के अभाव में किस का प्रतिषेध

होगा, पीछे मानो, तो प्रतिषेध की अविद्यमानता में वह किस का प्रतिषेधनीय होगा, दोनों एक साथ मानने में कौन किस का प्रतिषेधक और कौन किस का प्रतिषेध्य होगा। इस प्रकार प्रतिषेध के न बनने से स्थापना का हेतु सिद्ध है।

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ।२१।

अर्थापत्ति द्वारा प्रतिपक्ष की सिद्धि करने से प्रतिपक्षसम होता है।

भाष्य—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर होता है, जैसे घड़ा, इस प्रकार पक्ष की स्थापना करने पर, अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि करने वाला अर्थापत्तिसम का प्रयोग करता है। कि 'यदि प्रयत्न के अनन्तर होना,' जो अनित्य के साथ साधर्म्य है, इस से शब्द अनित्य है, तो अर्थापत्ति से यह भी आता है, कि नित्य के साधर्म्य से नित्य है। और है नित्य के साथ भी इस का साधर्म्य 'स्पर्श रहित होना'। इस का उत्तर—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥

हरएक अनुक्त की अर्थापत्ति (द्वारा सिद्धि मानने) से तो (जातिवादी के) पक्ष की हानि सिद्ध होगी, क्योंकि वह अनुक्त है। किञ्च अर्थापत्ति एक ही (पक्ष) की नियम से साधक नहीं है।

भाष्य—(एक बात से जब दूसरी बात की अर्थ से सिद्धि होती है, तो वह किसी सामर्थ्य को लेकर होती है और) जो अर्थापत्ति के) सामर्थ्य को न मान कर 'बस अनुक्त अर्थ की अर्थ से प्राप्ति होती है' इतना मात्र कहता है, उस को अपने पक्ष की हानि भी माननी पड़ेगी, क्योंकि (वादी के वाक्य में वह) अनुक्त है। अनित्य

पक्ष की सिद्धि में अर्थ से ही प्राप्त हुआ, कि नित्यपक्ष की हानि है।

किञ्च—अर्थापत्ति एक ही पक्ष की नियम से साधिका नहीं है । यह अर्थापत्ति दोनों पक्षों में समान है । यदि नित्य के साधर्म्य अस्पर्श से शब्द नित्य है, तो अर्थ से यह आया, कि 'प्रयत्न के अनन्तर होने रूप' अनित्य के साधर्म्य से अनित्य है। वस्तुतः उलट मात्र को लेकर नियमतः अर्थापत्ति होती ही नहीं । यह नहीं होता, कि ठोस वस्तु का पतन होता है, तो अर्थ से यह सिद्ध हो, कि द्रव जो जल है, उस के पतन का अभाव होता है ।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥

किसी एक धर्म के बन सकने से दोनों में अविशेषता होने में, (सब में) सत्ता बन सकने से सब की अविशेषता का उपपादन अविशेषसम है ।

भाष्य—एक धर्म 'प्रयत्न के अनन्तर होना,' यह शब्द और घड़ा दोनों का बन जाता है, इस से दोनों के अविशेष होने में, सब की अविशेषता का प्रसंग आता है। कैसे ? सत्ता के बन सकने से । एक धर्म जो सत्ता है, वह सब का बन जाता है । सत्ता के बन जाने से सब की अविशेषता के प्रसंग से प्रतिषेध अविशेषसम होता है । इस का उत्तर—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४ ॥

कहीं धर्म के न बनने से और कहीं बन सकने से प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—जैसे साध्य और दृष्टान्त का एक धर्म, जो प्रयत्न के अनन्तर होना है, उस के बन सकने से एक दूसरा धर्म जो अनित्यता है, वह अविशेष है, इस प्रकार सारे भावों का कोई सांझा ऐसा धर्म, जिस में कि सत्ता का होना निमित्त हो, है नहीं; जिस से कि इस धर्म को लेकर अविशेषता हो। और यदि यह मानो, कि अनित्यता ही ऐसा धर्म है, जो सत्ता के होने से सारे भावों का होगा। तो ऐसा मानने पर तुम्हारा पक्ष यह होगा, कि सारे भाव अनित्य हैं, क्योंकि सब में सत्ता है। क्योंकि पक्ष (=प्रातिज्ञात अर्थ) से भिन्न कोई उदाहरण नहीं है (उदाहरण पक्ष से भिन्न ही हो सकता है और यहां पक्ष है 'सब' और सब में सभी आ गए, इस लिए उस से भिन्न कोई उदाहरण न रहा) और बिना उदाहरण के हेतु नहीं हुआ करता। और प्रतिज्ञा का जो एक भाग है, वह उदाहरण होता नहीं, क्योंकि जो साध्य है, वह उदाहरण नहीं होता, इसलिए नित्यता अनित्यता दोनों के होने से केवल अनित्यता की अनुपपत्ति है। इस लिए 'सत्ता के बनने से सब की अविशेषता का प्रसंग होगा,' यह कहना निरर्थक है। किञ्च—सत्ता के बनने से सब भावों की अनित्यता कहने वाले ने शब्द की अनित्यता भी तो मान ही ली, तब प्रतिषेध अनुपपन्न है।

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

दोनों कारण बन सकने से उपपत्तिसम होता है।

भाष्य—यदि शब्द की अनित्यता का कारण बन जाता है, इस से शब्द अनित्य है, तो इस की नित्यता का कारण भी तो बनता है 'स्पर्श रहित होना,' इस से नित्यता भी उपपन्न है। दोनों अर्थात् नित्यता और अनित्यता के कारण की उपपत्ति से जो प्रतिषेध है, वह उपपत्तिसम है। इस का उत्तर

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानाद प्रतिषेधः ।२६।

उपपत्ति के कारण को मान लेने से प्रतिषेध अयुक्त है।

भाष्य—'दोनों का कारण बन जाता है' जो ऐसा कहता है, वह अनित्यता का प्रतिषेध नहीं कर सकता, क्योंकि अनित्यता का भी तो कारण बनता है। यदि प्रतिषेध करता है, तो फिर दोनों के कारण की उपपत्ति है, यह नहीं बनता, दोनों के कारण की उपपत्ति कहने से यह तो माना ही गया, कि अनित्यता का कारण बन जाता है। मान लेने से प्रतिषेध नहीं बनता है। 'विरोध से प्रतिषेध कहो, तो समान ही है विरोध'। जो कहता है, कि एक का नित्य और अनित्य होना परस्पर विरुद्ध है, इस से प्रतिषेध है। यदि ऐसा कहो, तो यह परस्पर विरोध तो स्वपक्ष परपक्ष दोनों में एक समान है, वह दोनों में से एक का साधक नहीं हो सकता।

निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ।२७

बतलाए कारण के अभाव में भी (कार्य की) उपलब्धि से उपलब्धि सम होता है।

भाष्य—(शब्द की) अनित्यता का कारण बतलाया है, कि 'शब्द प्रयत्न के अनन्तर होता है'। अब वायु के धक्के से वृक्ष की शाखा के टूटने से भी तो शब्द की उत्पत्ति और अनित्यता उपलब्ध होती है, वहां तुम्हारा बतलाया कारण है नहीं। इस प्रकार बतलाए साधन के अभाव में भी साध्य धर्म की उपलब्धि से जो प्रतिषेध है, वह उपलब्धि सम है।

कारणान्तरादपितद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ।२८।

कारणान्तर से भी उस धर्म (कार्य) की उपपत्ति से प्रतिषेध अयुक्त है ।

भाष्य—'प्रयत्न के अनन्तर होना' कहने वाला पुरुष कारण से (शब्द की) उत्पत्ति बतलाता है, न कि कार्य के कारण का नियम (=प्रयत्न ही कारण है, अन्य नहीं) सो यदि कारणान्तर से भी शब्द का होना और उस की अनित्यता बनती है, तो बने, इस में क्या प्रतिषेध हुआ ।

और उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि कहो, तो यह भी नहीं, क्योंकि आवरण आदि की अनुपलब्धि है । जैसा कि विद्यमान जल आदि अर्थ की आवरण आदि से अनुपलब्धि होती है, इस प्रकार विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि भी अनुपलब्धि के कारण भूत आवरण आदि से होगी, पर ऐसा नहीं है। क्योंकि जब जल विद्यमान होते हुए की अनुपलब्धि हो, तो जैसे उस की अनुपलब्धि का कारण हमें गृहीत होता है, वैसे शब्द की अनुपलब्धि में कोई कारण गृहीत नहीं होता । इससे शब्द का उपलब्ध न होना जल आदि से विपरीत है (=विद्यमान न होने से अनुपलब्धि है) ।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भाद भावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धि समः ॥ २९ ॥

उस की (आवरण) की अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से (अनुपलब्धि का) अभाव सिद्ध हो जाने पर, उस से विपरीत (प्रतिबन्धक) की सिद्धि हो जाने से अनुपलब्धि सम होता है (यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण नहीं मानते, तो आवरण की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से आवरणानुपलब्धि भी नहीं, तब सिद्ध हुआ, कि आवरण है) ।

भाष्य—उन आवरण आदियों की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं

है। उपलब्ध न होने से वह है ही नहीं, इस प्रकार इस का (अनुपलब्धि का)अभाव सिद्ध होता है।जब अभाव सिद्ध हुआ, तो पूर्वोक्त हेतु (उस की अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से इस हेतु) के अभाव से उस से (अभाव से) विपरीत आवरणादि का अस्तित्व निश्चित होता है। उस के विपरीत सिद्ध होने से, जो पूर्व प्रतिज्ञा की है, कि उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि है, यह नहीं सिद्ध होगा। सो 'आवरण आदि की अनुपलब्धि से' यह जो हेतु है, यह जैसा आवरण आदि में घट सकता है, वैसा आवरण आदि की अनुपलब्धि में भी घट जाने से अनुपलब्धि द्वारा जो प्रतिषेध है, यह अनुपलब्धिसम होता है। इस का उत्तर—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः। ३०।

अनुपलब्धि यतः है ही उपलब्धि का अभावरूप, अतः तुम्हारा हेतु अयुक्त है।

भाष्य—'आवरण आदि की उपलब्धि नहीं है, क्योंकि उस की उपलब्धि का अभाव है' यह हेतु अयुक्त है। (प्रश्न) किस कारण से? (उत्तर) इस कारण से, कि उपलब्धि का अभावमात्र ही तो अनुपलब्धि है। जो है, वह उपलब्धि का विषय होता है, और उस के विषय में यह प्रतिज्ञा की जाती है कि 'है'। जो नहीं है, वह अनुपलब्धि का विषय होता है, सो जो उपलब्ध नहीं होता है, उस के विषय में यह प्रतिज्ञा की जाती है, कि 'नहीं है'। सो यह आवरण आदि की अनुपलब्धि जो है, यह अनुपलब्धि रूप अपने विषय में प्रवृत्त होती हुई अपने विषय (अर्थात् अनुपलब्धि) का निषेध नहीं करती। सो अप्रतिषिद्ध हुई आवरण आदि की अनुपलब्धि (आवरणाभाव में) हेतु होने के योग्य है। आवरण आदि जो हैं, वे भावरूप होने से उपलब्धि का विषय हैं, उन की उपलब्धि

होना ही चाहिये। वे जो उपलब्ध नहीं होते, इस से जाना जाता है, कि शब्द के अग्रहण के कारण आवरण आदि नहीं हैं।

ज्ञानविकल्पानां च भावभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

किञ्च—ज्ञान के भेदों का भाव और अभाव दोनों आत्मा के प्रत्यक्ष होते हैं।

भाष्य—'अहेतु' इस की यहां भी अनुवृत्ति है। शरीर में शरीर धारियों को अपने ज्ञान भेदों के भाव और अभाव प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं। कि मुझे संशय ज्ञान है, मुझे संशय ज्ञान नहीं है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और स्मृति रूप ज्ञानों के विषय में (भाव और अभाव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है)। सो यह आवरण आदि की अनुपलब्धि अर्थात् उपलब्धि का अभाव, अपने अनुभव का विषय है, कि मुझे शब्द के आवरण आदि की उपलब्धि नहीं है, अर्थात् शब्द के अग्रहण के कारण आवरण आदि नहीं उपलब्ध होते। तब जो यह कहा है, कि उस की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से उस के अभाव की सिद्धि है। यह नहीं बनता है।

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमः ॥ ३२ ॥

(दृष्टान्त के) साधर्म्य से (पक्ष में उस के) तुल्य धर्म की उपपत्ति से सब की अनित्यता का प्रसंग होने से अनित्यसम होता है।

भाष्य—अनित्य घड़े के साथ साधर्म्य से, जो कहता है, कि 'शब्द अनित्य है' उस के अनुसार तो जब 'अनित्य घड़े के साथ सारे भावों का साधर्म्य है' तब सब की अनित्यता आती है, जो

कि अभीष्ट नहीं है। सो यह अनित्यता से प्रतिषेध अनित्यसम है। इस का उत्तर—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् ॥ ३३ ॥

(यदि दृष्टान्त घट के) साधर्म्य से (शब्द में अनित्यता की) सिद्धि नहीं होती, तो प्रतिषेध्य के साधर्म्य से प्रतिषेध की सिद्धि भी नहीं होगी।

भाष्य—पक्ष का साधक वाक्य प्रतिज्ञा आदि अवयवों से युक्त है, और प्रतिपक्षरूप जो प्रतिषेध है, उस का प्रतिषेध्य (पक्ष) के साथ साधर्म्य है 'प्रतिज्ञा आदि अवयवों से योग'। तब यदि अनित्य के साधर्म्य से अनित्य की सिद्धि नहीं, तो साधर्म्य से असिद्धि से (तुम्हारे किये) प्रतिषेध की भी असिद्धि होगी, क्योंकि उस का भी प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य है।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥ ३४ ॥

जो धर्म दृष्टान्त में साध्य साधन रूप से प्रसिद्ध है, वह हेतु हुआ करता है, और वह दोनों प्रकार से होता है (किसी के साथ सांझा और किसी से अलग) इस लिए अविशेष (धर्म, हेतु) नहीं होता।

भाष्य—दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से जाना गया है, वह हेतुरूप से कहा जाता है, और वह दोनों प्रकार से होता है, किसी के साथ समान, किसी से विशिष्ट। समान होने से साधर्म्य और विशेष होने से वैधर्म्य होता है। इस प्रकार साधर्म्यविशेष जो है (ऐसा साधर्म्य जो किसी से विशेष भी हो) हेतु होता है,

अविशेष से साधर्म्यमात्र वा वैधर्म्य मात्र हेतु नहीं होता। और आप निरा साधर्म्यमात्र वा वैधर्म्य मात्र का आश्रय लेकर कहते हैं, 'साधर्म्यात्तुल्य धर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्व प्रसंगादनित्यसमः' (३२)। यह अयुक्त है। अविशेष सम (जाति) के प्रतिषेध में जो कहा है, वह भी (इस का प्रतिषेध) जानना चाहिये।

नित्यमनित्य भावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेःनित्य समः ॥ ३५ ॥

(शब्द की) अनित्यता नित्य है, इस प्रकार अनित्य में नित्यता के बन जाने से नित्यसम होता है।

भाष्य—शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा है। वह अनित्यता क्या शब्द में नित्य है, अथवा अनित्य है। यदि वह (अनित्यता शब्द में) सर्वदा होती है, तो धर्म के सदा होने से धर्मी भी सदा होगा, अतएव शब्द नित्य हुआ। और यदि सर्वदा नहीं होती है, तो अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य ठहरा। इस प्रकार नित्यत्व के आश्रय प्रतिषेध से नित्यसम होता है। इस का उत्तर—

प्रतिषेध्येनित्यमनित्यभावाद नित्येनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

प्रतिषेध्य (शब्द) में अनित्यता के नित्य होने से अनित्य में नित्यता की उपपत्ति से जो प्रतिषेध है, वह नहीं बना (=जब अनित्यता मान ली, तो फिर प्रतिषेध कैसे ?)।

भाष्य—'प्रतिषेध्य जो शब्द है, उस में अनित्यता के नित्य होने से ऐसा कहने में शब्द की अनित्यता मान ली गई। जब अनित्यता बन गई, तो फिर 'शब्द अनित्य नहीं है' ऐसा प्रतिषेध नहीं बन सकता। और यदि (अनित्यता) नहीं मानते हो, तो 'अनित्यता

के नित्य होने से' यह हेतु नहीं बनता, हेतु के अभाव से प्रतिषेध न बना। उत्पन्न हुए शब्द का नाश से जो अभाव है, यही शब्द की अनित्यता है। इस पर प्रश्न हो ही नहीं सकता, सो यह प्रश्न कि उसकी अनित्यता क्या शब्द में नित्य होती है, वा नहीं, यह अनुपपन्न है। क्यों? इसलिए कि उत्पन्न हुए शब्द का नाश के कारण जो अभाव है, वह उस की अनित्यता है। ऐसा होने पर परस्पर विरुद्ध होने से (शब्द और नित्यता का) आधाराधेय भाव नहीं बनता है। क्योंकि नित्यत्व और अनित्यत्व का विरोध है। नित्यत्व और अनित्यत्व एक धर्मी के ये दो धर्म परस्पर विरुद्ध होते हैं, इकट्ठे नहीं हो सकते। तब जो यह कहा है, कि 'अनित्यता के नित्य होने से (शब्द) नित्य है' यह न बनती हुई बात कही है।

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः ॥ ३७ ॥

प्रयत्न के कार्यों के अनेक होने से कार्य सम होता है।

भाष्य—'प्रयत्न के अनन्तर होने से शब्द अनित्य है'। जिस का प्रयत्न के अनन्तर आत्मलाभ होता है (अर्थात् प्रयत्न से पूर्व जिस का स्वरूप नहीं होता, प्रयत्न के अनन्तर ही जिस का स्वरूप होता है) वह न हो कर होता है (पूर्व न होता हुआ अब होता है) जैसे घट आदि कार्य। और अनित्य है, इस का अभिप्राय यह है, कि हो कर नहीं रहता है। इस प्रकार हेतु के स्थिर होने पर, 'प्रयत्न के कार्यों के अनेक होने से' यह प्रतिषेध कहा है। प्रयत्न के अनन्तर घट आदि का आत्म लाभ देखा गया है, और व्यवधान वालों की व्यवधान के दूर होने से अभिव्यक्ति देखी गई है। सो प्रयत्न के अनन्तर शब्द का आत्मलाभ होता है वा अभिव्यक्ति होती है, इस में कोई विशेष नहीं है। इस प्रकार कार्य की अविशेषता को लेकर (वादी के पक्ष का) प्रतिषेध कार्यसम है। इस का उत्तर-

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धि कारणोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

(प्रयत्न के) कार्य का भेद होते हुए भी, प्रयत्न को (शब्द की) अभिव्यक्ति में हेतुता नहीं है, क्योंकि अनुपलब्धि के कारण (आवरण आदि) की उपपत्ति है (जलादि की अभिव्यक्ति प्रयत्न नहीं करता, किन्तु अनुपलब्धि के कारण आवरण को हटाता है, आवरण के हटने से अभिव्यक्ति स्वयं होती है। पर शब्द के विषय में तो आवरण की उपलब्धि न होने से उत्पत्ति की ही कारणता बन सकती है) जहां (प्रयत्न के) कार्य का भेद होता है, वहां अनुपलब्धि के कारण (आवरण आदि) के बन जाने से, प्रयत्न को शब्द की अभिव्यक्ति के लिए हेतुता नहीं हो सकती है। जहां प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती है, वहां अनुपलब्धि का कारण व्यवधान बनता है, व्यवधान के हटने से, प्रयत्न के अनन्तर होने वाले उस अर्थ की उपलब्धि अर्थात् अभिव्यक्ति होती है (जैसे जलादि में)। पर शब्द की अनुपलब्धि का कारण कुछ (आवरण आदि) है नहीं, जिस के दूर होने से शब्द की उपलब्धि अर्थात् अभिव्यक्ति होती है, यह माना जाय । इस से सिद्ध है, कि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता है । और यदि हेतु को व्यभिचारी ठहरा कर असाधक ठहराते हो, तो।

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

प्रतिषेध में भी समान दोष है।

भाष्य—प्रतिषेध भी व्यभिचारी है, किसी का प्रतिषेध करता है, किसी का नहीं करता है, इस प्रकार असाधक होने से व्यभिचारी है। (सूत्र का दूसरा अर्थ-) अथवा शब्द की अनित्यता के

पक्ष में 'प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं, इस में विशेष हेतु का अभाव है। नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं, इस में विशेष हेतु का अभाव है। सो यह विशेष हेतु का अभाव दोनों पक्षों में सम है। इस लिए दोनों व्यभिचारी हैं।

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सर्वत्र ऐसे ही।

भाष्य—साधर्म्य आदि जितने प्रतिषेध हेतु कहे हैं, उन सब में जहां २ अविशेष दीखता है, वहां दोनों पक्षों में एक जैसा दोष आता है।

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ।४१।

प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी प्रतिषेध के दोष की नाई दोष आता है।

भाष्य—यह जो प्रतिषेध में 'व्यभिचारी होना' समान दोष बतलाया है, यह प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी समान है। उन में से 'शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर होता है' यह साधनवादी की स्थापना प्रथम पक्ष है। 'प्रयत्न के कार्यों के अनेक होने से कार्यसम (जात्युत्तर है)' इस प्रकार प्रतिषेध का हेतु देकर दूषणवादी का दूसरा पक्ष है, यह प्रतिषेध कहलाता है। 'इस के प्रतिषेध में भी समान दोष आता है, ' यह तीसरा पक्ष प्रतिषेध विप्रतिषेध कहलाता है। इस प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी समान दोष व्यभिचारी होना, यह चौथा पक्ष है।

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । ४२ ।

प्रतिषेध को दोष वाला मान कर प्रतिषेध के विप्रतिषेध में जो दोष का प्रसंग समान बतलाता है, यह मतानुज्ञा है।

भाष्य—प्रतिषेध जो दूसरा पक्ष है, उस को दोष वाला मान कर, उस का उद्धार किये बिना ही, प्रतिषेध विप्रतिषेध रूप तीसरे पक्ष में समान व्यभिचारित्व मान कर, समानता का दूषण देने वाले को मतानुज्ञा का दोष आता है, यह पांचवां पक्ष है।

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्ष दोषाभ्युपगमात् समानोदोष इति ॥ ४३ ॥

(स्थापना वादी के) स्वपक्ष में लगते (दोष) की अपेक्षा से (वैसी) उपपत्ति के उपसंहार में हेतु दिखलाने में, परपक्ष के दोष को स्वीकार कर लेने में समान दोष है।

भाष्य—स्थापना पक्ष में 'प्रयत्न कार्य के अनेक होने से' (३७) यह जो दोष दिया है, यह स्थापना हेतु वादी का स्वपक्ष लक्षण दोष है। क्योंकि, वह उसके पक्ष पर लगाया गया है। इस स्वपक्ष लक्षण दोष की अपेक्षा करके, इस को मान करके अर्थात् उद्धार न करके 'समान है दोष' (३८) इस प्रकार बन सकते दोष को परपक्ष में उपसंहार करता है, और 'इस प्रकार प्रतिषेध व्यभिचारी है' यह हेतु दिखलाता है। वहां अपने पक्षगत दोष की अपेक्षा से युक्त दोष का उपसंहार करने में हेतु बतलाने में इस ने परपक्ष को मान लिया। कैसे? कि जो दूसरे ने 'प्रयत्न कार्य के अनेक होने से' इत्यादि से व्यभिचार दोष दिया था, उस का उद्धार किये बिना इस ने उत्तर दिया है कि 'प्रतिषेध में भी समान है दोष' (३९) इस प्रकार स्थापना को दोष वाली अंगीकार करके प्रतिषेध में समान दोष का प्रसंग देने वाले को परपक्ष के मान लेने समान दोष होता है। जैसे पर के प्रतिषेध को सदोष मान कर प्रतिषेध

विप्रतिषेध में समान दोष प्रसंग रूप मतानुज्ञा होती है (४२) वैसे इस के पक्ष में भी स्थापना को सदोष मान कर प्रतिषेध में समान दोष लगाने वाले को मतानुज्ञा दोष पड़ता है । अब यह छटा पक्ष ठहरता है । इन में से स्थापना हेतुवादी के तो पहला, तीसरा और पांचवां पक्ष हैं,और प्रतिषेध हेतुवादी के दूसरा चौथा और छटा । उनकी साधुता असाधुता के विचार में चौथे और छटे पक्ष में विशेषता न होने से पुनरुक्त दोष का प्रसंग है । चतुर्थ पक्ष में दूसरे को 'समान दोष लगाया है,' कि 'प्रतिषेध विप्रतिषेधेपि प्रतिषेध दोषवद्दोषः' छटे में भी परपक्ष के स्वीकार से 'समानो दोषः' (४३) इस प्रकार समान दोष ही कहा है, कोई अर्थविशेष नहीं कहा है। तीसरे पांचवें में भी पुनरुक्त दोष समान है । तृतीय पक्ष में 'प्रतिषेधेपि समानोदोषः' (३९) इस प्रकार समानता मानी है। पांचवें पक्ष में भी 'प्रतिषेध विप्रतिषेध में समान दोष का प्रसंग' माना है, कोई अर्थविशेष नहीं कहा है । वहां पांचवें और छटे पक्ष में अर्थ का अभेद होने से पुनरुक्त दोष है । तीसरे चौथे में मतानुज्ञा, पहले दूसरे में विशेष हेतु का अभाव, इस प्रकार षट्पक्षी में दोनों की असिद्धि है । कब षट्पक्षी होती है, जब 'प्रतिषेध में भी समान दोष है' इस प्रकार प्रवृत्त होता है, तब दोनों पक्षों की असिद्धि होती है। पर जब 'कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धि कारणोपपत्तेः' (३८) इस से तीसरा पक्ष युक्त होता है। तब विशेष हेतु के कहने से प्रयत्न के अनन्तर शब्द का आत्मलाभ होता है, अभिव्यक्ति नहीं, इस प्रकार पहला पक्ष सिद्ध हो जाता है, षट्पक्षी प्रवृत्त नहीं होती है।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

विरुद्ध ज्ञान और अज्ञान के भेदों से निग्रहस्थान बहुत होते हैं, यह संक्षेप से कहा है (१ । २ । २० में) । अब उस का विभाग करते हैं । निग्रह स्थान हैं पराजय के स्थल, जो कि किसी त्रुटि के आधार पर, प्रतिज्ञा आदि अवयवों के आश्रय रहते हैं । तत्ववादी * और अतत्ववादी दोनों को प्राप्त होते हैं । उन का विभाग यह है—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्त मननुभाषण मज्ञानमप्रतिभा विक्षेपोमतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणं-निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा विरोध, प्रतिज्ञा संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास, (२२) निग्रहस्थान हैं ।

भाष्य—बाईस प्रकार से इन का विभाग करके आगे लक्षण कहते हैं—

---

* दूसरे से कहे दूषण में आभासता न दिखलाने से तत्ववादी भी निग्रह स्थान में आ जाता है ।

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञा-हानिः ॥ २ ॥

अपने दृष्टान्त में प्रतिदृष्टान्त के धर्म को मान लेना प्रतिज्ञा हानि है।

भाष्य—साध्य धर्म से विरुद्ध धर्म को लेकर सामना करने पर, प्रतिदृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में मानता हुआ (अपनी) प्रतिज्ञा का त्याग करता है, यह प्रतिज्ञाहानि है। उदाहरण-'इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द अनित्य है, घट की नाईं' ऐसा कहने पर दूसरा कहता है। 'इन्द्रियग्राह्य होना नित्य सामान्य (जाति) में देखा गया है, शब्द वैसे (नित्य) क्यों नहीं ? ऐसा सामना करने पर यदि यह कहता है, कि' यदि इन्द्रिय ग्राह्य सामान्य नित्य है, तो बेशक घट नित्य हो'। ऐसा कहने में यह (साध्य के) साधक दृष्टान्त को नित्य ठहराता हुआ, निगमन पर्यन्त सारे पक्ष को ही त्याग देता है। पक्ष को त्यागता हुआ प्रतिज्ञा को त्यागता है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञा के आश्रय होता है।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध में, धर्म के भेद से जो उस अर्थ (दूसरे धर्म) का निर्देश है, वह प्रतिज्ञान्तर है।

भाष्य—'इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द अनित्य है, घट की नाईं' यह है प्रतिज्ञात अर्थ (घट की अनित्यता)। इस के कहने पर जो इस का प्रतिषेध है अर्थात् प्रतिदृष्टान्त से हेतु का व्यभिचार है कि 'इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है'। इस प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध में, धर्म भेद से अर्थात् दृष्टान्त प्रतिदृष्टान्त के साधर्म्य मिलाने में

भेद से-कि इन्द्रियग्राह्य सामान्य सर्वगत है, और इन्द्रियग्राह्य घट असर्वगत है, इस प्रकार धर्म के भेद से, साध्य सिद्धि के लिए उस अर्थ (इस दूसरे धर्म असर्वगतत्व) का जो निर्देश है। कैसे? इस प्रकार, जैसे घट असर्वगत है, इसी प्रकार शब्द भी असर्वगत हुआ घट की नाईं ही अनित्य है। इन में से 'शब्द अनित्य है' यह पहली प्रतिज्ञा है। असर्वगत है, यह दूसरी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तर है। (प्रश्न) यह निग्रहस्थान क्यों कर है? (उत्तर) प्रतिज्ञा का साधन दूसरी प्रतिज्ञा नहीं होती, किन्तु हेतु और दृष्टान्त प्रतिज्ञा के साधन होते हैं। सो यह असाधन का ग्रहण अनर्थक है। अनर्थक होने से निग्रहस्थान है।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञा और हेतु का (परस्पर) विरोध प्रतिज्ञा विरोध है।

भाष्य—'द्रव्य गुणों से एक अलग पदार्थ है' यह प्रतिज्ञा 'क्योंकि रूप (रस) आदि से अतिरिक्त (किसी पदार्थ) की अनुपलब्धि है, यह हेतु है सो यहां प्रतिज्ञा और हेतु का विरोध है। कैसे? इस प्रकार कि यदि गुणों से अलग द्रव्य है, तो रूप आदि से अलग पदार्थ की अनुपलब्धि नहीं बन सकती। और यदि रूप आदि से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि है, तो 'गुणों से अलग है द्रव्य' यह नहीं बन सकता है। गुणों से अलग है द्रव्य, और रूप आदि से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि है, यह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, इकट्ठे नहीं हो सकते हैं।

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥

पक्ष के प्रतिषेध में प्रतिज्ञात अर्थ का अपलाप प्रतिज्ञासंन्यास है।

भाष्य—'अनित्य है शब्द, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य है' ऐसा कहने पर दूसरा कहे कि 'इन्द्रियग्राह्य है सामान्य और वह अनित्य नहीं, इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रियग्राह्य है और अनित्य नहीं' इस प्रकार पक्ष का प्रतिषेध होने पर यदि (पूर्ववादी) कहे कौन कहता है कि 'शब्द अनित्य है' इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का जो इन्कार है, यह है प्रतिज्ञासंन्यास।

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

अविशेष कहे हेतु का प्रतिषेध हो जाने पर, विशेष चाहने वाले (नया विशेषण देने वाले) को हेत्वन्तर होता है।

भाष्य—उदाहरण-' इस सारे व्यक्त की प्रकृति (मूल कारण) कोई एक है ' यह प्रतिज्ञा है। किस हेतु से ? ' क्योंकि एक प्रकृति वाले विकार परिमित होते हैं ' मिट्टी से होने वाले प्याले आदि परिमित देखे गये हैं। जितनी प्रकृति का व्यूह (रचना विशेष) होता है, उतना विकार होता है। हर एक विकार परिमित देखा जाता है। ऐसे ही हर एक विकार परिमित देखा गया है। सो एक प्रकृति वाले विकारों के परिमित होने से हम जानते हैं कि सारे व्यक्त जगत् की प्रकृति एक है'। इस पक्ष का जब व्यभिचार दिखला कर खण्डन किया जाय, कि परिमित होना उन विकारों का भी देखा गया है, जो नाना प्रकृति वाले हैं, और उन का भी, जो एक प्रकृति वाले हैं। ऐसा खण्डन करने पर (सांख्य) कहे, कि एक प्रकृति का अन्वय (अनुगति=उसी द्रव्य का सम्बन्ध) होने पर प्याले आदि विकारों का परिमाण देखा जाता है। इधर सुख दुःख मोह से सम्बद्ध यह व्यक्त जगत् देखने में आता है। सो इस में

किसी दूसरे प्रकृति के रूप का सम्बन्ध जब है नहीं, तब यह एक प्रकृति वाला ही हो सकता है। सो इस प्रकार पहले अविशेष कहे हेतु का प्रतिषेध हो जाने पर, विशेषण देने वाले का यह एक और हेतु बन जाता है। और हेत्वन्तर होने पर, पहले हेतु के असाधक होने से निग्रहस्थान हुआ। हेत्वन्तर कहने पर भी, यदि हेतु के विषय का दिखलाने वाला दृष्टान्त ग्रहण करोगे, तो फिर यह सारा व्यक्त एक प्रकृति वाला नहीं ठहरता, क्योंकि (दृष्टान्त में) दूसरी प्रकृति का ग्रहण हुआ। (दृष्टान्त पक्ष से भिन्न होता है) और यदि दृष्टान्त नहीं ग्रहण करते, तो दृष्टान्त में जब हेतु का विषय दिखलाया नहीं, तो वह साधक नहीं बनेगा, तब हेतु के निरर्थक होने से निग्रहस्थान बना रहेगा।

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बन्धार्थ मर्थान्तरम् ।७।

प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ का कथन अर्थान्तर (निग्रहस्थान) है।

यथोक्त लक्षण वाले पक्ष प्रतिपक्ष के पकड़ लेने पर, साध्य सिद्धि के प्रकृत होने पर जब कहे कि–'शब्द नित्य है,स्पर्श हीन होने से'यह हेतु है। हेतु, हिनोति धातु से तुन् प्रत्यय आने पर कृदन्त पद है। पद होते हैं नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। किसी क्रिया के साथ योग से द्रव्य का वाचक शब्द नाम, संख्या समेत क्रिया और काल का वाचक आख्यात होता है। वाक्य प्रयोगों में अर्थ के बोधक निपात होते हैं ' धातु के साथ युक्त हुए क्रिया विशेष के द्योतक उपसर्ग होते हैं, इत्यादि जो कथन है, यह अर्थान्तर जानना चाहिये।

वर्ण क्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

वर्णों के क्रम के निर्देश की नाईं निरर्थक होता है।

भाष्य—शब्द नित्य है, कचटतप, जबगडदश होने से, झभञघढधष की नाईं, इस प्रकार का निरर्थक होता है। वाच्य वाचक भाव न बनने पर अर्थ कोई निकलता नहीं, वर्ण ही क्रम से दिखला दिये हैं।

परिषत् प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

तीन बार भी कहा हुआ जो परिषत् वा प्रतिवादी से नहीं समझा गया, वह अविज्ञातार्थ होता है।

भाष्य—जो वाक्य तीन बार कहा हुआ भी शब्दों के श्लिष्ट होने के कारण वा अप्रसिद्ध प्रयोग के कारण वा अतिद्रुत उच्चारण के कारण इत्यादि कारण से परिषत् (मध्यस्थ) और प्रतिवादी की समझ में न आए, वह अपना असामर्थ्य ढांपने के लिए प्रयुक्त किया हुआ वाक्य अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान होता है।

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।१०।

अगले पिछले (शब्दों) का अन्वय न होने से असम्बद्ध अर्थ वाला अपार्थक होता है।

भाष्य—जहां अनेक पद वा वाक्य का अगले पिछले के साथ अन्वय सम्बन्ध नहीं है, इस से असम्बद्ध अर्थ गृहीत होता है, वहां समुदाय का कोई तात्पर्य न होने से अपार्थक नाम निग्रहस्थान होता है। जैसे-दस अनार, छः पूए, कुण्ड, मृग का चमड़ा, मांस-पिण्ड, यह कुमारी का अधरोरुक (तंबी), पाय्य (परिमाण), उस (स्त्री) का पिता शीत से सुकड़ा हुआ नहीं। (जिस के पदों का अर्थ न बने, वह निरर्थक, और जिस के पदों का अर्थ हो कर भी वाक्यार्थ न बने, वह अपार्थक होता है, यह इन दोनों में भेद है)।

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।११।

अवयवों का उलट पलट कथन अप्राप्त काल होता है।

भाष्य—प्रतिज्ञा आदि अवयवों का अपने २ लक्षण के अनुसार अर्थ के अधीन (आगे पीछे रखने का) क्रम है, वहां अवयवों का (क्रम से) उलट पलट करके कहना, इस प्रकार का असम्बद्ध अर्थ वाला अप्राप्त काल निग्रहस्थान होता है।

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् । १२ ।

किसी भी अवयव से हीन हो, तो न्यून निग्रहस्थान होता है

भाष्य—प्रतिज्ञा आदि अवयवों में से किसी एक भी अवयव से हीन हो,तो न्यून नामी निग्रहस्थान होता है। साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

हेतु वा उदाहरण से जो अधिक है, वह अधिक है।

भाष्य—एक से जब बात सिद्ध होती है, तो दोनों में से एक की अनर्थकता है। पर यह बात नियम (एक बार एक ही हेतु वा एक ही उदाहरण देना है, इस नियम) के पहले मान लेने में जानना चाहिये।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥

अनुवाद के सिवाय शब्द वा अर्थ का पुनर्वचन पुनरुक्त होता है।

भाष्य—अनुवाद से अन्यत्र शब्द पुनरुक्त वा अर्थ पुनरुक्त

होता है । 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है' यह शब्द पुनरुक्त है। और अर्थ पुनरुक्त है, जैसे 'शब्द अनित्य है, ध्वनि विनाश धर्म वाली है'। अनुवाद में पुनरुक्त दोष नहीं होता, क्योंकि वहां शब्द के दुहराने से अर्थ विशेष की सिद्धि होती है। जैसा कि हेतु के निर्देश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन होता है।

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् १५

अर्थ से प्राप्त हुए का अपने शब्द से पुनर्वचन भी।

भाष्य—'पुनरुक्त' यह प्रकृत है। उदाहरण-'उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनित्य है' यह कह कर, अर्थ से प्राप्त बात का जो वाचक शब्द है, उस शब्द से कहे, कि 'अनुत्पत्ति धर्म वाला नित्य होता है' यह भी पुनरुक्त जानना चाहिये। शब्द का प्रयोग अर्थ की प्रतीति के लिए होता है, और वह अर्थ अर्थापत्ति से प्रतीत ही है।

विज्ञातस्य परिषदात्रिरभिहितस्याप्य प्रत्युच्चारण मननुभाषणम् ॥ १६ ॥

परिषत् से जाने गए और (वादी से) तीन बार कहे गए का जो अनुवाद न कर सकना है, यह अननुभाषण है।

भाष्य—परिषत् ने वाक्यार्थ को जान लिया है, और प्रतिवादी ने तीन बार कह दिया है, उस का भी जो अनुवाद न करना है, यह अननुभाषण नाम निग्रहस्थान होता है। अनुवाद किये बिना किस का आश्रय लेकर परपक्ष का प्रतिषेध कहे।

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १७ ॥

न जानना अविज्ञान है।

भाष्य—परिषत् ने जिस का अर्थ जान लिया है, प्रतिवादी ने तीन बार कहा है, उस का भी जो अज्ञान है, वह अज्ञान नाम निग्रहस्थान है। क्योंकि जाने बिना यह किस का प्रतिषेध कहेगा।

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १८ ॥

उत्तर का न फुरना अप्रतिभा है।

भाष्य - परपक्ष के प्रतिषेध में जब उत्तर का निश्चय नहीं करता है, तब निगृहीत होता है।

कार्यव्यासंगात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ।१९।

काम की उरझ से कथा का विच्छेद विक्षेप है।

जब कि कार्य की व्यासक्ति बतला कर कथा का विच्छेद करता है, कि यह काम मुझे करना है, इस को समाप्त करके पीछे उत्तर दूंगा, वह विक्षेप नामी निग्रहस्थान है। एक के निग्रह पर कथा की समाप्ति पर स्वयं ही दूसरी कथा को अंगीकार करता है।

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा ॥ २० ॥

अपने पक्ष में दोष के अंगीकार से जो परपक्ष में दोष का प्रसंग है, वह मतानुज्ञा है।

भाष्य—जो दूसरे से लगाए दोष को अपने पक्ष में अंगीकार करके, उस का उद्धार किये बिना ही कहता है कि आप के पक्ष में भी यह समान दोष है, वह अपने पक्ष में दोष के मान लेने से परपक्ष में दोष को प्रसक्त करता हुआ दूसरे के मत को मान लेता है, यह मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान आ पड़ता है।

निग्रहस्थानप्राप्तस्या निग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २१ ॥

निग्रहस्थान को प्राप्त हुए का अनिग्रह पर्यनुयोज्योपेक्षण है।

भाष्य—(पर्यनुयोज्योपेक्षण का अर्थ है) पर्यनुयोज्य=निग्रह में आ जाने का जिस पर दोष देना चाहिये, उस का उपेक्षण अर्थात् तू निग्रह को प्राप्त हुआ है इस प्रकार दोष न लगाना। यह किस का पराजय है? इस प्रश्न के पूछने पर परिषत् को बतलाना होगा, क्योंकि निग्रह को प्राप्त हुआ स्वयं अपनी त्रुटि नहीं कहेगा।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २२ ॥

बिना निग्रहस्थान निग्रहस्थान का अभियोग लगाना निरनुयोज्यानुयोग है।

भाष्य—निग्रहस्थान के लक्षण की मिथ्या समझ से, बिना निग्रहस्थान के जब दूसरे को कहे, कि 'तू निगृहीत है' तो दोष न लगाने योग्य पर दोष लगाने से उस को निगृहीत जानना चाहिये।

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २३ ॥

सिद्धान्त को अंगीकार करके अनियम से कथा का प्रसंग अपसिद्धान्त है।

भाष्य—किसी अर्थ के वैसा होने की प्रतिज्ञा करके, प्रतिज्ञात अर्थ के उलट रूप अनियम से, कथा का प्रसंग लाने वाले को अपसिद्धान्त जानना चाहिये। जैसे 'सत् (जो है उस) का आत्महान नहीं होता, अर्थात् सत् का विनाश नहीं होता, असत् का आत्मलाभ नहीं होता, अर्थात् असत् उत्पन्न नहीं होता। इस सिद्धान्त को अंगीकार करके, अपने पक्ष को स्थापन करता है, कि इस समस्त

व्यक्त जगत् की प्रकृति एक है, क्योंकि एक मूलतत्व का सब विकारों में अन्वय (मेल) देखने में आता है। मिट्टी से अन्वित (सम्बद्ध) प्याले आदि की एक प्रकृति देखी गई है, वैसे यह हरएक व्यक्तविशेष सुख दुःख मोह से अन्वित दीखता है। इस लिए अन्वय के देखने से इस शरीर (आदि व्यक्त) की प्रकृति एक है। ऐसा कहने वाले पर जब प्रश्न किया जाय, कि यह प्रकृति है, यह विकार है, यह किस तरह से जानना होता है ? (तब वह उत्तर देगा) जिस के स्वरूप से टिका रहने पर एक धर्म की निवृत्ति हो कर दूसरे धर्म की प्रवृत्ति होती है, वह प्रकृति है, और जो धर्मान्तर प्रवृत्त होता है, वह विकृति है। सो इस प्रकार यह पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ के उलट कथन रूप अनियम से कथा को चलाता है, क्योंकि प्रतिज्ञा इस ने यह की थी, कि असत् का आविर्भाव नहीं होता, और सत् का तिरोभाव नहीं होता, पर सत् असत् के तिरोभाव और आविर्भाव के बिना किसी की प्रवृत्ति और प्रवृत्ति का नाश होता नहीं। मिट्टी के टिका रहने पर होगा प्याला आदि रूप धर्मान्तर इससे(मिट्टीसे प्याला बनानेमें)प्रवृत्त होता है, और (धर्मान्तर) हो चुका है इस से प्रवृत्ति का उपरम होती है, तो यह मिट्टी के धर्मों का भी नहीं होगा। इस प्रकार खण्डन करने पर यदि सत् का आत्महान और असत् का आत्म लाभ अंगीकार करता है, तब इस को अपसिद्धान्त निग्रहस्थान आ पड़ता है, और यदि अंगीकार नहीं करता है, तो इस का पक्ष सिद्ध नहीं होता है।

हेत्वाभासाश्चयथोक्ताः ॥ २४ ॥

हेत्वाभास जैसे कहे हैं (वैसे ही निग्रहस्थान हैं)।

भाष्य—हेत्वाभास निग्रहस्थान हैं। (प्रश्न) क्या किसी

दूसरे लक्षण के सम्बन्ध से हेत्वाभास निग्रहस्थान होते हैं, जैसे प्रमाण (प्रमा का विषय होने से) प्रमेय होते हैं, इस आकांक्षा के होने पर कहा है 'यथोक्ताः=जैसे कहे हैं' अर्थात् हेत्वाभास के लक्षण से ही उन को निग्रहस्थानता है। (किसी दूसरे रूप में नहीं)।

इन प्रमाण आदि पदार्थों के उद्देश लक्षण और परीक्षा पूर्ण हुए। जो न्याय वक्तृ श्रेष्ठ अक्षपाद मुनि को प्रकाशित हुआ था, उस का वात्स्यायन ने यह भाष्य किया है।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः

———

समाप्तोऽयंग्रन्थः।

॥ ओ३म् ॥

सूचीपत्र ।

संस्कृत के अनमोल रत्न ।

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद

ये भाषानुवाद पं० राजारामजी प्रोफ़ेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमिन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो ॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत । वाल्मीकिकृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है । भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत—अनावश्यक भाग छोड़ अठारह पर्व भाषा टीका समेत। इस की भी टीका रामायणवत् ही है। मूल्य केवल १२)

(३) भगवद्गीता—पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) सौ इनाम मिला है मूल्य २।) गीता हमें क्या सिखलाती है ।-)

(४) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१—ईश उपनिषद	≡)	७—तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
२—केन उपनिषद	≡)	८—ऐतरेय उपनिषद	≡)
३—कठ उपनिषद	।≡)	९—छान्दोग्य उपनिषद	२।)
४—प्रश्न उपनिषद	।-)	१०—बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकठी	।=)	११—श्वेताश्वतर उपनिषद	।-)
		उपनिषदों की भूमिका	।-)

(५) मनुस्मृति—[१] मूल श्लोक मोटे टाइप में [२] श्लोकवार टीका बड़ी सरल और आशय पूरा स्पष्ट कर दिया है [३] मनुस्मृति पर जो पुरानी सात टीका हैं, उन में जहां कहीं अर्थों में भेद हुआ है, वे भेद भी टिप्पणी में स्पष्ट कर दिये हैं [४] सब से बढ़ कर यह, कि मनुस्मृति का जो २ श्लोक वा जो २ विषय, बौधायन, वासिष्ठ

गौतम, आपस्तम्ब याज्ञवल्क्य वा विष्णु स्मृति के साथ मिलता है, वहां उन के भी पते दिये हैं [५] आदि में एक सविस्तर भूमिका में अनेक विषयों पर विचार किया है [६] विषय सूची बड़ा स्पष्ट है। (७) श्लोक सूची भी दिया है। इतने बड़े परिश्रम से ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी बना है, और ग्रन्थ भी बहुत बड़ा हो गया है। मूल्य तौ भी ३।) मात्र है।

(६) निरुक्त–इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

७–योगदर्शन	१।)	१५–दिव्य जीवन	१)
८–वेदान्त दर्शन	४)	१६–आर्य पञ्च महायज्ञ पद्धति	।–)
९–वैशेषिक दर्शन	१॥)	१७–स्वाध्याय यज्ञ	१)
१०–सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ	॥।)	१८–वैदिक स्तुति प्रार्थना	=)
११–नवदर्शन संग्रह	१।)	१९–पारस्कर गृह्यसूत्र	१॥=)
१२–आर्य-दर्शन	१॥	२०–बाल व्याकरण इस पर २००) इनाम मिला है	॥)
१३–न्याय प्रवेशिका	॥=)	२१–सफल जीवन	॥
१४–आर्य जीवन	१॥)	२२–प्रार्थना पुस्तक	–)॥

२३–हिन्दी टीचर–अंग्रेजी से हिन्दी सीखने की अनुपम पुस्तक ॥।)
२४–द्रौपदी का पति केवल अर्जुन था–यह महाभारत के ही प्रमाणों से दिखाया गया है =)

२५–नल दमयन्ती–नल और दमयन्ती के अद्वितीय प्रेम, विवाह विपद् तथा दमयन्ती के धैर्य कष्ट और पातिव्रत्य का वर्णन।)

वेद और महाभारत के उपदेश	–)।	वेद मनु और गीता के उपदेश	–)॥
वेद और रामायण के उपदेश	–)।	वैदिक आदर्श	)॥
		हिन्दी गुरुमुखी	–)

नोट–कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और भी सब प्रकार की पुस्तकें रिआयत से भेजी जाती हैं॥

मिलने का पता—

मैनेजर आर्ष-ग्रन्थावलि लाहौर।